ला.द. ग्रंथमाला : १५६

काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रमाण-चिन्तन

नवजीवन रस्तोगी

प्रधान संपादक
जितेन्द्र बी. शाह

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर
अहमदाबाद

ला.द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर ग्रंथमाला – १५६

काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रमाण–चिन्तन

नवजीवन रस्तोगी

प्रधान संपादक
जितेन्द्र बी. शाह

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर
अहमदाबाद ३८० ००९

L.D.S.156

Kāśmīra Śivādvayavāda Meṁ Pramāṇa-Cintana

by

Navjivan Rastogi

General Editor
Jitendra B. Shah

ISBN : 81-85857-40-7

First Edition : 2013

Copies : 500

Price : Rs. 400.00

Published by
Dr. Jitendra B. Shah
Director
L. D. Institute of Indology
Ahmedabad 380 009 (India)
Phone : (079) 26302463 Fax : 26307326
ldindology@gmail.com

Printed by
Sarvodaya Offset
13, Gajanand Estate,
Nr. Idgah Police Chowky,
Ahmedabad 380016

प्रमाणानि प्रमावेशे स्वबलाक्रमणक्रमात् ।
यस्य वक्त्रावलोकीनि प्रमेये तं संस्तुमः शिवम् ।।[१]

एवमनुत्तररूपात् प्रभृति त्रिकशक्तिपूरितानंदम् ।
अमृतास्यमस्य जगतः प्रमाणभूतं शिवं वन्दे ।।[२]

---

१. (ई. प्र. का., क्रियाधिकार, तृ.आ. का मंगलश्लोक)

२. (ई. प्र. वि. वि., क्रियाधिकार, तृतीय आह्निक का मंगलश्लोक)

प्रकाशकीय

क़ाश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रमाण-चिंतन ग्रंथ प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है । संस्थान के द्वारा प्रतिवर्ष आगमप्रभाकर मुनिश्री पुण्यविजयजी की स्मृति में व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है । मुनिश्री पुण्यविजयजी केवल जैनधर्म एवं दर्शन के ही विद्वान् नहीं थे अपितु भारतीय विद्या के पारगामी विद्वान थे । उन्ही की सद्प्रेरणा से इस संस्थान का निर्माण हुआ । अतः विभिन्न दर्शन एवं विद्या के विद्वानों को व्याख्यानमाला में निमंत्रित क़िया जाता है । इस वर्ष काश्मीर शैवदर्शन के आरुढ़ विद्वान् प्रो. नवजीवन रस्तोगीजी को आमन्त्रित किया गया है । काश्मीर शिवाद्वयवाद पर आधुनिक विद्वानों ने कुछ काम किया है किन्तु प्रमाणवाद पर बहुत ही कम कार्य हुआ है । इसकी पूर्ति प्रस्तुत ग्रंथ से हो रही हैं । हम प्रो. रस्तोगीजी के अत्यन्त आभारी है जिन्होंने अपने अति व्यस्त समय में भी हमारा निमंत्रण स्वीकार करके व्याख्यान हेतु सहमति प्रदान की और प्रस्तुत ग्रंथ भी तैयार करके दिया।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन से शैवदर्शन के जिज्ञासुओं को तो लाभ होगा ही साथ ही साथ भारतीय दर्शन शास्त्र के सभी जिज्ञासुओं को एवं विद्वानों को भी लाभ होगा ऐसी हमारी श्रद्धा है । ग्रंथ प्रकाशन के कार्य में सहयोग प्रदान करने वाले सभी मित्रों का में आभारी हूँ ।

२०१३, अहमदाबाद

जितेन्द्र बी. शाह

आमुख

काश्मीर शिवाद्वयवाद पर आधुनिक मनीषियों, विशेषत: पश्चिम के विद्वानों, के कार्य की दिशा मुख्यत: ऐतिहासिक, आनुष्ठानिक और पाठालोचनात्मक रही है, समस्या–केन्द्रित काम अपेक्षाकृत विरल रहे हैं। प्रस्तुत कृति इस दिशा में कमी की पूर्ति की ओर एक लघु और विनम्र प्रयास है।

प्रमाण–विचार किसी भी दार्शनिक चिन्तन धारा का सैद्धान्तिक कवच है। त्रिक दर्शन इसका अपवाद नहीं है। यद्यपि इस प्रसंग से दो–एक लेख पहले लिखे थे[१], पर यह बात थोड़ी आगे बढ़ी जब राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति ने प्रो. अरिंदम चक्रवर्ती की पहल पर मार्च २७–२८, २००४ में 'प्राचीन भारतीय दर्शन और मनोविज्ञान में षड् ज्ञानेन्द्रियों की भूमिका' पर केन्द्रित राष्ट्रीय परिचर्चा में मुझे काश्मीर शैव दर्शन के अवदान को विद्वानों के समक्ष लाने का अवसर दिया।[२] प्रकरणाकार (monograph) लेखन की सोच को पहला आकार मिला आचार्य वी.एन.झा निर्देशित और भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् की लखनऊ शाखा द्वारा २००५ के शीतकाल में 'दार्शनिक पृच्छा का सामान्य प्रतिदर्श' (Universal Model of Philosophical Enquiry) पर आयोजित कार्यशाला से, जिसमें काश्मीर शैवदर्शन के प्रमाण चिन्तन पर मुझे दो दिन तक चर्चा करने का सुयोग मिला। काम की भीड़ में बात शायद् आयी–गयी हो चुकती यदि मेरे अनन्य स्नेहभाजन डॉ. शीतलाप्रसाद उपाध्याय, तत्कालीन अध्यक्ष सांख्ययोगतन्त्र विभाग, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने २००९ (सितम्बर ७–८) में म.म. गोपीनाथ कविराज व्याख्यानमाला के लिए आमन्त्रित न किया होता। द्विदिवसीय व्याख्यानमाला के लिए मैने यही विषय चुना था। इस क्रम में प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी के आमन्त्रण पर इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला–

१. (i) "Recognition in Pratyabhijñā School : A Study in Epistemology", *ABORI,* Diamond Jubilee Voulme, Poona, 1978, 841-861
   (ii) "Theory of Error According to Abhinavagupta", *Journal of Indian Philosophy,* D.Reidel Publishing Co., 14, 1986, 1-33

२. "Manas and Jñānedriyas in Kashmir Śaivism", in ed., M. L. Narasimha Murthy and R. S. Murthy, *Work Culture And Efficiency with special Reference to Indriyas,* Rastriya Sanskrit Vidyapeeth, Tirupati, 2004, 72-116

केन्द्र वाराणसी के स्थापना दिवस (१५ जुलाई २०११) पर अभिनवगुप्त के आगम-विषयक अवदान पर अपनी प्रतिपत्तियों को काशी के विद्वानों के विचारार्थ रख सका। परन्तु इस पूरे उपक्रम को अंततः पुस्तक के रूप में साकार करने का सारा श्रेय लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर के निदेशक प्रो. जितेन्द्र बी. शाह को जाता है। प्रो. शाह ने जब मुझसे मुनि पुण्यविजय जी स्मारक भाषण-श्रृंखला के लिए वक्तव्यपूर्व मुद्रणार्थ लेखों के लिए आग्रह किया तो मुझे लगा कि क्यों न मैं सारे बिखरे विचारों को एक प्रकरण का मूर्त रूप दूँ। प्रो. शाह के धीरज और प्रेरणा का फल हैं ये मुद्रित पंक्तियाँ ।

काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रमाण-मीमांसीय अध्ययन को लेकर सबसे बड़ी कठिनाई मूल ग्रन्थों में विषय के प्रतिपादन को लेकर है। अन्य दर्शनों की भांति प्रमाण या ज्ञान विषयक न तो कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ मिलता है और न एकत्र सामग्री ही। दर्शन-और तत्त्व-मीमांसा परक शास्त्रीय वाङ्मय में प्रमाण संबंधी विचार विषयानुरोध से यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। अतः उनको संजोकर एक सूत्र में पिरोना एक चुनौती भरी प्रक्रिया रही है। इस प्रक्रिया में जो बात उभर कर आई है, वह है कि त्रिक दर्शन का केन्द्रीय आग्रह ज्ञान के गत्यात्मक सिद्धान्त (dynamic theory of knowledge) को विकसित करने का रहा है। इस दृष्टि से अध्ययन मन को लगातार बांधने वाला भी रहा है।

इस पुस्तक को लेकर मेरा कोई विशेष दावा भी नहीं है। सच पूछा जाए तो इसे मेरे अधपके ज्ञान का प्रतीक़ भी माना जा सकता है, क्योंकि अपने कथ्य में यह पुस्तक विषय के एकदेश को ही छूती है – त्रिक दार्शनिकों द्वारा विवेचित प्रमाण और उनके भेदों को ही प्रस्तुत करती है; अख्याति, स्मृति, अपोहन आदि विषयों को भविष्य के लिए छोड़ देती है। दूसरे इस कृति के सारे मन्तव्यों को अंतरिम (tentative) कहना उचित होगा, क्योंकि जब तक अभिनवगुप्त की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी का पाठशोधित और पाठालोचित संस्करण सामने नहीं आता तब तक हमारे निष्कर्ष संदेह और अस्पष्टता की छाप लिए रहेंगे, यहाँ तक कि मेरे द्वारा स्वयं अपने मन्तव्यों के पुनरीक्षण की संभावना भी बनी रहेगी। चूंकि ऐसे संस्करण की शर्त का पूरा होना निकट भविष्य में संभव नहीं दीखता, तो लगा कि विद्वानों के द्वारा विमर्शन, परीक्षण और शोधन के लिए अब तक उपलब्ध प्रतिपत्तियाँ तो आ ही जानी चाहिए। विषय-प्रतिपादन की शैली निरूपणात्मक रही है और जैसा कि ऊपर कहा गया है, मूल ग्रन्थों के तात्पर्य विशोधन पूर्वक इस निरूपणका आश्रय लिया गया है। प्रस्तुतीकरण के लिए अनिवार्यतया अपेक्षित तुलनात्मक संदर्भों से परहेज नहीं किया गया है, यद्यपि तुलनात्मक समीक्षा की कमी प्रेक्षाशील पाठकों को खटक सकती है। परन्तु उसके लिए जिस गहन पात्रता की अपेक्षा होती है, उसका मुझमें अभाव है।

मैं इस दिशा में किए गए अन्य विद्वानों के पूर्व प्रयत्नों का ऋणी हूँ और इन सबका यथोचित उल्लेख ग्रन्थशरीर में यथावसर हुआ है, विशेषतः प्रो. रफेल टोरेला का जिन्होंने 'प्रसिद्धि' और 'योगिप्रत्यक्ष' पर अपने लेखों की टंकित प्रतियाँ मुझे उपलब्ध कराईं और साथ ही अपने मित्र आचार्य कमलेश दत्त त्रिपाठी और शिष्यवत् स्नेह–भाजन नीहार पुरोहित का जिन्होंने म. म.रामेश्वर झा जी के सन्मार्ग के आगम–विशेषाङ्क में प्रकाशित लेख 'आगम–विमर्श' की प्रति उपलब्ध कराई। प्रो. प्रशान्त दवे भी नेपथ्य में इस लेखन के निमित्त बने हैं, अतः उनका आभार पूरे मन से स्वीकार करता हूँ। धर्मकीर्ति के प्रमाण–विनिश्चय की प्रति के उपहार के लिए लखनऊ प्रवास में मेरे शिष्य होरोशिमा विश्वविद्यालय, जापान के डॉ. योहेई कॉवाजिरी का धन्यवादपूर्वक स्मरण करना उचित होगा। शब्दानुक्रमणिका निर्माण में अपनी शिष्या डॉ. मीरा रस्तोगी के साहाय्य के लिए भी हार्दिक आभार करता हूँ । डॉ. मीरा रस्तोगी लखनऊ विश्वविद्यालय में संस्कृत की प्रवक्ता हैं । मेरे सहायक श्री भानु प्रताप चतुर्वेदी ने इस पंक्तियों को टाइप करने में मन से श्रम किया है। वे भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। अंत में प्रो. अरिंदम चक्रवर्ती, जो समग्र भारतीय दर्शन विशेषतः न्याय और त्रिक दर्शन के समकालीन गंभीर चिंतकों की पंक्ति में अग्रगण्य हैं और जिनसे मेरी भेंट अनेक वर्षों बाद भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, लखनऊ शाखा द्वारा आयोजित त्रिकदर्शन परक कार्यशाला (२८ मई – ८ जून, २०१२) में हुई, की अनेक अंतर्दृष्टियों से मेरी सोच का परिष्कार हुआ है। एतदर्थ उनका हार्दिक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना चाहूँगा। जहाँ–जहाँ भी उनके विचारों का उल्लेखन हुआ है, वहाँ–वहाँ उनका संबंध इस कार्यशाला (२–४ जून, २०१२) में व्यक्त उनके विचारों से है।

अंत में अपने इस सारे श्रम का बहुलांश में श्रेय अपनी पत्नी डॉ. सुधा रस्तोगी को देना चाहूँगा जिन्होंने अवसाद के क्षणों में भी मेरा मनोबल रखा।

इस पुस्तक में आपाततः एक विसंगति लग सकती है। वह यह कि 'परिशिष्ट' अंग्रेजी भाषा में है। परिशिष्ट का मूल प्रतिपाद्य ज्ञान–प्रक्रिया में मन और ज्ञानेन्द्रियों की विशिष्ट भूमिका है। मेरी इच्छा थी कि इस विषय पर भी एक स्वतन्त्र अध्याय में चर्चा होती। पर चूंकि पहले ही इस विषय पर मैं कार्य कर चुका था, अतः पिष्टपेषण से बचने के लिए मैने तिरुपति में हुई राष्ट्रीय परिचर्चा (जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है) के लेख का बहुलांश आवश्यक संशोधन और परिष्कार के साथ परिशिष्ट के रूप में संलग्न करना अधिक उचित समझा। इसके लिए मैं राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति के प्रति भी अंपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रो. शाह के संयम, धीरज और प्रेरणा के लिए मैं एक बार फिर आभार प्रकट करता हूँ ।

लेखन–प्रारम्भ के बाद ही अनुक्षण अपनी सीमाओं का बोध गहराता गया है। फिर अपने को समझाता रहा हूँ कि किसी–न–किसी को कभी–न–कभी तो प्रारम्भ करना ही होगा। मेरी बड़ी इच्छा थी कि इन पंक्तियों को प्रकाशन पूर्व आत्मतोष और सुधार के निमित्त गोस्वामी श्री श्याम मनोहर, वी.एन.झा, अरिंदम चक्रवर्ती, गोदाबरीश मिश्र और अम्बिका दत्त शर्मा जैसे प्रामाणिक विद्वानों को दिखाता, परन्तु प्रो. शाह की दी हुई समय सीमा को लाँघना उनके प्रति अन्याय होता। अत: अपनी सारी कमियों सहित इन पंक्तियों को एक साथ विद्वानों के समक्ष लाना ही एकमात्र उपाय था। इन शब्दों के साथ यह कृति मनीषी विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत है, इस अनुरोध के साथ कि वे इस निबन्ध को एक प्रारम्भिक चेष्टा के रूप में देखें और निष्कलुष औदार्य के साथ–साथ अपनी तर्कावदात प्रतिक्रियाओं द्वारा मेरा मार्ग प्रशस्त करें।

लखनऊ

माघ पूर्णिमा, २०१३

नवजीवन रस्तोगी

विषयानुक्रम

द्वितीय खंड : प्रमाण–भेद

ग्रन्थ-प्रतीक

अभि.	अभिनवगुप्त : ऍन हिस्टॉरिकल ऍण्ड फिलॉसिफिकल स्टडी Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study
अभि.तंत्राग.	अभिनवगुप्त का तन्त्रागमीय दर्शन
अभिनवा.	अभिनवा : पर्सपेक्टिव्स ऑन् अभिनवगुप्त Abhinavā : Perspectives on Abhinavagupta
अभि.भा.	अभिनवभारती
आगम-विमर्श:	आगम-विमर्श: (आचार्य रामेश्वर झा का लेख)
In.Cog.	इन्हेरिटेड कॉग्निशन्स : प्रसिद्धि, आगम, प्रतिभा, शब्दन (भर्तृहरि, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त, कुमारिल ऍण्ड धर्मकीर्ति इन डॉयलॉग) Inherited Cognitions : prasiddhi, āgama, pratibhā, śabdana (Bhartṛhari, Utpaladeva, Abhinavagupta, Kumārila and Dharmakīrti in dialogue)
ई.प्र.का.	ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा (विमर्शिनी सहित) (का.सं.ग्र.)
ई.प्र.वि.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी सहित)
ई.प्र.वि.(भा.)	भास्करी
ई.प्र.वि.वि.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति(ति)विमर्शिनी
ई.प्र.वृ.	द ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ऑफ् उत्पलदेव विद द ऑथर्'स वृत्ति The Īśvarapratyabhijñākārikā of Utpaladeva with the Author's Vṛtti
ई.प्र.वृत्ति.	उत्पलदेव कृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति
का.ग्र./का.सं.ग्र.	काश्मीर संस्कृत-ग्रन्थावलि
का.शि.मू.अ.	काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ

कोश/कोष	काश्मीरशैवदर्शनवृहत्कोष:
क्र.ता.	क्रम तान्त्रिसिज़्म ऑफ् काश्मीर Krama Tantricism of Kashmir
गी.	गीता/श्रीमद्भगवद्गीता
गीतार्थसंग्रह	गीतार्थसंग्रह (नामक अभिनवगुप्त कृत टीका)
चि.अ.शा.	चित्तानुबोधशास्त्र
द.मू.स्तो.	दक्षिणामूर्तिस्तोत्र
ना.शा.	नाट्यशास्त्र
न्या.बि.	न्यायबिन्दु
न्या.बि.टी	न्यायबिन्दुटीका
न्या.वा.	न्यायवार्तिक
न्या.वा.ता.	न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका
न्या.सू.	न्यायसूत्र
त.चि.	तत्त्वचिन्तामणि
तं.	तंत्रालोक
तं.वि./तं.आ.वि.	तंत्रालोकविवेक
पा.यो.द.	पांतजल योग दर्शन
प्र.का.	प्रमाण–कारिका
प्र.प्र.मी.	प्रत्यभिज्ञा प्रमाण–मीमांसा
प्रमाणमीमांसा.	प्रमाणमीमांसा : दार्शनिक चिन्तन का आरंभ बिन्दु
प्र.वा.	प्रमाणवार्तिक
प्र.वा.स्वो.टी.	प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञ टीका

प्र.वि.	प्रमाण–विनिश्चय
बौ.द.वि.	वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन
बौ.प्र.द.	बौद्ध प्रमाण दर्शन
भा.	भास्करी
म.प्र.(त्रि)	महानयप्रकाश (त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित)
म.मं.प.	महार्थमंजरीपरिमल
म.मा.र.	मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य
मा.मे.र.	मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक
यो.सू.	योगसूत्र
यो.सू.भा./व्या.भा.	योगसूत्रभाष्य
वाक्य.	वाक्यपदीय
वाक्य.पद्धति	वाक्यपदीय पर वृषभदेव की पद्धति
वाक्य.वृत्ति	वाक्यपदीय पर भर्तृहरि की स्वोपज्ञ वृत्ति
वि.भै.	विज्ञानभैरव
शि.दृ.	शिवदृष्टि
सं.सि.	संबंधसिद्धि
स्प.का.	स्पन्दकारिका

प्रथम खंड

प्रमाण

अध्याय १

आधार–पीठिका

उपोद्घात

प्रमेय के ज्ञान के लिए प्रमाण की अनिवार्यता की चेतना सबसे पहले हमें मैत्री उपनिषद् में मिलती है – **'न प्रमाणेन विना प्रमेयस्योपलब्धिः'**[१]। यह चेतना वस्तुतः किसी भी सुव्यवस्थित चिन्तन का मूल है। स्वाभाविक है कि इसकी अनुगूंज हमें गौतम के न्यायसूत्र[२] और ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका[३] से लेकर गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि[४] तक अविकल सुनाई देती है। मध्यकालीन काश्मीर की घाटी में पनपे काश्मीर शिवाद्वयवाद, जिसकी पारंपरिक संज्ञा है त्रिक या प्रत्यभिज्ञादर्शन, में भी यह चेतना इतनी ही प्रखर है। वस्तुतः काश्मीर की सारी शैवी अद्वैत परम्पराओं में प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय का विकास मुख्यतः प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमीमांसा के रूप में हुआ है। तन्त्रालोक के यशस्वी टीकाकार जयरथ, सोमानन्द से लेकर अभिनवगुप्त पर्यन्त इस पूरी परम्परा का स्मरण तर्क के कर्ता और व्याख्याता के रूप में[५] और महानयप्रकाश के रचयिता 'युक्तितत्त्वविचक्षण'[६] कहकर करते हैं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका के अंत में उत्पल जिस 'नवीन' मार्ग को 'प्रकटित' करते हैं **(इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो)**[७] वहाँ 'प्रकटित' का अर्थ अपनी वृत्ति में लेते हैं – **'युक्तिनिबन्धनेन हृदयङ्गमीकृतः'**। विमर्शिनी में अभिनव इस प्रकटित के अर्थ को और भी स्पष्ट करते हैं – **'प्रकटतां परवादकलङ्कशङ्कापसारणेन नीतः।'**[८]

१. प्र.का., पृ. ५१ पर उद्धृत

२. प्रमाण–प्रमेय [.....] निग्रहस्थानानाम् तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमः। – न्या.सू. १/१/१

३. प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि। – सां.का.

४. प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिरिति प्रमाणतत्त्वमत्र प्रविविच्यते। – तं.चि.

५. परमोपादेयस्वप्रकाशस्वात्मेश्वरप्रत्यभिज्ञापनपरस्य तर्कस्य कर्तारो व्याख्यातारश्च परं नमस्कर्तव्या एव इति विशेषप्रयोजकीकारेण [.....]। –तं.वि.,२, पृ. ३०

६. [.....] युक्तितत्त्वविचक्षणैः। – म.प्र.(त्रि) ३/६४

७. ई.प्र.का. ४/१/१६

८. ई.प्र.वि.,२, पृ. ३१०

उत्पल कृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति में आए विवृति पद का लक्षण ही अभिनव विपक्षियों के आरोपों के निर्मूलनपूर्वक संवृत शास्त्रार्थ के उद्घाटक की शब्दावली में करते हैं।[९] इन सारे मन्तव्यों से प्रतीत होता है कि प्रत्यभिज्ञा के प्रमाणात्मक चिन्तन की दो धुरियां रही हैं- एक तो, शास्त्र के उस अंतर्निहित अर्थ का हृदयङ्गमन कराना जिस के आधार पर वह नवीनत्व की सदर्प घोषणा करता है। और दूसरे, एक सक्षम युक्तिपीठिका का निर्माण करना जिससे चुनौती देने वाली जिन विचारधाराओं की पृष्ठभूमि में प्रत्यभिज्ञा संप्रदाय का उन्मेष होता है उनको उचित प्रत्युत्तर दिया जा सके। दूसरे शब्दों में यहाँ पर प्रतिज्ञात नवता केवल तत्त्व-चिन्तन की मौलिकता की ही द्योतक नहीं है, अपितु उसमें विनियुक्त चिन्तन-पद्धति की अपूर्वता की भी उद्घोषक है। साथ ही, तत्त्व-मीमांसा और प्रमाण-मीमांसा के आत्यन्तिक विभेदन को नकारती हुई उनकी प्रयोजनात्मक प्रातिस्विकता को अव्याहत बनाए रखती है। प्रमाण-विचार के व्यापकतर क्षेत्र में शैवों का पूरा उद्यम इसे गत्यात्मक ज्ञान के सिद्धान्त (theory of dynamic knowledge) या ज्ञान के गतिशील सिद्धान्त (dynamic theory of knowledge) के रूप में विकसित करते हुए नए प्रस्थान के रूप में पहचान देने का है। इसी प्रक्रिया में उत्पल की परम्परा जिस दूसरे बिन्दु पर हमारा ध्यान आकर्षित करती है, वह है इस प्रमाण-मीमांसा का भारतीय दार्शनिक चिन्तन के ऐतिहासिक सन्दर्भ विशेष में आकार ग्रहण। यों तो उत्पल पर अपने से पूर्व समग्र प्रमाण चिन्तन का प्रभाव पड़ा है, पर इस संदर्भविशेष को रचने वाले प्रधान घटक हैं - भर्तृहरि, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, शैव सिद्धान्त, सौत्रान्तिक और विज्ञानवाद। चित् और उसकी सर्जनशीलता का आंतरिक आधायक सूत्र आता है भर्तृहरि के व्याकरण दर्शन से, बोध-प्रक्रिया और तत्त्वों का प्रक्रियागत तत्त्वमीमांसीय प्रारूप सांख्य से, पदार्थ-विचार और आनुमानिक प्रक्रिया न्याय-वैशेषिक से,[१०] आगमीय प्रमातृ-विचार शैवसिद्धान्त से[११] और प्रवाहधर्मी सर्जनात्मक प्रमाण-विचार का प्रारूप विज्ञानवाद[१२] से प्राप्त होता है। विज्ञानवाद

९. तीर्थान्तरपरिशीलनोत्थितमिथ्यादृष्टयस्तु विवृतिरूपतया टीकया अपसारितथाविधविमोहाः [.....]। ई.प्र.वि.वि.,१, पृ. १६; शास्त्रार्थस्य संवृतस्य आच्छादितस्य इव शङ्क्यमानपरमतपांसुराशिप्रायावरणा-पसारणेन अपगतावरणत्वं विवरणं विवृतिः, तत्प्रतिपादकत्वात् ग्रन्थोऽपि। - तदेव, पृ. १७

१०. नैयायिकक्रमस्यैव मायापदे पारमार्थिकत्वम् इति ग्रन्थकाराभिप्रायः 'क्रियासंबंधसामान्य०' इत्यादिषु उद्देशेषु प्रकटीभविष्यति। - ई.प्र.वि.,१,पृ. ४३

११. अस्मिंस्तु सति आगमेषु द्वैतव्याख्यानमपास्य [.....] सिध्यति एव जनो [.....] - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ४०५ (द्वैत शैव [सिद्धान्तशैवी] यदि आगमों की द्वैतपरक व्याख्या से बच सके तो शिवाद्वैत और शैव सिद्धान्त की विभाजक रेखा मिट जाएगी।)

१२. अस्मिंस्तु सति [.....] विज्ञानाद्वयमात्मेश्वराभिप्रायेण निरूप्य सिध्यति एव जनो [.....]। - तदेव (यदि आत्मा और ईश्वर की सत्ता विज्ञानवादी स्वीकार कर लें तो दोनों की दार्शनिक प्रास्थिति में मौलिक अंतर समाप्त हो जाता है।)

विरोधी शिविर से प्रतिमल्ल है, सांख्य–योग/न्याय–वैशेषिक मित्र शिविर के प्रतिमल्ल हैं, शैवसिद्धान्त सजातीय आगम परम्परा में प्रसूत विरोधी है और भर्तृहरि आगम स्थानीय आदरास्पद सहयोगी प्रतिमल्ल हैं। हम यथावसर इन पर विचार करेंगे।

तत्त्व–मीमांसीय पृष्ठभूमि

उचित होगा कि यहाँ पर प्रत्यभिज्ञा प्रमाण–मीमांसा की तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि का संक्षिप्त आकलन कर लिया जाए। प्रत्यभिज्ञादर्शन घोर अद्वैतवादी विचारधारा है जिसे स्वतन्त्रचिदद्वैत, स्वतन्त्राद्वैत, पूर्णाद्वैत या महाद्वैत की संज्ञाओं से पुकारा जाता है। के. सी. भट्टाचार्य, टी.आर.वी. मूर्ति और अशोक चटर्जी के प्रामाण्य से अम्बिकादत्त शर्मा ने भारतीय अद्वैतवादी दर्शनों के तीन प्रारूप स्थिर किए हैं – ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और भावात्मक।[१३] चेतना की विषयात्मक अभिवृत्ति का दूसरा मौलिक प्रकार उसका इच्छात्मक प्रकृति का होना है। विषय चेतना से 'पर' नहीं अपितु 'स्वायत्त आत्म–चेतना के'[१४] स्वनिर्मित विधानों से अपना ही रूपायन है। विज्ञानवाद, शब्दाद्वैतवाद और स्वतन्त्राद्वैतवाद इसके तीन मुख्य अवान्तर प्रारूप हैं। विज्ञानवाद और शब्दाद्वैतवाद/स्वतन्त्राद्वैतवाद में मौलिक अन्तर आत्मा की मान्यता को लेकर है। मूर्ति के अनुसार[१५] आत्मवादी ब्राह्मण धारा में सत्ता का प्रतिमान कूटस्थता है जो सत्ता की स्थिरता में लक्षित होता है। अनात्मवादी बौद्धों में सत्ता का प्रतिमान क्षणिकत्व है और इसलिए व्यवहार में बरता जाने वाला सत् अस्थिर, सन्तान या प्रवाहधर्मी है। इस अर्थ में वे सन्तानवादी हैं। परन्तु स्वतन्त्राद्वैत और शब्दाद्वैत आत्मवाद और स्थैर्य को स्वीकार करके भी सत्ता का नया प्रतिमान ढालते हैं। यहाँ सत्ता व्यापार है, निरन्तर क्रियाशीलता है, जो अनवरत आत्मसर्जना में प्रकट होती है। कूटस्थता भी भवनशीलता का ही एक प्रकार है। फलतः नित्यता आत्म–भवन के अविच्छिन्न प्रवाह में पर्यवसित होती है।

जैसा कि स्वाभाविक है, स्वतन्त्राद्वैत अपनी प्रस्थापनाओं के लिए नई शब्दावली को गढ़ता है। परम सत्ता यहाँ महेश्वर या परमशिव कही गयी है। प्रकाशविमर्शमय इसका

---

१३. द्रष्टव्य "भूमिका : भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों का प्रस्थानमूलक वैशिष्ट्य", अम्बिकादत्त शर्मा, अभिनवगुप्त का तन्त्रागमीय दर्शन, नवजीवन रस्तोगी, में पृ. xiv-xix। पादटिप्पणी के रूप में यहां पर ध्यान रखना उचित होगा कि शिवाद्वयवाद में 'अद्वय' शब्द के निहितार्थ में ज्ञान, भावना और इच्छा की अद्वयता भी अंतर्भूत है और सारे महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों में तीनों का संरचनात्मक परस्परानुप्रवेश लगातार उपलब्ध होता है।

१४. तदेव

१५. द्रष्टव्य, बौ.प्र.द., पा.टि.१, पृ. २५

पारिभाषिक स्वरूप है। इसमें प्रकाश सत्ता का वाचक है और इस बात का भी कि यह सत्ता चेतन है। विमर्श इस चेतना की भी चेतना है। विमर्श प्रकाश का स्वभाव है अर्थात् चित् स्वभावतः आत्मचेतन है। इसलिए माहेश्वर्य, परम कर्तृता और चरम प्रमातृता अपनी मूलगामी प्रकृति में अहंविमर्शन रूप होने के नाते परस्पर पर्याय हैं। चूंकि प्रकाश विमर्श के द्वारा परिभाषित और अभिव्यक्त होता है, इसलिए विमर्श को वाक् भी कहा गया है। यही वाक् प्रकाश की आत्मविश्रांति है और इसका सहज आकार है अहंविमर्श। जगत् की सृष्टि का अर्थ है विमर्शांश के द्वारा प्रकाशांश को कहा जाना – प्रकाशांश का अभिलाप। यह 'कहना' ही 'करना' या 'सर्जना' है। इसलिए सत्ता कर्तृता या कर्ता का सहज स्वातन्त्र्य है और सारी सर्जना उस सत्ता का कर्म है। यह सर्जन प्रक्रिया दोहरी है। प्रकाश का विच्छेदन या विस्तारण विभिन्न अर्थ–प्रकारों में और विमर्श का विस्तारण अनेक परामर्श–प्रकारों में होता है। ये सारे विशेष अभ्युपगमरूपा इच्छा या विमर्श में सामान्यरूप से अंतर्गर्भित हैं। वाक् या विमर्श ही विशेषरूपता की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में करण है। कहना होगा कि कर्तृता का क्रियोन्मुख रूप करण है। यह करणता दो रूपों में परिघटित होती है – संवेदन और शब्दन। अहंविमर्श रूप प्रमाता ही प्रमाण कहलाता है, जब वह वेद्य (अर्थ) से उपरंजित होता है; विषय के प्रति यह करणता उसके संवेदनांश (प्रकाशांश) के द्वारा घटित होती है। यही अहंविमर्श रूप प्रमाता शब्दन कहलाता है, जब वह वाच्य (अर्थ) से उपरंजित होता है; अर्थ के प्रति उसकी यह करणता विमर्शाश के द्वारा घटित होती है। इसीलिए सत्ता से फूटने वाले हर स्फुरण की संरचना त्रि–आयामी होती है सद्रूप, संवेदनरूप और शब्दनरूप।[१६]

आत्मचेतन सत्ता पूर्ण और स्वायत्त है, फलतः वह अपने ही स्वातन्त्र्य से आत्म–निषेध करने में समर्थ है। इसलिए सर्जना का अर्थ है चेतना द्वारा आत्मतिरोधानपूर्वक अंतःस्थ का ही बाह्यतया भासन। 'तया' कहने का प्रयोजन है कि यहाँ बाह्यता औपचारिक है –अपना अपने से विच्छिन्नतया बाह्यता के अहसासपूर्वक भासन, अहं का इदं रूप से प्रथन– ही सृष्टि है। 'परता' और 'अन्यता' स्वता–तिरोधान से उदित आत्म–प्रकारताएँ हैं। इसलिए अनुभवजगत् अपनी संरचना में पारिभाषिक तौर पर आभास कहा गया है। यही उन्मेष है। वस्तु, वेद्य, अनुभवजगत् की दृष्टि से इसे आभासवाद और चरम सत्ता की दृष्टि

---

१६. अहमित्यवभासनोचितं प्रमातृतत्त्वं [.....] प्रमाणमिति च वेद्योपरक्तमिति कृत्वा करणतया व्यपदिश्यते संवेदनभागेन, तथा वाच्योपरक्तमित्ति कृत्वा विमर्शांशेन अभिधानं शब्दनमिति करणतया व्यपदिश्यते। – ई.प्र.वि.वि.,२, २५२–५३ । इस संरचना को इस अर्थ में द्वि–आयामी भी कहा जा सकता है कि संवेदन और शब्दन में 'सत्ता' उनकी पूर्वाशंसा के रूप में हमेशा अंतर्गर्भित रहती है।

से इसे स्वातन्त्र्यवाद और कारणता-प्रक्रिया की दृष्टि से कर्तृकर्मभाव कहा जाता है। इस बहिर्भासित विश्व की अपने मौलिक आंतरिक स्वरूप में प्रत्यावृत्ति, इदं की अहं में विश्रान्ति, ही ज्ञान है। अस्तित्व के स्तर पर होने वाला आत्म-तिरोधान जिसकी चर्चा ऊपर कर चुके हैं, ज्ञान के स्तर पर आत्म-विस्मृति है। आत्म-विस्मृतिजन्य विच्छेद या बाह्यताभासन का आत्मानुसंधान के द्वारा अपसारण कर अपने मौलिक स्वरूप की उपलब्धि ज्ञान है। सृष्टिवाची शब्दावली में इसे निमेष और ज्ञान के क्षेत्र में प्रत्यभिज्ञान कहा गया है। ज्ञान-प्रक्रिया की दृष्टि से इसे ज्ञातृ-ज्ञान या प्रमातृ-प्रमाण भाव कह सकते है। यहां प्रमाण या ज्ञान का अर्थ होगा ज्ञाता/प्रमाता का ज्ञान/प्रमाणन रूप कर्म।

ऊपर के विवेचन से जो बात साफ उभर कर आती है वह है कि तत्त्वमीमांसा और परमार्थमीमांसा के बीच में आत्यन्तिक दरार नहीं है, फिर भी वे एक हैं यह कहना ठीक न होगा। ज्ञान के तात्त्विक और प्रमाणमीमांसक रूप में गहरा अंत:संबंध है। शैव दर्शन की आधारभूत प्रतिज्ञा है कि महेश्वर, अर्थात् चरम सत्ता, कर्ता और ज्ञाता है – कर्तृता और ज्ञातृता, सीधे शब्दों में क्रिया और ज्ञान, उसकी शक्तियाँ हैं। मैं अर्थात् आनुभविक प्रमाता, पारिभाषिक शब्दावली में 'माया-प्रमाता' पद से वाच्य अनुभविता अपनी आत्मा, उस महेश्वर से अभिन्न हूँ।

कर्तृता और ज्ञातृता से रात-दिन संपर्क बना रहने पर भी बोध पर पड़े आवरण के कारण इस एकता-बोध या माहेश्वर्य की चेतना विस्मृत हो जाती है। प्रत्यभिज्ञा आचार्य ज्ञान-मीमांसा का उपयोग आनुभविक प्रमाता की ज्ञान-क्रिया शक्तियों के पुनराविष्कार से माहेश्वर्य-बोध की फिर से पहचान, प्रत्यभिज्ञान, करा देने के लिए करते हैं। उनका लक्ष्य केवल पारमार्थिक स्तर पर ही नहीं, लौकिक और आनुभविक स्तर पर भी माहेश्वर्य की इस चेतना का पुनरुद्बोधन करना है। माहेश्वर्य के घटक कर्तृता और ज्ञातृता के ठीक समानुपाती दो प्रागनुभविक (apriori) अज्ञानों की चर्चा शिवाद्वयवाद में की गयी है। असीम बोध-स्वातन्त्र्य या कर्तृता का संकोच पौरुष अथवा आणव अज्ञान कहलाता है जिससे हम समष्टि से व्यष्टीभूत इकाई बन जाते हैं। इसका अपसारण पौरुष ज्ञान अर्थात् निर्वाण दीक्षा, जो क्रिया शक्ति का ही एक प्रकार है, से होती है। इसका संबंध तान्त्रिक आचार और साधना से है। इसी प्रकार प्रागनुभविक स्वातन्त्र्य-बोध अर्थात् ज्ञातृता के परिसीमन, जिसकी परिणति चरम प्रमातृता के अनिश्चय या विपरीत निश्चय में होती है, की निवृत्ति दृढनिश्चयरूप बौद्ध ज्ञान से होती है। बौद्ध ज्ञान का स्वरूप है अशुद्ध (द्वैत) विकल्प का शुद्ध में, शुद्ध का निर्विकल्प में संस्कार द्वारा पर्यवसान। शुद्ध निश्चय रूप अविकल्पक बोध या शुद्ध विकल्प ही प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमीमांसा इसके पोषण और संवर्धन में सहायक होती है।

वस्तुतः शैवों के मत में प्रत्यभिज्ञा ज्ञान की विधा न होकर ज्ञान का सामान्यीकृत प्रकार (generalised mode of cognition) है। यही कारण है कि इसकी गणना प्रमाणों में नहीं की गयी है अपितु इसे हर प्रमाण का प्राणदायी मूल माना गया है।[१७] प्रत्यभिज्ञा की ऐसी अवधारणा ज्ञानविषयक बीजभूत हमारी चिन्तन–विधा को आमूल परिवर्तित कर देती है। कारण कि हमारी चेतना का आन्तरिक संश्लेषणात्मक व्यापार, जिसे हम विमर्श या प्रत्यवमर्श का नाम देते हैं, प्रकृतितः अनुसंधानात्मक है – प्रकाश का विमर्श द्वारा अनुसंधान, अर्थ का शब्द द्वारा अनुसंधान। चिन्तन की ज्ञानात्मक विधा चयनात्मक, विवेकमूल या निषेधात्मक होती है। इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञानात्मक विधा घटित की पुनरावृत्ति करती हुई, स्मृति के प्रबोध से दो अनुभवों की एकविषयता का आधान करती हुई अनुवृत्तिधर्मा, अनुसंधानात्मिका, अभ्युपगमात्मक होती है। तात्त्विक पूर्णता के प्रत्यय का यह ज्ञानीय पुनराख्यान है। विकल्प से विकल्पातीत में जाने का यह चेतना का स्वोपज्ञ उपक्रम है। काश्मीरी शैवों को इस बात की उत्कट चेतना है कि ज्ञानों की विकल्परूपता का अतिक्रमण अनुसंधान द्वारा ही किया जा सकता है, इसलिए शुद्ध प्रत्यभिज्ञान में विकल्परूपता के स्पर्श की संभावना का निषेध किया गया है।[१८]

हमारे सोचने का ढंग अपने मौलिक स्वभाव में विश्लेषणात्मक या अध्यवसायात्मक न होकर अनुसंधानात्मक है, यह विचार ज्ञान की मौलिक संरचना से उपजता है जिसे शैव उभयमेलन प्रक्रिया का पारिभाषिक नाम देते हैं। इसका परिणाम ज्ञान की निश्चितता के स्थान पर ज्ञान की निश्चिततरता में होता है। दो अनुभवों का मेलन वस्तुतः अज्ञात का ज्ञापन नहीं, ज्ञात का विशेषतः निरूपण है, स्फुटता से स्फुटतरता की ओर जाने की प्रक्रिया है। स्फुटतरता का अभिप्राय है कि ज्ञान में केवल निश्चय ही नहीं होता, हृदयङ्गमता से जन्य तृप्तिकारी आश्वासन भी होता है – 'हाँ मैं जान गया हूँ।' बुद्धि के निजन्धर व्यापार में हृदय का यह परिघटनात्मक योग समग्र ज्ञान में अंतर्निहित सौन्दर्यप्रवणता को उन्मीलित करता है।[१९]

---

१७. प्रत्यक्षानुमानागमान्यतमप्रमाणमूलां प्रत्यभिज्ञाम् [.....] – ई.प्र.वि., २, पृ. १९५

१८. द्विविधोऽपि (शुद्धो मायीयश्च) चायम् अहंप्रत्ययः द्विधा अनुभवमात्ररूपश्चानुसंधानात्मा च। तत्र शुद्धे विकल्परूपत्वम् अप्रतिष्ठमेव। – ई.प्र.वि.,२, पृ. ३२३–२४

१९. किसी अन्य प्रसंग में अभिनव विकल्प के भोगावेशी रूप को प्रमाणमयता से जोड़ते हैं। – तं. ११/५८–६१, द्र. अभि.तंत्राग., पृ. २९२। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका की तीसरी कारिका की वृत्ति में उत्पल 'दृष्ट' का अर्थ स्वसंवेदनसिद्ध और 'उपलक्षित' का हृदयङ्गमत्व से लेते हैं जो दृढ़निश्चय कराता है। इस दृढ़निश्चय को उत्पल प्रत्यभिज्ञान से समीकृत करते हैं। ई.प्र.का. १/६/१ की वृत्ति में वह निश्चय का लक्षण प्रतियोगिनिषेधपूर्वक निश्चय की भाषा में करते हैं। (प्रतियोगिनिषेधरूपत्वादेव

प्रत्यभिज्ञा तत्त्व–मीमांसा के कुछ आवर्ती प्रतिमानक (paradigms) ज्ञान–प्रक्रिया के प्रत्येक चरण में अनूदित होते हैं । प्रकाश–विमर्श, अर्थ–शब्द, शक्तिमान्–शक्ति, अंत:–बाह्य की अन्योन्यान्वयता प्रत्येक अवधारणा के स्वरूप की घटक है। ये युग्म तात्त्विक अद्वैत की घटक द्वन्द्वात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनमें से उत्तरांश पूर्वांश का अनुसंधान/आविष्कार करते हुए दोनों के एकीभाव में विश्रान्त होता है। प्रमाण, प्रमा, प्रमेय, प्रत्यक्ष, अनुमान, व्याप्ति सर्वत्र हम इसी का प्रसार देखेंगे। इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के मूल में अवस्थित दो घटकों के मध्य आभासमान और अनुभूयमान विरोध के परिहार के लिए प्रत्यभिज्ञा एक अन्य आवर्ती प्रतिमानक की खोज करती है, वह है क्रिया की एकानेकरूपता[२०] या भेदाभेदरूपता का। वस्तुत: अद्वैतदर्शन की मूलभूत कठिनाई है चरम सत्ता की एकता को अक्षुण्ण रखते हुए अनेकता की व्याख्या और परिणामजन्य एक और अनेक के विरोध का परिहार। ब्रह्मवादी/आत्मवादी अद्वैत परम्पराओं में विरुद्धधर्माध्यास या विरुद्धधर्माश्रयता के परिकल्प का सहारा इस कठिनाई से निपटने के लिए लिया जाता है। ठीक इसी की तुलना में प्रत्यभिज्ञा दर्शन परमार्थमीमांसा में सर्वार्थसिद्धिसमाश्रयता और अनुभव–जगत् की व्याख्या में एकानेकाश्रयता या भेदाभेदरूपता का प्रतिपादन करता है। जैसे दर्पण में भासित अनेक प्रतिबिम्ब दर्पण की एकता को चोट नहीं पहुँचाते; वैसे ही चिद्दर्पण में अपने ही बिम्बीभूत स्वातन्त्र्य से भासित प्रतिबिम्बस्थानीय वैषयिक अनेकताएँ, विरोधी स्वभावभेद को स्वीकार करती हुई चित् की एकता को अप्रतिहत रखती हैं।[२१] विरोध से उनकी विविधता और एकाश्रयता से उनकी एकता उपपन्न होती है। कारण–मीमांसा और ज्ञान–मीमांसा दोनों इसी भेदाभेदरूपता से निष्पन्न और व्याख्यात होती हैं। इसलिए हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए जब हम देखते हैं कि शैव आचार्य प्रमाण को संबंध की शब्दावली में और संबंध को भेदाभेद की शब्दावली में परिघटित करते हैं।[२२] विरुद्धधर्माध्यास से उत्पन्न भेदाभेद के सांवृतत्व की बौद्ध मान्यता के विरोध में शैव दार्शनिक भेदाभेद को प्रमाता के एकत्व और अनेकत्व के

निश्चयशब्दवाच्यता। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. २७४) इससे यह स्पष्ट निर्गत होता है कि दृढ़निश्चय वह निश्चय है जहाँ प्रतियोगी नहीं होगा। फलत: उसके निषेध का अवकाश भी न होगा, अन्यथा वह प्रत्यभिज्ञा को परिभाषित न कर सकेगा। कहना न होगा कि यहाँ दो निश्चय की दो कोटियाँ हैं। एक है, विकल्परूप निश्चय जो कि प्रतियोगिनिषेधपूर्वक निश्चय है और दूसरा, दृढ़निश्चय जो अनुसंधानरूप या निर्विकल्प है, जिसका संकेत ठीक पिछली पा.टि. में किया गया है।

२०. विस्तार के लिए देखिए, अभि.तंत्राग., पृ. २३५–२३८

२१. प्रत्यभिज्ञानबलात् एकोऽपि असौ पदार्थात्मा स्वभावभेदान् विरुद्धान् यावदङ्गीकुरुते। – ई.प्र.वि.,२, पृ. ९

२२. क्रियासंबंधसामान्यद्रव्यदिक्कालबुद्धय.। सत्या: स्थैर्योपयोगाभ्यामेकानेकाश्रया: मता:। – ई.प्र.का. २/२/१

संयोजन रूप व्यापार से फलित मानते हैं।[२३] संबंध एक प्रकार से बौद्ध पदार्थ है, उत्पल उसे 'धी' या 'बुद्धि' कहते हैं। पांडेय इसे ज्ञान की आश्रित कोटि (dependent category of knowledge) कहते हैं।[२४] आभास–समूहों के व्यवस्थापक पदार्थ की संज्ञा 'बुद्धि' है।[२५] संबंध भेद–अभेद की ऊपर–नीचे जाती दो कोटियों के झूले में चढ़ने जैसा है, जहाँ एक ही चैत्र नामक वस्तु अनेक रूपों में अपनी एकता को छोड़े बिना भासती है ("झूलने वाला चैत्र है" या "यह वही चैत्र है जो झूल रहा है")।[२६] इस संबंध के दो मुख्य आकार हैं, कार्यकारण भाव और ज्ञाप्यज्ञापक भाव। ध्यान देने की बात है कि दोनों की संरचना एक जैसी है – अंदर का बाहर भासित होना और एक का अपनी एकरूपता को त्यागे बिना अनेक रूप होना। ज्ञाप्यज्ञापकभाव में आंतर तत्त्व इन्द्रियवेद्यता को प्राप्त होकर अनेक बनता है[२७] और कार्यकारणभाव में चेतना के अंदर स्फुरित होता हुआ विश्व अंतःकरण और ज्ञानेन्द्रियों का विषय बनता है।[२८] ज्ञाप्य–ज्ञापक भाव के अंतर्गत प्रमाण–विचार आता है, अतः प्रमाण भी अंततः बौद्ध (पर सत्य) पदार्थ ठहरता है।

शैवों का दृष्टिकोण इस बारे में स्पष्ट है कि उनकी तत्त्व–मीमांसा वस्तुतः प्रमातृ–मीमांसा है। इस विषय में उनकी सामान्य मान्यता है कि सारी अध्यात्म विद्याओं का काम प्रमाता के स्वरूप का अनुसंधान भर है।[२९] परम सत्ता महेश्वर की परिकल्पना चरम प्रमाता के रूप में की गई है। प्रमाता अपने दोनों रूपों – शुद्ध तथा अशुद्ध – में ज्ञानक्रिया–शक्तिमान् है और ज्ञान और क्रिया का आदिसिद्ध आधार होने के कारण वह प्रमाणातीत

२३. प्रमातुः यो व्यापारः एकानेकत्वसंयोजनात्मा स एव प्रकृतो यत्र [.....]। – ई.प्र.वि., २, पृ. ४५; एकानेकरूपश्चैत्राद्यर्थः आश्रयः [.....] 'स एवायम्' इत्येकरूपताम् अपरित्यजन्नेव निर्भासते। – तदेव, पृ. ३३–३४

२४. ई.प्र.का., भूमिका, १, पृ. १८ (भास्करी, १, Introduction, पृ.viii)

२५. एकानेकरूपाक्रियातत्त्वालम्बनबुद्धिः। – ई.प्र.वि., २, पृ. ३५

२६. निमज्जदुन्मज्जद्भेदाभेदकोटिद्वयदोलारोहणलक्षणम् अन्वयरूपम्। – तदेव, पृ. ५०

२७. तत्रैकमान्तरं तत्त्वं तदेवेन्द्रियवेद्यताम्।
संप्राप्यानेकतां याति देशकालस्वभावतः।। – ई.प्र.वि. २/२/२
इस पर उत्पल की वृत्तिः अभिन्नमेव तत्त्वम्, अन्तर्बहिर्भासनभेदाद् एकानेकम्।

२८. कार्यकारणता लोके सान्तर्विपरिवर्तिनः।
उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तितः।। – ई.प्र.वि. २/४/४

२९. प्रमातुर्हि शुद्धाशुद्धस्वरूपं वितत्य वक्तव्यमध्यात्मविद्यासु अस्यैव अर्थस्य मुख्यत्वेन विस्तारणार्हत्वात्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ३१३
काश्मीर शैव दर्शन के आधुनिक विद्वान् आचार्य अमृतवाग्भव इस मान्यता के प्रबल समर्थक थे। – द्र., कोष, भा.२, पृ.४२४

है, अतः प्रमाण-मीमांसा का काम केवल व्यवहार-साधनों को बताते हुए व्यवहार को सिद्ध करना है।[३०] इस अर्थ में शैव दार्शनिक आत्मज्ञानविषयक चिन्तन-परम्पराओं के साथ अपने को खड़ा पाते हैं।[३१]

प्रमाण का मौलिक काम आत्मा की न तो सिद्धि करना है, न ज्ञापन। उसका काम विस्मृति, मोह या मल के आवरण को हटा देना मात्र है; शक्ति के प्रकाशन से शक्तिमान् तक पहुंचा देना मात्र है।[३२] परन्तु यह मोहापसारण मात्र बौद्धिक व्यायाम नहीं है, अपितु हृदयङ्गमन व्यापार है - ठीक हृदय तक पहुंचाना।[३३] प्रमाण-मीमांसा प्रमेय के स्वरूप को अवश्य ज्ञापित करती है और इसका पैना विश्लेषण करती हुई अपनी सीमाओं का भी आकलन करने के कारण इस अर्थ में व्यवहारातीत और अतिक्रामी भी है कि प्रमाण के माध्यम से प्रमातृविश्रान्त हुए विना मेय का अपना कोई निजी रूप अवधारित नहीं हो पाता। काश्मीर शैव अपनी विशिष्ट शब्दावली में व्यवहार को ज्ञानात्मक सत्ता के एकल अनन्त प्रसार के बीच का अंतराल मात्र मानते हैं - यह मूल और पार्यन्तिक परामर्श के बीच में होने वाला मध्यपरामर्श रूप है, ऐसा मानते हैं।[३४] व्यवहार की स्थिति में भी अशुद्ध प्रमाता की यह प्रमाणातिक्रामिता बनी रहती है और इस अतिक्रामिता के उत्तरोत्तर परिशीलन से चरम प्रमातृता अर्थात् माहेश्वर्य के उपलाभ कराने का प्रत्यभिज्ञा का संकल्प पूरा हो जाता है।

यहाँ पर आचार्य शंकर के प्रसिद्ध वाक्य का स्मरण आता है : **'वस्तुतंत्रं भवेज्ज्ञानं कर्तृतन्त्रमुपासनम्'**, जहाँ वह ज्ञानमीमांसा को वस्तुतंत्र अर्थात् प्रमेय या विषय के अधीन

---

३०. ततो न तस्य प्रमेयता येन अत्रापि प्रमाणव्यापारसंभवः केवलं व्यवहारमात्रसिद्धिफलं प्रमाणमत्र। - ई.प्र.वि., २, पृ. ६७

३१. यावन्ति हि आत्मज्ञानशास्त्राणि श्रुत्यन्त-सिद्धान्त-रहस्य-तंत्ररूपाणि, तानि आत्मनि नैव सिद्धिम् अपूर्वरूपां रचयन्ति। तस्मात् व्यवहारमात्रसाधनफलानि एव तानि इति भावः। - तदेव, पृ. १७९

३२. तुलना कीजिए

यावन्ति सन्ति मानानि व्यवहारप्रवृत्तये।

तेषां मोहापसरणाद् व्यापारोऽन्यो न विद्यते।। - द.मू.स्तो. पर मानसोल्लास ७/२०

३३. अतस्तद्व्यवहारमपि नेह साध्यते अपितु उपांशुच्छन्नं स्थितं सत्, उप समीपे इति हृदयसंगमनेन प्रधानतया दर्श्यते। - ई.प्र.वि., १, पृ. ८७

३४. परामर्शो नाम विश्रान्तिस्थानम्, तच्च पार्यन्तिकमेव पारमार्थिकम्, तच्च अहमित्येवरूपमेव। [.....] अनेन नीलादेर् अपि इदं नीलम् इति मध्यपरामर्शेऽपि मूलपरामर्शे अहमित्येव विश्रान्तेः आत्ममयत्वम् उपपादितमेव। - तदेव, पृ. २७८-७९

मानते हैं और उपासना को पुरुष या कर्ता के। प्रमाण को व्यवहारसाधन मानने के कारण शैव दार्शनिक भी प्रमाण को वस्तुतंत्र ही मानते आपाततः प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तविक विश्लेषण में यहाँ ज्ञान को आनुभविक जगत् में भी पुरुषतंत्र या प्रमातृतन्त्र ही मानना होगा।[३५] अन्यत्र मान्य वस्तुतंत्रता में प्रमाण निष्क्रिय है, ज्ञान करण के व्यापार का परिणाम है। परन्तु यहाँ सारा ज्ञान व्यापारात्मा है, प्रमा पर्यन्त सारा ज्ञान व्यापार या क्रियारूप है। ज्ञान वस्तुतः 'जानना' (जानने की क्रिया) है। कमलाकर मिश्र के शब्दों में **"knowledge is actually knowing"**।[३६] फल, व्यापार और उसके अधिष्ठान में व्यापारात्मक सातत्य और अन्विति है जो चेतन सत्ता – चैतन्य में निहित ज्ञान की क्रिया के साथ अवियुक्तता (**अवियुक्तं ज्ञानं क्रिया च** ई.प्र.वि.,२, पृ. २१५) – से स्वतः निःस्यूत होती है।[३७]

जिसे हमने ऊपर अशुद्ध प्रमाता कहा है उसके लिए प्रत्यभिज्ञा शास्त्र मायीय अथवा कल्पित प्रमाता शब्द का प्रयोग करता है। यों तो माया का क्षेत्र तिरोधानशक्ति के रूप में प्रथम तत्त्व अर्थात् शिवतत्त्व के साथ ही प्रारम्भ होता है, पर यहाँ पर माया की परिकल्पना से हमारा तात्पर्य प्रमाता के शुद्ध स्वरूप को छिपाकर भेदबुद्धि के रूप में अशुद्ध सृष्टि की भासक शक्ति से है। यद्यपि माया का भेदकारी तिरोधान सामर्थ्य महेश्वर का स्वातन्त्र्य ही है, परन्तु अचिद्रूपा भेदकरी शक्ति के रूप में सामान्य अनुभवजगत् के लिए माया को ही उत्तरदायी स्वीकार किया जाता है। इसके कारण परम प्रमाता पहले परिच्छिन्नता के कारण मेय बनता है, फिर अनुभवजगत् में प्रमाता बनता है। शून्य, प्राण, बुद्धि और देह इन स्तरों पर सक्रिय इसे स्तरविशेष के व्यापार की प्रधानता के कारण प्रमाता के पहले इन्हीं अन्वर्थ शब्दों को विशेषण के रूप में लगाकर आनुभविक प्रमाता के भिन्न भिन्न रूपों की परिघटना करते हैं जैसे शून्यप्रमाता, प्राणप्रमाता, बुद्धिप्रमाता और देहप्रमाता आदि। माया से ग्राहक और ग्राह्य, प्रमाता और प्रमेय का भेद प्रारम्भ हो जाता है, अर्थात् अहम्-अनुभव और इदम्-अनुभव, शब्दान्तर से प्रमात्रनुभव और विषयानुभव, के अधिकरण पृथक् पृथक् हो जाते हैं। माया के पांच कञ्चुक या आवरण हैं कला, विद्या, काल, राग, नियति। ये प्रमातृकञ्चुक भी कहलाते हैं। माया का काम महेश्वर या परमशिव

---

३५. इस तथ्य को भास्करकण्ठ ने उपलक्षित किया था। उनके प्रमेय-लक्षण (मात्राश्रयस्य मानस्य विषयः। – शि.अ.शा., १/१७०) और प्रमाण-लक्षण (मानं नवनवाभासो माता तत्प्रभवः स्मृतः। – तदेव १/१७१) इसके प्रमाण हैं।

३६. *Kashmir Shaivism*, पृ. ५७

३७. वस्तुतः बाहर की ओर फैलता ज्ञान क्रिया है और अंतर्मुख होने पर क्रिया ही ज्ञान है : ज्ञानमेव बहिर्विकासं गच्छत् क्रिया, क्रियैव अन्तर्मुखतायां ज्ञानम्। – कोश, १, पृ. २३९-४०

के स्वरूप का तिरोधान करना है और इन कञ्चुकों का काम तिरोहित प्रमातृत्व का किंचित् या सीमित उपोद्वलन है। सर्वकर्ता, सर्वज्ञाता, नित्य, पूर्ण और व्यापक अब सीमित होकर किंचित्कर्ता, किंचिज्ज्ञ, कालिक या क्रमयुक्त, कहीं पर अनुरक्त और नियमन-ग्रस्त भासित होता है। इसी प्रकार माया से प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, और मन का क्रमशः अवभासन होता है। अहंकार से तन्मात्राएं और पंच महाभूत आभासित होते हैं। प्रकृति से लेकर पृथ्वीपर्यन्त यह मेय की धारा है। मायिक सृष्टि के पूर्व में शुद्ध सृष्टि या शुद्ध तत्त्वों की भूमि है। परमशिव या महेश्वर से पाँच शुद्ध तत्त्व शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धा विद्या आभासित होते हैं। यहाँ तत्त्व होने के नाते प्रमाता और प्रमेय, अहं और इदम्, के अवधारणात्मक भेद के बाद भी अहम्-इदम्, ग्राहकता और ग्राह्यता, का अधिकरण एक ही रहता है। तत्त्व होने के नाते ये सब आभास-सामान्य के रूप में किसी न किसी के अनुभव विषय बनते हैं। इसलिए शिव से लेकर शुद्धा विद्या तक शाम्भव, शक्तिज, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्र प्रमाताओं की क्रमशः कल्पना की जाती है। माया के स्तर पर प्रमाता है विज्ञानाकल और फिर प्रलयाकल और तब सकल। अनुभवजगत् के सामान्य प्रमाता से तात्पर्य सकल प्रमाता से होता है।[३८] प्रमाण-व्यापार में इन की भूमिका है और यथाप्रसङ्ग हम इसका उल्लेख करते चलेंगे। अभिनवगुप्त इन सभी का संग्रह करते हुए पूरी प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं : पृथ्वी आदि आभास (यहाँ पर वस्तु की पारिभाषिक संज्ञा आभास है) परस्पर मिश्रित होकर घटादि विशिष्ट पदार्थ का रूप धारण कर (स्वलक्षणीभूत होकर) कर्मेन्द्रियों के उपसर्पण-व्यापार, ज्ञानेन्द्रियों के आलोचन-व्यापार, अंतःकरण (मन-अहंकार-बुद्धि) के संकल्पन-अभिमनन-निश्चयन-व्यापार, विद्या के विवेचन-व्यापार, कला आदि कञ्चुकों के अनुरञ्जन-व्यापार के विषय बन कर अंततः प्रमाता में विश्रान्त होते हैं।[३९]

---

३८. उपर्युक्त इन तत्त्वों में भी एक विशेष प्रकार के मानमेयभाव की कल्पना की गयी है - यह तत्त्वों के अंतःसंबंध की दृष्टि से है। इनमें से प्रत्येक ऊर्ध्व तत्त्व प्रमाण है और उत्तरवर्ती प्रमेय है। परन्तु यह मानमेयभाव उनके संकोच-तारतम्य और अंतर्व्याप्ति-तारतम्य की दृष्टि से है, अतः प्रमाणशास्त्र में उन पर इस दृष्टि से चर्चा नहीं होती। मालिनीविजयवार्तिक के निम्न वाक्य से यह बात पुष्ट होती है :
ऊर्ध्वोर्ध्वतत्त्वव्रातस्य मानत्वे च निरूपिते।
अधराधरतत्त्वांशो मेयतामवलम्बते।। - (१/८७२)

३९. अथ पृथिव्याद्याभासा एव मिश्रीभूय घटादिस्वलक्षणीभूताः, कर्मेन्द्रियैरुपसर्पिताः, बुद्धीन्द्रीयैरालोचिताः, अंतःकरणेन संकल्पिताभिमतनिश्चितरूपाः विद्यया विवेचिताः कलादिभिरनुरञ्जिताः प्रमातरि विश्राम्यन्ति। - ई.प्र.वि., २, पृ. २४२

अध्याय २

प्रमाण–चिन्तन

उपजीव्य साहित्य

सोमानन्द से लेकर अभिनवगुप्त पर्यन्त आचार्यपंक्ति की गणना तर्क के कर्ता के रूप में की गयी है, यह हमने प्रारंभ में देखा था। इनमें भी मुख्यत: उत्पल और अभिनवगुप्त की कृतियां प्रमाण–मीमांसा में हमारी उपजीव्य होती हैं। सोमानन्द की शिवदृष्टि में कुछ टिप्पणियां मिलती हैं – उनमें से कतिपय में महत्त्वपूर्ण बीज छिपे हैं, पर इसके लिए भी हमें उत्पल की पदसंगति का आश्रय लेना पड़ता है। उत्पल वस्तुत: प्रमाणविचार के मूल सूत्रधार के तौर पर उभरते हैं। ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा–कारिका जो प्रस्थान ग्रन्थ है, के अतिरिक्त उनकी सिद्धित्रयी में भी अनेक प्रमाणमीमांसीय आयामों का खुलासा होता है। उत्पल के बाद अभिनव–पूर्व आचार्यों में उत्पल के ही शिष्य और स्पन्दधारा के आचार्य रामकण्ठ का नाम लिया जा सकता है। पर उनकी भी प्रसङ्गानुगत प्रकीर्ण टिप्पणियाँ ही हैं। अभिनव के परवर्ती आचार्यों में जयरथ, महेश्वरानंद और फिर आगे चलकर अभिनव की विमर्शिनी टीका और चित्तानुबोधशास्त्र नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ के प्रणेता भास्करकण्ठ आते हैं। ये सभी महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं, पर इन सबमें जयरथ को अभिनवगुप्त के अनुपूरक लेखक के रूप में लेना होगा। प्रत्यभिज्ञा ग्रन्थों में अकथित या उपलक्षित मात्र अनेक संकेतों को तन्त्रालोक का प्रामाण्य लेते हुए वह विवेक में विकसित करते हैं। भास्करकण्ठ की भूमिका भी अभिनव के व्याख्याता के रूप में महत्त्वपूर्ण है। प्रमाण–विचार के अधिप्रमाणीय (meta-epistemological) पक्षों पर अभिनव का गंभीर विचार मालिनीविजयोत्तरवार्तिक, तन्त्रालोक के कुछ (विशेषत: १०–११–३५वें) आह्निकों में, और विवृति–विमर्शिनी में यथाप्रसङ्ग सर्वत्र मिलता है। अपने प्रतिपादन में हम इसी सामग्री पर मुख्यत: निर्भर रहेंगे।

ज्ञान का अर्थ

भारतीय दर्शन में पश्चिमी दर्शन की भांति ज्ञान शब्द का प्रयोग दो अलग–अलग

अर्थों में किया गया है - चेतना (consciousness) और ज्ञान (cognition)।[1] उदाहरणार्थ अद्वैत वेदान्त में ज्ञान ब्रह्म का स्वरूपभूत है और अंत:करण का वृत्तिभूत भी। यही शब्दावली सांख्य में मिलती है - चिद्रूप साक्षिज्ञान और बुद्धिवृत्ति रूप बोध। भाट्ट मीमांसा में ज्ञानशक्तिरूप और विषयज्ञानरूप दोनों ज्ञान पद के अभिधेय हैं। प्राभाकर में ये ही क्रमश: ज्ञान और संवित् का रूप धारण करते है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत में ज्ञान धर्मिभूत है और धर्मभूत भी। मोटे तौर पर यह अभिधेयता-विवेक तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से किया गया है। सत् के पारमार्थिक स्वरूप के लिए प्रथम अर्थ और ज्ञानमीमांसीय संदर्भ में द्वितीय अर्थ में ज्ञान पद का ग्रहण हुआ है। प्रस्थानगत्या इनके तात्त्विक रूप में भी परस्पर भेद है। तात्त्विक दृष्टि से अद्वैत वेदान्त में ज्ञान द्रव्य या धर्मी है, न्याय में गुण और भाट्ट मीमांसा में कर्मरूप। ज्ञानमीमांसा में इस ज्ञान की फिर अवान्तर प्रकारताएँ ढूंढी गयी हैं जैसे न्याय में ज्ञान, जिसे बुद्धि कहा गया है, दो प्रकार का माना गया है - ज्ञान (अनुभव) और स्मृति। देखा जाए तो ज्ञान की परिधि में वे ज्ञान-प्रकारताएं भी आ जाती हैं, जिन पर प्रमाण-मीमांसा अप्रमाणता दृष्टि से विचार करती है जैसे संशय, भ्रम, विपर्यास आदि।[2]

प्रत्यभिज्ञा में ज्ञान शब्द का प्रयोग प्राय: चार अर्थों में होता है - (१) प्रमाता के स्वरूप, (२) शक्ति, (३) बुद्धिवृत्ति अर्थात् बोध और (४) अनुभव या प्रत्यक्ष। महेश्वर के स्वरूप में प्रकाशरूपता को ही ज्ञान कहा गया है, जिसका अंतरंग स्वभाव स्वातन्त्र्यरूप विमर्श है। इस अर्थ में ही अचित् से वह भिन्न होता है। इसलिए वस्तुत: विमर्श ही ज्ञान के रूप में पर्यवसित होता है। शब्दान्तर से इसे ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के अपोद्धृत (abstracted) रूप में ग्रहण करते हैं।[3] इस स्वरूप में भी अभिनवगुप्त एक प्रमाणातीत प्रमाणमयी स्थिति

---

१. वस्तुत: ज्ञान शब्द के अनेक पर्याय वेदों से लेकर मध्यकाल तक प्रयुक्त हुए हैं। हर्षनारायण अथर्ववेद (६/४१/१) के प्रमाण से ज्ञानजातीय अनेक शब्दों का उल्लेख करते हैं (प्रमाणकारिका ३/४):
मनसे, चेतसे, धिय (,) आकूतय (,) उत चित्तये।
मत्यै, श्रुताय, चक्षसे, विधेम हविषा वयम्।।
उपलब्धि, मति, ज्ञान, प्रत्यय, बुद्धि, संवित् इन सभी शब्दों का प्रयोग ज्ञान के लिए न्यायवैशेषिक में हुआ है। (प्र.का. ३/२)

२. ज्ञानादीनां च संशयादिभेद: कथम् ? - ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २१७

३. (अ) माहेश्वर्यं यद् अनवच्छिन्नप्रकाशत्वेन ज्ञातृत्वकर्तृत्वधारोपारोह:। - ई.प्र.वि., १ पृ. ५५
(आ) प्रकाशरूपता ज्ञानं तत्रैव स्वातन्त्र्यात्मा विमर्श: क्रिया, विमर्शश्च अंत:कृतप्रकाश: [.....] सर्वथा तु विमर्श एव ज्ञानं तेन विना हि जडभावोऽस्य स्यात्। - तदेव, पृ. ४३३-४३४
(इ) चैतन्यमात्मा। - शि.सू. १/१
(ई) ज्ञानं बोधमयं तच्च शिवस्य सहजं सदा। - शि.दृ. १/२७

का रूपक बांधते हैं – शिव विश्वरूप प्रमाता है, सदाशिव और ईश्वर विश्वप्रमाण हैं और शुद्धाविद्या विश्वप्रमा या फलदशा है।[४] ज्ञान की दूसरी अवधारणा शक्ति के रूप में की गयी है।[५] जैसा कि हम पहले ध्यान दिला चुके हैं, महेश्वर शक्तिमान् है और सारा जगत् उसकी शक्ति है। बहुत्व और भेदन शक्ति से उपपन्न होता है और अभेदन शक्तिमान् से। ज्ञान–व्यापारों के वैविध्य और बहुत्व की विवक्षा में शक्ति और एकत्व की विवक्षा में शक्तिमान् पद का व्यवहार होता है।[६] इसलिए ज्ञानात्मक क्षेत्र में या ज्ञातृत्व–स्वरूप के उन्मीलन में, महेश्वर की प्रस्तुति 'ज्ञान–स्मृति–अपोहन शक्तिमान्' के रूप में की गयी है।[७] यहाँ पर ज्ञान, स्मृति और अपोहन नामक जो ज्ञानात्मक व्यापार हैं, उनमें ज्ञान, स्मृति और अपोहन शक्तियों की ही सामर्थ्य है। वस्तुतः तत्तत् नाम से कथित यह ऐश्वर स्वातन्त्र्य है। चेतना में अंतर्लीन भावों का नई–नई छाया लिए बहिर्मुख भासन ज्ञान है और तदवभासक ऐश्वर सामर्थ्य का नाम ज्ञानशक्ति है।[८] ज्ञानशक्ति पद का विग्रह दो तरह से करते हैं – ज्ञान ही शक्ति है और उस ज्ञान में उसकी (महेश्वर की) शक्ति है। पहला स्वरूप–लक्षण है और दूसरा सहकारि–लक्षण। विश्लेषण की यह पद्धति स्मृति और अपोहन पर भी वैसे ही लागू होगी। शैव आचार्य एक महत्त्वपूर्ण संकेत यह भी करते हैं कि शक्ति–शक्तिमान् या स्वरूप–सहकारिलक्षणता की बात वस्तुतः अपोद्धार मात्र है।[९] ज्ञान का तीसरा अर्थ है बुद्धिवृत्ति।[१०] इस अर्थ में इसे बोध कह सकते हैं। ई.प्र.का. १/५/१८ पर विवृत्ति में अभिनव ज्ञान के दो अर्थों की चर्चा करते हैं। इनमें एक है बुद्धिवृत्ति और अन्य है अक्षवृत्ति।[११] परवर्ती अर्थ में ज्ञान अपने चौथे अर्थ को व्यक्त करता है, जिसे सामान्यतः प्रत्यक्ष या अनुभव शब्द से समझा जाता है। स्वयं उत्पल ज्ञान का अर्थ प्रत्यक्ष से लेते हैं।[१२] अभिनवगुप्त इसका अनुमोदन

४. एवम् इति शिवरूपे विश्वप्रमातरि सदाशिवरूपे च विश्वप्रमाणे सति उपपद्यते। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ७७; और भी देखिए, पृ. ७३, तत्रैव

५. समस्तभावपूर्णस्य ज्ञानं नाम शक्तिः। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. २८५

६. तत्र बहुत्वपरामर्शप्रधानतायां शक्तिव्यवहारः, तदेकपरामर्शप्रधानत्वे तद्वद्व्यवहारः। – तदेव, पृ. २८७

७. स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान्। – ई.प्र.का. १/३/७

८. तत् नवनवतदीयच्छायोपरक्तमस्य बहिर्मुखं रूपं नवनवं ज्ञानमुच्यते। तत्र च यदैश्वरं स्वातन्त्र्यम् सा ज्ञानशक्तिरिति। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. २८६

९. तेन उभयथापि ज्ञानशक्तिपदं तत्र तत्र विग्रहीतव्यम् ज्ञानमेव शक्तिः, तत्र च अस्य शक्तिरिति। [.....] इति स्वरूपसहकारिलक्षणैव (पठनीय : स्वरूप–सहकारिलक्षणैव) उभयी पदार्थस्थितिः। – तदेव, पृ. २८७

१०. ननु पुंसो बुद्धिवृत्त्यात्मकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। – तं.वि., २, पृ. ७५

११. प्रत्यगात्मनो [.....] अक्षवृत्तिर्बुद्धिवृत्तिर्वा ज्ञानम्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २१८

१२. सैव चितिर्ज्ञानम् अध्यक्षम्। – ई.प्र.का. १/५/१८ पर वृत्ति

करते हैं।[१३] तीसरे अर्थ बुद्धिवृत्ति पर हम पुनः वापस चलते हैं। बुद्धिवृत्ति को दो हिस्सों में बांटा जा सकता है – मुख्य और अमुख्य। ज्ञान शब्द वस्तुतः इन दोनों को अपने अभिधेयता वृत्त में समेट लेता है।[१४] थोड़े लचीलेपन के साथ कहा जा सकता है कि ज्ञानात्मक व्यापार के सभी प्रकार इसमें आ जाते हैं।[१५] इनमें मुख्य के अंतर्गत ज्ञान, स्मरण और विकल्पन और अमुख्य के अंतर्गत अध्यवसाय, संकल्प, संशय आदि को लिया जा सकता है।[१६] मुख्य ज्ञान की त्रिपुटी – ज्ञान, स्मृति और अपोहन – के अंतर्गत आनेवाले ज्ञान के पुनः दो भेद किए जा सकते हैं। मुख्य भेद के अंतर्गत प्रत्यक्ष और आगम का ग्रहण होता है और अमुख्य ज्ञान के अंतर्गत अनुमान का। अग्र पृष्ठांकित सारणी के द्वारा इस सारे श्रेणी विभाजन को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर सकते हैं :–

---

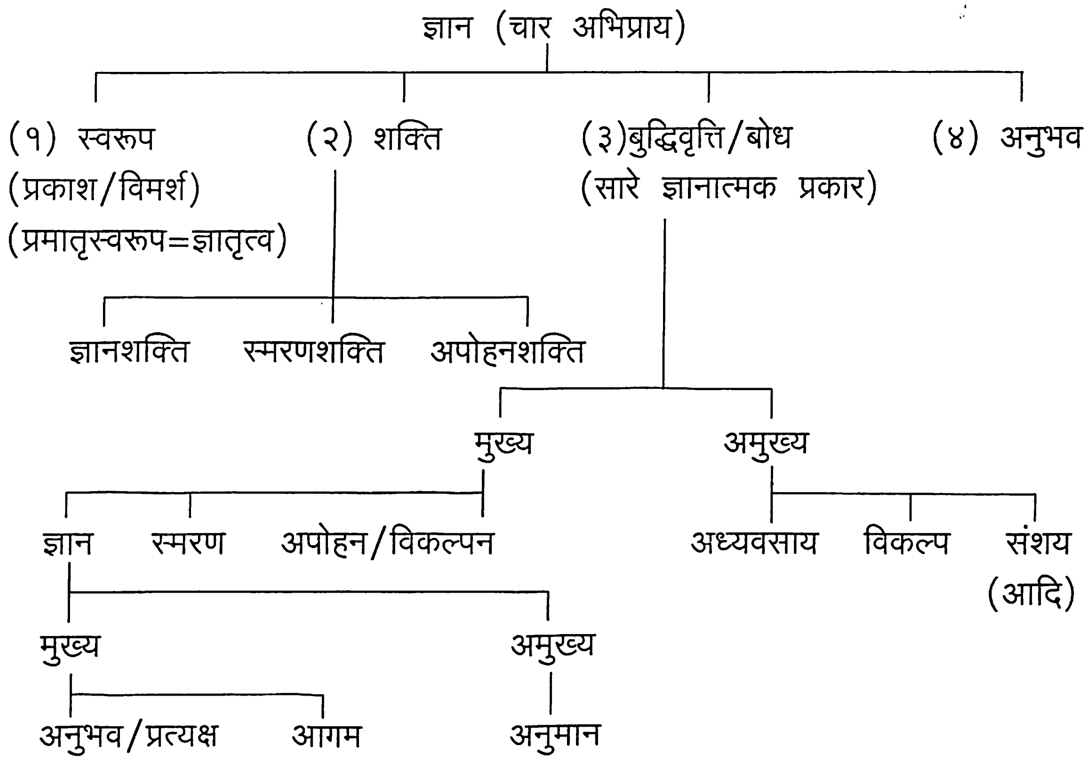
१३. यदिन्द्रियेण स्फुटग्राहिणा बाह्येन विषयेण स्फुटेन च नियन्त्रितं संवित्तत्त्वं तत् ज्ञानम्। – ई.प्र.वि., १, पृ. २८२

१४. मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।
कथिताज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः।। – ई.प्र.का. १/५/१८

१५. ज्ञानानि स्मरणं साक्षात्करणं विकल्पनं च अपोहनशब्दवाच्यम्। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. २९९

१६. यहाँ यह देखना रोचक होगा कि ये ज्ञान व्यापार (तृतीय अर्थ) स्वरूपतः समसंज्ञी शक्तियों की सामर्थ्य (द्वितीय अर्थ) से अस्तित्व में आते हैं और ये शक्तियाँ आनुभविक स्तर पर प्रमाता और पारमार्थिक स्तर पर महेश्वर (प्रथम अर्थ) की हैं। चौथा अर्थ (ज्ञान) इन्हीं तीन मुख्य ज्ञानों में से एक विधा प्रत्यक्ष या अनुभव का वाचक है। आगे चलकर चूंकि हम इन शक्तियों पर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं करेंगे, अतः उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ उचित होगा। ज्ञानशक्ति का काम है विभिन्न आकार वाली अर्थराशि, जो अपने से भिन्न न होती हुई स्वरूप में डूबी रहती है, में से किसी एक अर्थ को स्वरूप से बाहर (जैसे जल में डूबी चीज उतरा कर ऊपर आ जाती है) आभासित करना : स्वरूपान्तर्ब्रुडितम् अर्थराशिम् अपरमपि भिन्नाकारम् आत्मनि परिगृह्य, कंचिदेव अर्थं स्वरूपादुन्मग्नम् आभासयति सैषा ज्ञानशक्तिः। (ई.प्र.वि., १, पृ. १४०–४१) दूसरे शब्दो में संवित्, जिसकी एकता अभी तक अटूट है, का आनुभविक प्रमाता से भिन्नतया प्रकाशन ही ज्ञानशक्ति है। उत्पल ज्ञानशक्ति आह्निक का प्रारम्भ ही इस प्रकार करते हैं : वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्। अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना।। (ई.प्र.का. १/५/१) अभिनवगुप्त विमर्शिनी में इसे और भी स्पष्ट करते हैं : अनुज्झितसंविदभेदस्य भावस्य कल्पितप्रमात्रपेक्षया भेदेन प्रकाशनं भगवतो ज्ञानशक्तिः। (ई.प्र.वि., १, पृ. १९६) स्मृतिशक्ति भी अंतःस्थ का बहिर्मुख परामर्श करती है पर थोड़े प्रक्रिया-भेद के साथ। किसी पूर्वगृहीत विषय के ज्ञान के क्षण में जो संवेदन बहिर्मुख हुआ था उस संवेदन की अंतर्मुख चित्स्वरूपता, कालान्तर में भी टिके रहने वाली विषयविशेषविषयक उस बहिर्मुखता का, जिसके द्वारा परामर्शन करती है वह स्मृतिशक्ति है : तेन क्वचिद् आभासे गृहीतपूर्वे यत् संवेदनं बहिर्मुखम् अभूत् तस्य यद् अंतर्मुखं चित्स्वरूपत्वं तत् कालान्तरेऽपि अवस्थारन्नु स्वात्मगतं तद्विषयविशेषे बहिर्मुखत्वं परामृशति इति एषा स्मृतिशक्तिः। (ई.प्र.वि., १, पृ. १४१–१४२) जिसके सामर्थ्य से विषय का जो सब ओर से काटकर, परिच्छेदन अर्थात् व्यावृत्तिमूलक अवभासन होता है उसे अपोहनशक्ति कहते हैं : यतः एष एव परितश्छेदनात् परिच्छेद उच्यते, तदवभासनसामर्थ्यम् अपोहनशक्तिः।.(तदेव, पृ. १४३)

[सारणी १]



प्रमाणविचार की समस्याएँ

ज्ञान का ज्ञान : स्वप्रकाशता

प्रमाणविचार की पहली मौलिक समस्या है कि ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है (how knowledge itself is known), अन्यथा ज्ञान के संबंध में किसी भी प्रश्न को पूछने का अधिकार समाप्त हो जाता है। न्याय के अनुसार 'सर्वं ज्ञेयम्' कुछ भी ऐसा नहीं है जो ज्ञान का विषय न हो। इस अर्थ में ज्ञान भी ज्ञेय है। ज्ञान के पश्चाद्भावी ज्ञान, जिसकी पारिभाषिक अभिधा अनु–व्यवसाय है, के द्वारा ज्ञान का ज्ञान होता है। भाट्ट मीमांसा में विषय में ज्ञान का अनुमान ज्ञातता नामक गुण से होता है। यह मत ज्ञाततालिङ्गानुमेयवाद के नाम से प्रसिद्ध है। प्रभाकर के त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद में प्रमेय, प्रमाता और प्रमा की संवित्ति (विषय–संवित्ति, अहं–संवित्ति, स्व–संवित्ति) का प्रत्यक्ष होता है। संवित् या संवित्ति फल होने के नाते ज्ञान कारण का कार्य है। कार्य से कारण का, संवित्ति से ज्ञान का, अनुमान होता है। साधारण भाषा में निष्कर्षत: यह इस बात की स्वीकृति है कि ज्ञान परप्रकाश है।

परन्तु चिद्वादियों की दृष्टि में प्रत्येक चेतना स्वभावत: द्विदलीय होती है – (१) वह विषय की चेतना है और (२) उस चेतना की भी चेतना है। दूसरे अर्थों में चेतना होने की पूर्व शर्त है उसका स्वप्रकाश होना। बौद्ध विज्ञानवादी ज्ञान के स्वसंवेदन में विश्वास करते हैं – ज्ञान स्वयं अपने से जानता है। बौद्धों के स्वसंवेदनवाद के समान अद्वैतवेदान्त भी ज्ञान की स्वप्रकाशता का पोषक है। चित्सुखी स्वयंप्रकाशता का लक्षण करती है कि स्वयं वेद्य ज्ञान का विषय न होने पर भी, प्रत्यक्ष व्यवहार की योग्यता का होना[१७] स्वप्रकाशता है।

काश्मीर शिवाद्वयवादी इस विषय पर विज्ञानवादियों और अद्वैत वेदान्तियों से सहमत है। देकार्ते के प्रसिद्ध वक्तव्य "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ" (**Cogito Ergo Sum : I think therefore I am**) में आत्मा की सिद्धि के लिए इस यौक्तिक आधार का सहारा लिया गया है। प्रत्यभिज्ञा भी विमर्श को हेतु बनाकर प्रकाश की सिद्धि करने में इस युक्ति का अवलम्बन लेती हुई दिखाई देती है। पर वस्तुत: यह आश्रयण प्रत्यभिज्ञा के परार्थानुमान के रूप में व्यवहार–साधनता तक ही सीमित हैं। यथार्थ में प्रत्यभिज्ञा युक्तिज्ञ देकार्ते के तर्क को पलट देते हैं। उनका तर्क है "मैं हूँ इसलिए मैं सोचता/जानता हूँ" मेरा जानना या सोचना मेरे होने को प्रकट मात्र करता है, सिद्ध नहीं। चेतना का व्यावर्तक लक्षण है अजडता, साक्षात् अपनी चेतना का होना।[१८] इसीलिए यहाँ प्रकाश का लक्षण है : स्वप्रकाशनपूर्वक परप्रकाशन: विषयीरूप में स्वयंप्रकाश होते हुए विषय का प्रकाशन। वेदान्त के लक्षण से इस अर्थ में भेद कहा जा सकता है कि वहाँ स्वयंप्रकाश (वेद्य न होते हुए अपरोक्षव्यवहार की योग्यता मात्र) निष्क्रिय है, जबकि यहाँ वह प्रकाश की सामर्थ्य में मूलित है।[१९] ज्ञान ज्ञाता का स्वरूप है : ज्ञान को जानने का अर्थ है विषयी रूप में आत्म–प्रकाशन। विषय या पर को जानने का अर्थ है पर को अपने स्वरूप से आविष्ट कर लेना।[२०]

ज्ञानान्तरावेद्यता

स्वयंप्रकाशता के सिद्धान्त की तार्किक परिणति है ज्ञानान्तरावेद्यता, अर्थात् ज्ञान दूसरे ज्ञान का विषय नहीं होता। उत्पल की उक्ति है **'दृक् स्वाभासैव नान्येन वेद्या'**

---

१७. अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्। – "प्रमाणमीमांसा" में उद्धृत

१८. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत क:।। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. २६२

१९. अहंतया तु स्वप्रकाशरूपं ज्ञातृज्ञानरूपे ज्ञातृज्ञानरूप्। – प्र.प्र.मी., पृ. १५९ द्वारा भी उद्धृत

२०. स्वप्रकाशरूपावेशनं हि असौ परस्य विदधत् बोध: प्रकाशो भवति परस्यापि। – ई.प्र.वि., १, पृ. १०३

(१/३/२) : ज्ञान स्वप्रकाश है, दूसरे से नहीं जाना जा सकता।[२१] ज्ञान को दूसरे ज्ञान से वेद्य मानने में सबसे बड़ी कठिनाई है अनवस्था की। दूसरी विप्रतिपत्ति है, इससे इन्द्रियों के विशिष्ट व्यवहार में नियम के अभाव का होना।[२२] इन दोषों से बचने के लिए एक ही विकल्प शेष रहता है कि प्रत्येक ज्ञान को स्वसंवेदन से एकाकार मानना होगा और इस प्रकार अन्यज्ञानविषयता का निषेध करना होगा।[२३] पर यदि हर ज्ञान आत्मनिष्ठ है और एक दूसरे से नितान्त अपरिचित, तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, सविकल्पक प्रत्यक्ष के विषय अलग–अलग होंगे, फलतः लोकव्यवहार का आधार ही नष्ट हो जाएगा।[२४] यह तार्किक विसंगति प्रत्यभिज्ञा विचारक के लिए अनुसंधान की अवधारणा का यौक्तिक मार्ग प्रशस्त करती है। अनुसंधान है भिन्न भिन्न ज्ञानों की प्रत्यभिज्ञानात्मक अन्विति **'अन्योन्यविषयसंघट्टनामयः'**।[२५] इसीलिए स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, संविकल्पक प्रत्यक्ष सबका विषय वही है, जो प्रत्यक्ष का विषय है। अन्योन्यविषयसंघट्टना का अर्थ है सारे विषयज्ञानों का अन्योन्यानुसंधान। वस्तुतः चेतना का यही वास्तविक रूप है।[२६]

---

२१. इस संदर्भ में प्रत्यभिज्ञा तीन पर्यायों का प्रयोग करती आयी है – स्वतःसिद्ध (तत्र ज्ञानं स्वतः सिद्धम्, ई.प्र.का. १/१/५), स्वप्रकाश, और स्वाभास (दृक् का विशेषण होने पर स्त्रीलिङ्ग में स्वाभासा)। विवृतिविमर्शिनी (भा.१, पृ. २१६) के प्रमाण से पता चलता है कि उत्पल ने अपनी टीका में 'स्वाभासैव' शब्द, जिसे अभिनव एक नियम या व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करते हैं, की चार व्याख्याएँ की है : (१) स्वात्मनः प्रकाशः, (२) स्वात्मा अस्य प्रकाशः, (३) स्वात्मन एव प्रकाशेत न परस्य, और (४) परोऽस्य न प्रकाशः। क्रमशः इसका अभिप्राय है (१) ज्ञान अपने स्वरूप का ही प्रकाश है, (२) इसका रूप अप्रकाशमान नहीं है, (३) इसका प्रकाश किसी अन्य की कृपा पर निर्भर नहीं है और (४) नीलादि विषय इसका रूप नहीं है। सर्वप्रथम गीता रस्तोगी (१९७७) विवृतिविमर्शिनी के इस अंश को उद्धृत करती हुई हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं, यद्यपि व्याख्या नहीं करतीं। टोरेला इस अंश की ओर संकेत मात्र करते हैं (ई.प्र.वृ., पृ. ९९)।

२२. अन्योन्यवेदनेऽन्योन्यविषयवेदनमपि स्यात् ततश्च इन्द्रियनियमाभावः। – ई.प्र.का. १/३/२ पर वृत्ति

२३. (अ) सर्वा हि ज्ञप्तिः स्वसंवेदनैकरूपा अनन्यसंविद्वेद्या। – ई.प्र.का. १/३/२ पर वृति

(आ) न बोधस्य वेद्यत्वं कदाचिदुपपद्यते। – मा.वि.वा.–१/५८

(इ) ज्ञानानि स्वात्ममात्रपरिनिष्ठितानि स्वसंविद्रूपतया अ–परसंवेद्यानि। – तदेव, १/३/६ पर

२४. एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम्।

ज्ञानानामनुसन्धानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः।। – ई.प्र.का. १/३/७

२५. उपर्युक्त की वृत्ति में उत्पल।

२६. चित्तत्त्वमेव [.....] अशेषपदार्थज्ञानानामन्योन्यानुसंधानरूपम्। – ई.प्र.का. १/३/७ पर वृत्ति

ज्ञान का प्रामाण्य-अप्रामाण्य

परन्तु स्वयंप्रकाशता की परिणति स्वतः प्रामाण्य में होती है, ऐसा आवश्यक रूप से नहीं कहा जा सकता। भारतीय दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों में अपने वैचारिक आग्रहों से भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ मिलती हैं। सारे दर्शनों में सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानता है और नैयायिक दोनों को परतः। प्रवृत्ति-साफल्य (वाचस्पति में प्रवृत्तिसामर्थ्य) के अनुमान से प्रामाण्य और अर्थ-सामर्थ्य के अन्यथात्व से अप्रामाण्य का निर्धारण होता है। मीमांसक ज्ञान के प्रामाण्य को स्वतः मानते हैं और अप्रामाण्य को परतः (पुंदोष अर्थात् प्रमातृदोष से)। वेदान्त में भी ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः है और अप्रामाण्य परतः। बौद्ध ज्ञप्ति को स्वप्रकाश मानते हैं पर उसका प्रामाण्य अर्थाविसंवादित्व या अर्थक्रियाज्ञानसंवाद अर्थात् प्रवृत्तिसाफल्य पर निर्भर अर्थात् परतः होता है। ज्ञान के अप्रामाण्य के विषय में यह स्वतः है या परतः को लेकर अनिश्चय की स्थिति है।[२७] सारूप्य-सिद्धान्त (theory of correspondence) में अंतर्निहित है प्रामाण्य का अर्थ-दर्शन से होना। प्रत्यक्ष के ग्राह्य-विषय में अज्ञातार्थप्रकाशत्वेन और अध्यवसेय-विषय में अविसंवादकत्वेन प्रामाण्य माना जाता है। काश्मीरी शैव भी विषयों का द्वैराश्यभेद मानते हैं, परन्तु प्रामाण्य को सर्वदा संवाद, जिसे वह बाधाभाव (coherence) कहते हैं, की कसौटी पर कसते हैं। विमर्श की अनुवृत्ति का 'न टूटना (अनुन्मीलितविमर्शानुवृत्ति)' ही संवाद का निश्चायक है। उन्मीलितविमर्श बाधा अर्थात् बाधक प्रमाणान्तर के कारण होता है।[२८] इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा जहाँ ज्ञान के प्रामाण्य को स्वतः, वहीं अप्रामाण्य को परतः मानती है ।

उत्पल का प्रमाणविचार संबंध के व्यापकतर प्रत्यय के अङ्गरूप से हुआ है। कारण यह है कि प्रमाण में विषय का फैलाव बाह्यरूप (प्रमेयरूप) से लेकर प्रमाता में विश्रान्ति तक है। पहले भिन्नता दिखाई देती है और फिर उसी के अंश के साथ अभिन्नता। यही संबंधरूपता है और यह निश्चित रूप में हमारे ज्ञान में भासित होती है। प्रमाण इसी रूप को परोसता है और प्रमाता इसे ही पाना चाहता है।[२९] प्रमाण का विषय अन्यसंबद्ध प्रमेय

२७. इनके विस्तार के लिए देखिए प्र.का. ६/१-६६

२८. स च क्वचन अनुन्मूलितप्रमितिकः प्रमाणतां प्रतिपद्यते क्वचिद् अन्यथाभवन् विपर्ययमिति। - ई.प्र.वि., २, पृ. ८०
अर्थक्रियाकारित्व की दृष्टि से होने वाली अर्थिता इत्यादि को प्रवृत्ति-निबन्धन मानते हैं, प्रमाण-निबन्धन नहीं। इस पर हम आगे यथावसर विचार करेंगे।

२९. अतो बाह्याद् रूपादारभ्य प्रमातृविश्रान्तिपूर्वं यत् भावस्य वपुः तत्र अस्य भिन्नता अवभाति तद्वशाद् अंशेनैव च अभिन्नता सैव च संबंधरूपता, तदसौ भात्येव, तथैव च प्रमाणेन आवेदिता अर्थ्यते च प्रमातृभिः। - ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ३४९

है, शुद्ध नहीं। अन्य–संबंधता में यह परिच्छेद विमर्श के कारण होता है, क्योंकि विमर्श से अवियुक्त प्रकाश ही प्रमाण है।[३०] एक ही वस्तु के परामर्श में, परिघटित ज्ञान में, इस संबंध का अवभासन तीन प्रकार से होता है –

(१) सामान्य रूप से परामर्श 'इदम्' इति ('यह')
(२) मध्यम रूप से परामर्श 'घट' इति ('घड़ा')
(३) अतिविशेष रूप से परामर्श 'ईदृशोऽयं घट' इति ('यह घड़ा इस प्रकार का है')

पहली स्थिति पदार्थ को आभासमात्र के रूप में अर्थात् सामान्यतया ग्रहण करती है। दूसरी स्थिति घटत्व, सत्तात्व धर्मों का वस्तु–मर्यादया प्रकाशन करती है। यहाँ हम सामान्यों का मेलन देखते हैं। तीसरी स्थिति स्वरूप के धर्म का अतिविशेषरूप से परामर्श करती है : यह सोने का गोल घड़ा है। यहाँ सामान्यों और विशेषों का मिश्रण है। आगे चलकर हम देखेंगे कि[३१] पहली स्थिति प्रमाण–लक्षण में 'इदं' को लक्षित करती है, दूसरी ओर तीसरी दोनों स्थितियाँ 'एतादृक्' को। दूसरी स्थिति को स्फुट और तीसरी को स्फुटतर परामर्श के रूप में लिया जाता है। एक ही वस्तु के ज्ञान की संबंधानुगुण इस अवस्थात्रितयता से प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमीमांसा एक ओर आभासवाद के आलोक में वस्तु के प्रति प्रमाण अर्थात् प्रमितिव्यापार की दिशा का निश्चय करती है और दूसरी ओर स्फुटतरता का उल्लेखन कर ज्ञान को उसकी मूलगामी प्रत्यभिज्ञानात्मक संरचना में प्रतिष्ठित करने में योग देती है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह विचार क्रियाधिकार में होता है, ज्ञानाधिकार में नहीं। ज्ञानाधिकार में उत्पल प्रमाता के स्वरूप पर गहन विचार करते है। क्रियाधिकार में प्रमाणविचार के द्वारा उत्पल इस बात को रेखाङ्कित करते हैं कि प्रमाण चेतन कर्ता अर्थात् प्रमाता की क्रिया का ही एक प्ररूप है। संबंध के दो मूल प्रारूपों, ज्ञाप्यज्ञापकभाव और कार्यकारणभाव, में से ज्ञाप्यज्ञापकभाव, जिसके अंतर्गत प्रमाणता की चर्चा होती है, पर उत्पल पहले विचार करते हैं। इसका कारण अभिनवगुप्त की दृष्टि में यह है कि हमारा ज्ञान–व्यापार सत्ता की मौलिक द्विराशि चेतन और जड़, दोनों पर निष्ठित होता है जबकि कार्यकारणभाव केवल एक राशि जड़, पर। अतः जिस पर निष्ठित होकर अब तक जो कुछ

३०. अत्र च इदं तात्पर्यं इह प्रकाशस्य विमर्शावियुक्तस्यैव प्रामाण्यात् विमर्शबलेन सर्वमेव प्रमाणं अन्यसंबद्धमेव प्रमेयं परिच्छिनत्ति, न शुद्धमिति संबंधः। – तदेव

३१. एकमेकाकिपरामर्शेऽपि [.....] त्रिधाऽपि स्थिते संबंधावभासमुपपाद्य [.....] आभासानां च मेलनं, स्वलक्षणानां चेति बहुशाखोऽयं संबंध एव निर्भासते। – तदेव, पृ. ३५०–३५१

कहा जा चुका है और कहा जाएगा, उसकी सिद्धि के लिए पहले ज्ञाप्यज्ञापकभाव पर ही विचार का औचित्य है। वह न्याय से इस अर्थ में सहमत हैं कि वस्तुसिद्धि प्रमाण के अधीन होती है। इस अवसर का उपयोग अभिनवगुप्त यह बताने के लिए भी करते हैं कि प्रमाण–व्यापार की भूमिका की इयत्ता भाव और मेय तक ही है। अर्थात् प्रमाता उससे परे है।[३२]

परन्तु प्रमाता का प्रमाण–मीमांसा के क्षेत्र से यह तथाकथित निष्कासन केवल औपचारिक मात्र है, क्योंकि प्रागनुभविक पूर्वसंभावना के रूप में उसकी स्थिति और उपजीव्यता दोनों असंदिग्ध है। स्वयं क्रियाधिकार के पूर्व ज्ञानाधिकार में उत्पल का केन्द्रीय मन्तव्य यही है कि प्रमाता ज्ञानमीमांसा के केन्द्र में है। प्रमाणों की संरचनात्मक परिघटना पर विचार करते समय अभिनवगुप्त आगम प्रमाण की संरचना पूरी तरह से प्रमाता की शब्दावली में करते हैं। अतः प्रमाणाह्निक (मानतत्फलमेयनिरूपणाह्निक) के क्रम के स्थान पर मूल कारिकाओं के क्रम का आदर करते हुए विशुद्ध प्रमाणात्मक संदर्भ में हम सबसे पहले प्रमाता की भूमिका और स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित करेंगे।

---

३२. तत्र परमार्थतो द्विविध एव संबंधो ज्ञाप्यज्ञापकभावो यो जडाजडनिष्ठः, कार्यकारणभावश्च यो जडनिष्ठः। तत्र पूर्वो मानमेयात्मको यन्निष्ठितमुक्तं वक्ष्यमाणं च सिद्ध्यति। प्रमाणाधीना हि वस्तुसिद्धयः इति प्रसिद्धमेतत्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७०

अध्याय ३
प्रमाण के घटक

प्रमाता

सम्प्रदाय में प्रमाता शब्द की निष्पत्ति दो प्रकार से की गयी है। अभिनवगुप्त जुहोत्यादिगणीय प्र-पूर्वक माङ् धातु से (**माङ् माने शब्दे च**) कर्ता अर्थ में तृच् प्रत्यय लगाकर निष्पत्ति करते हैं – **'प्रमाता प्रमिमीते जानाति करोति इति वस्तु।'**[1] यहाँ द्रष्टव्य है कि अभिनव 'प्रमिमीते' की व्याख्या 'जानाति' पद से नहीं, बल्कि 'करोति' पद से भी करते हैं। दूसरी निष्पत्ति जयरथ स्वादिगणीय प्रक्षेपणार्थक मिञ् (**मिञ् प्रक्षेपणे**) से उपर्युक्त विधि से करते है – **'प्रमिणोति इति प्रमाता'**। यह भी सकर्मक धातु है। प्रक्षेपण का अर्थ जयरथ लेते हैं क्षोभ से – मेय, मान का क्षोभ।[2] ऊपर अभिनवगुप्त के द्वारा विशेषतः प्रयुक्त 'करोति' पद का अर्थ है, प्रमा में प्रमाता के स्वातन्त्र्य को चिह्नित करना। प्रमा वस्तु का प्रकाशन है, इस नाते प्रमाता उसका प्रकाशयिता हुआ।[3] प्रमिति या प्रमा को व्यापार माना गया है, अतः प्रमातृत्व का अर्थ है प्रमितिक्रिया का कर्तृत्व।[4] प्रमा-समूहों के संयोजन-वियोजन आदि का आधायक अहंप्रत्यवमर्श है प्रमाता – इस अर्थ में प्रमितिक्रियाकर्तृत्व को समझने का प्रयास किया गया है। यह कर्तृत्व अर्थात् स्वातन्त्र्य (बहिर्मुख) वेदनरूप प्रमाण और प्रकाशन रूप प्रमा से प्रमाता को व्यावृत्त करता है।[5]

---

१. ई.प्र.वि.वि.,२, पृ. २१२

२. प्रमिणोतीति प्रमाता प्रमातृत्वादेवावश्यं मेयमानादिक्षोभेन भवितव्यम् इति। – तं.वि., ५, पृ. २०६०

३. प्रमायां स्वतन्त्रः प्रमाता, प्रमा च प्रकाशनम्। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. २१७

४. प्रमितिक्रियाकर्तृत्वलक्षणं प्रमातृत्वम्। – तं.वि., २, पृ. ८२२

५. (अ) प्रमाता नाम प्रमाणादतिरिक्तः प्रमासु स्वतन्त्रः संयोजनवियोजनाद्याधानवशात् कर्ता दर्शितः। – ई.प्र.वि., १, पृ. ३०९

(आ) प्रमासमूहानां संयोजनवियोजनादिकरणे समर्थः स्वतन्त्रोऽहंप्रत्यवमर्शः। – तदेव, पृ. १२९

(इ) एतदेव वेदनाधिकं वेदितृत्वं वेदनेषु संयोजनवियोजनयोः यथारुचि करणं स्वातन्त्र्यं, कर्तृत्वं च एतदेव उच्यते। – ई.प्र.वि., १, पृ. १६४-१६५

प्रमातृस्वातन्त्र्य की इस धारणा का बीज व्याकरण में मिलता है।[६] काश्मीरी शैव दार्शनिक उसी का अपने अनुगुण परिष्कार करते हैं। प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक अपने इस निश्चय पर बौद्ध, काणाद और सांख्य मतों की समीक्षा द्वारा पहुंचते हैं। बौद्धों के यहाँ प्रमाता कल्पित है, केवल स्वसंवेदनमात्र ही प्रमाता के स्थान पर काम करता हैं। वैशेषिकों के यहाँ कर्ता ज्ञान से भिन्न, द्रव्यविशेष है जो ज्ञान के आश्रय के रूप में मान्य है। सांख्यों में कर्ता चिद्रूप होकर भी निष्क्रिय है। शैव दार्शनिकों की भाषा में वह विमर्शशून्य संविद्रूप है। ज्ञान का अर्थ है ज्ञान–विषय की संविन्निष्ठ सिद्धि। परन्तु इन तीनों में वह संविन्निष्ठा सिद्धि संभव नहीं है।[७] क्योंकि बौद्धों की भांति बुद्धि में आकार के समर्पण द्वारा, वैशेषिक की भांति एकसामग्रीक होने के कारण, सांख्य की भांति जनक होने के कारण वस्तु ज्ञान का विषय बनती है। परन्तु यदि वह वहीं तक अर्थात् प्रमेयशरीरमात्र तक ही सीमित होती तो केवल यही ज्ञान होता कि 'मैंने' पदार्थ देख लिया है, पर 'यह खास तिनका या घास है' इस प्रकार विशिष्ट रूप में वस्तु ज्ञान का विषय नहीं बन पाती। इसके विपरीत होता यह है कि 'यह घास है' (तृणमिदम्) इसमें प्रकाशरूप 'यह' (इदम्) और विमर्शरूप 'घास है' (तृणम् इति) दोनों विषय भाग से परे संविद् भाग (प्रमातृरूप चिद्) में विश्रान्त होते हैं। संवेदन यदि विमर्श से रहित हो तो वह संवेदन नहीं रहता। और यदि वह विमर्शमय है तो विमर्श करने की यह स्वतन्त्रता ही प्रमातृता है, स्वप्रकाशत्व है।[८]

उत्पल अपनी प्रसिद्ध कारिका "या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता। अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः।" (ई.प्र.का. १/७/१) में अनन्तकालान्तर्मुखसंवेदनरूपता की शब्दावली में प्रमाता की प्रमाणमीमांसीय अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं। सारे प्रमाण जिनका स्वभाव बहिर्मुख प्रकाशात्मक ज्ञान है, सारे प्रमेय जो आभास रूप हैं और इन बहिर्मुख ज्ञानों के अंदर भासित हो रहे हैं, सारी प्रमाएँ जो उनमें से एक–एक आभास को लेकर 'यह यह है' इस प्रकार से अनन्त प्रकार का विकल्पमय विमर्शन करती हैं, अपने स्वातन्त्र्य से उन्हें एक विषय के रूप में स्थापित करने (संयोजन), भिन्न विषयों के रूप में उन्हें अलग करने (वियोजन), अपने से भेदन करने (अपोहन), और 'अहं' इस परामर्श के द्वारा अपने अंदर विश्रान्त करने वाला प्रमाता कहलाता है। इस प्रकार प्रमाता का उचित परिचय है, घट के निर्विकल्प प्रकाश और सविकल्प ज्ञान दोनों की अहंरूप प्रतिष्ठा–भूमि।

६. प्रमाता स्वतन्त्रः। स्वातन्त्र्यं च कारकफलोपभोक्तृत्वम्। –. न्या.वा., १, पृ. ९

७. तत् संवेदनमात्रमस्तु किं प्रमात्रा कल्पितेन। भवतु वा असौ तथाहि संविदाधारमात्ररूपोऽसौ काणादवत्, संविद्रूपोऽपि वा विमर्शशून्य एव सांख्यवदस्त्विति संक्षेपेण बौद्ध–काणाद–कापिलव्यामोहं विहन्तुमाह, 'संविन्निष्ठा हि' इति। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ५३

८. न च एवं, ततस्तृणमिदमिति प्रकाशविमर्शौ तृणांशादुत्तीर्णौ संविद्भागमवलम्बेते। [.....] एतदुक्तं भवति संवेदनमविमर्शरूपं तावत् न किञ्चित्। विमर्शमयतायां स्वातन्त्र्यं प्रमातृता स्वप्रकाशत्वमिति, कथं संवेदनमात्रं तदाधारमात्रं निर्विमर्शसंविद्रूपं वा सिद्ध्येदिति। – तदेव, पृ. ५४

प्रमातृत्व के अनु–प्रत्यय

प्रमातृत्व का प्रमागत स्वातन्त्र्य में परिघटन (reduction) कर कई अनु–अवधारणाओं का उपयोग करते हुए शैव दार्शनिक अत्यन्त मूलगामी और दूरगामी विश्लेषण करते हैं। ये अनु–प्रत्यय हैं – (१) अधिष्ठानकारित्व, (२) व्यापनकारित्व, (३) अनुसंधानकारित्व और (४) व्यवस्थाकारित्व।

अधिष्ठातृत्व का अर्थ है अपने से भिन्न सारे अर्थों की प्रकाशमानता का विमर्शतया विश्रान्ति स्थान होना। यही पक्ष ज्ञानों और प्रमाणों में प्रमाता की पूर्वसिद्धता, प्रागनुभविकता का हेतु बनता है।[९] सर्वसिद्धिसमाश्रयता के जिस प्रत्यय का पहले उल्लेख हुआ है, उसका ज्ञानमीमांसीय परिकल्पन इसी अर्थ में होता है। शुद्ध प्रमाता में यह प्रकाशन अहंविमर्शरूप और साधारण (मायिक) प्रमाता में अहंविकल्परूप होता है। चेतन प्रमाता की प्रतिष्ठानरूपता सार्वत्रिक है। मायाप्रमाता में यह मायाशक्ति के द्वारा आरोपित होती है, अतः भेदबुद्धिपूर्वकता के कारण यह सार्वत्रिकता सिकुड़ जाती है।[१०]

प्रमाता में प्रमा की इस विश्रान्ति का कोई एक नियत रूप नहीं है। उसके असंख्य प्रकार हो सकते हैं। यह विश्रान्ति (१) कभी अनाश्लेष भाव से वस्तुओं का अलग–अलग विषयन करती है, जैसे 'घड़ा है', 'कपड़ा है'; (२) कभी वस्तुओं का परस्पर उपरंजन करती हुई, जैसे 'नीला' 'कमल'; (३) कभी प्रयोज्य–प्रयोजक भाव के अवभासनपूर्वक होती है, जैसे 'आग से धुआँ'; और (४) कभी विमर्शात्मक फलानुवृत्ति (अर्थात् प्रमा की एकतानता) को भङ्ग करती हुई, जैसे 'यह सीप है, चांदी नहीं'।[११] ध्यान देने की बात यह है कि इस विश्रान्ति का मार्ग प्रमाण के द्वार से जाता है। प्रमेय प्रमाण के रास्ते प्रमाता में विश्रान्त होता है, सीधे नहीं।[१२]

---

९. सर्वे प्रमातुरन्ये येऽर्थाः तेषां या सिद्धिः प्रकाशमानता तस्या यतः स प्रमाता निबन्धनं विश्रान्तिस्थानं विमर्शरूपतया समाश्रयः [.....] इत्यादिपूर्वसिद्धत्वे हेतुत्वेन समाश्रयः। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ५२–५३

१०. तेन संविदेव सर्वत्र प्रतिष्ठास्थानम् सा परं शून्यादौ मायाशक्त्या समारोप्यते इति संकुचिता उच्यते। – तदेव, पृ. ६२

११. तच्च एकं विश्रान्तिस्थानं प्रमातृतत्त्वं नाम। तत्र हि विश्राम्यतां ज्ञानानां न एकरसैव सर्वत्र विश्रान्तिः। तथा हि घट इति पट इति ज्ञाने परस्पराभासानाश्लेषेणैव विश्राम्यतः, नीलमिति उत्पलमिति परस्पराभासोपरागप्रावण्येन, अग्नेर्धूम इति प्रयोज्यप्रयोजकसत्ताकत्वभासनपुरःसरीक्रियया। एवमन्यदपि ऊह्यम्। [.....] तत्र एकत्र प्रमातरि शुक्तिका इयमिति, न इदं रजतमिति च ज्ञानं [.....] विमर्शात्मक–प्रमाणफलानुवृत्तिं विध्वंसयति, विध्वंसयच्च विश्राम्यति। – तदेव, २, पृ. ३७२

१२. प्रमेयस्य प्रमाणद्वारेण प्रमातरि विश्रान्तिः, न तु स्वमुखेन। – तदेव, २, पृ. ३६२

व्यापनकारिता, व्यापृत्व प्रमातृत्व के घटकतया दूसरा अनु–प्रत्यय है। प्रमाता व्यापक है, वस्तु व्याप्य है। इसी कारण प्रमाता प्रमेय को, पारिभाषिक रूप से व्यापक व्याप्य को, स्वात्मसात् करता है। *स्पन्दकारिका ३/११४*[१३] का आश्रय लेते हुए विमर्शिनी के टीकाकार भास्कर शब्दश: कहते हैं कि ज्ञान–क्षण में प्रमेय का अस्तित्व प्रमाता के अस्तित्व से भिन्न नहीं होता – तन्मयीभावासादन की इस प्रक्रिया को वह व्यापकीभवन की प्रक्रिया कहते हैं। प्रमेयता अब शुद्धप्रकाशरूपता में बदल जाती है।[१४]

अनुसंधानकारित्व प्रमातृत्व रूप स्वातन्त्र्य का तीसरा घटक है। वस्तुगत्या अनुसंधातृत्व और अनुसंधान को शैव दार्शनिक एकाकार मानते हैं। उत्पल प्रमातृत्व की परिभाषा ही पदार्थों और ज्ञानों दोनों के एकतानुसंधान के शब्दों में करते हैं।[१५] चित्तत्त्व और अनुसंधान के सामानाधिकरण्य को लक्षित करते हुए अभिनवगुप्त अनुसंधान को वस्तु–जगत् में पदार्थों, और ज्ञान–जगत् में ज्ञानों के 'एकीकरण' (एक करना), 'एकीभवन' (एक होना) और 'मिश्रीकरण' (आपस में मिलाना) के त्रिविध अर्थों में लेते हैं। एकीभवन अर्थ में अनुसंधान शब्द में धा धातु का प्रयोग कर्मकर्तृविषयक (कर्ता और कर्म की एकता) है और एकीकरण तथा मिश्रीकरण में क्रिया और कर्ता की अभिन्नता अंतत: द्योतित होती है।[१६] विषयों और ज्ञानों दोनों की एकता के इस प्रमातृरूप आधार का यह फैलाव देश और काल दोनों में होने के कारण आनुपूर्व (vertical) और समविस्तारी (horizontal) दोनों है।[१७]

चौथा परिघटन है **व्यवस्थाकारित्व** की शब्दावली में। वस्तुत: ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में यह मूलभूत प्रमातृ–व्यापार है। अन्य सारे व्यापार इसी के अनुजीवी हैं। व्यवस्था है विषय का स्वरूपमर्यादा से परिभाषित किया गया अवस्थान।[१८] सारे प्रमाण–व्यापार यहाँ

---

१३. दिदृक्षयैव सर्वार्थान्यदा व्याप्यावतिष्ठते।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते।।

१४. व्यापकीभवंश्च तद्वस्तु स्वात्मसात् करोति, तन्मयीभावासादनं च शुद्धप्रकाशरूपत्वासादनमेव। – भा., १, पृ. १२९

१५. चित्तत्त्वमेव [.....] अशेषपदार्थज्ञानानामन्योन्यानुसन्धानम्। – ई.प्र.वृत्ति १/३/७

१६. सामानाधिकरण्येन अनुगामित्वेन संधानं विच्छिन्नसम्मतानामपि ज्ञानानामेकीभवनं नाम चिदेव अन्तर्मुखा [.....]। तदत्र दधाति: कर्मकर्तृविषय:। [.....] अथ मिश्रीकरणं संधानं [.....] मिश्रीकर्तुश्चित्तत्त्वाद् अनन्यत्वमिति युक्तमेव अभेदेन उपचरणं क्रियाकर्त्रो: परमार्थत: ऐक्यात्। – ई.प्र.वि.वि.,१, पृ. २७६

१७. तेनैक्यं भिन्नकालानां संविदां वेदितैष स:। – ई.प्र.का. १/४/३; और भी देखिए ई.प्र.वृ., पृ. १०३

१८. प्रमातुर्यो व्यापारो व्यवस्थाकारित्वं नाम, तदनुजीवितया तद्व्यापारवशीकृतानि। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ३५९

तक कि गौण प्रकार भी इस व्यवस्था में सिमट जाते हैं।[१९] इस स्वरूप–व्यवस्था के कारण ही एक प्रमाता सारे ज्ञानात्मक प्रसंगों में स्वरूप की अभिन्नता के बावजूद भी, विषयगत बोध की प्रकृति के अनुसार भिन्न–भिन्न नामों से पुकारा जाता है – जैसे अनुभविता, निश्चेता, स्मर्ता, प्रत्यभिज्ञाता, विकल्पयिता इत्यादि।[२०] व्यवस्थाकारित्व की धारणा को अभिनव प्रमाण की स्वरूपेयत्ता से जोड़ देते हैं। बौद्धों पर प्रच्छन्न कटाक्ष करते हुए वह कहते हैं कि बिना प्रमाता के प्रमाण का प्रवर्तकत्व, प्रापकत्व स्वभाव ही अस्त हो जाएगा।[२१] वस्तुत: प्रमाता को न स्वीकार करके भी स्वसंवेदन को स्वीकार करके उसी पर नित्यत्व और व्यापकत्व का आक्षेप करके, बौद्ध प्रमातृतत्त्व को अपना लेते हैं, जबकि काश्मीरी शैवों के यहां नित्यता और व्यापकता स्वसंवेदन का स्वरूप है । दोनों में यही अंतर है।[२२]

स्थायित्व और आदिसिद्धत्व

यह प्रमाता न केवल प्रमाण से ही पूर्वसिद्ध है अपितु ज्ञानात्मक व्यापार के बाद भी उसकी सत्ता बनी रहती है। इसीलिए वह स्थायी है। चैतन्यरूप प्रमाता के स्थायी अधिकरण में ही प्रमाणों की योजनारूप युक्ति संभव है।[२३] प्रमाता के स्थायित्व की अवधारणा आत्मवादी दर्शनों का निर्विवाद अभ्युपगम है। काश्मीर शिवाद्वयवाद के संदर्भ में याद केवल यह रखना है कि परम प्रमाता अर्थात् महेश्वर का यह स्थायित्व आत्यन्तिक है, जबकि जागतिक प्रमाता का सापेक्षिक। मायाप्रमाता तात्त्विक दृष्टि से संकोचजन्मा है और शून्य, प्राण, बुद्धि, देह आदि उपाधियों से उपहित है, अत: तत्त्वत: वह भी मेय है। पर वह, परिवर्तनशील होने के कारण क्षणिक या अस्थायी ज्ञानविषय अर्थात् प्रमेय की दृष्टि से स्थायी है। यही स्थिति प्रमाण की दृष्टि से है। प्रमाण भी प्रमेयोन्मुख होने के कारण बहिर्मुख संवेदनरूप है, परिवर्तनशील है और इस कारण से हर समय नया (अभिनवोदय)

---

१९. माता सकलकरणग्रामप्रसवनिमित्तत्वात्। – तं.वि.
इस उद्धरण का पूरा विवरण लिखने से छूट गया है।

२०. यद्यपि अनुभवन–निश्चयन–स्मरण–प्रत्यभिज्ञान–विकल्पनशक्तिस्वातन्त्र्यलक्षण एव वस्तुत: प्रमाता, तथापि तत्र तत्र भागे तथा व्यपदेश इति। – ई.प्र.वि.वि.,२, पृ. १७

२१. प्रमाणमेव प्रमात्रा विना न प्रवर्तकं न प्रापकमिति प्राप्तिपर्यन्त: प्रवृत्त्यङ्गभावोपगमनसद्य:प्रदर्शनमुख: प्रमाणस्य स्वभाव: प्रामाण्यलक्षणोऽस्तमियादेव। – तदेव, पृ. ३५९

२२. तस्मात् स्वसंवेदनमङ्गीकुर्वद्भि: प्रमातृतत्त्वमङ्गीकृतमेव तस्यैव नित्यव्यापकैकरूपत्वाक्षेपेण सिद्धेरित्यलं बहुना। – तदेव, पृ. ३६१

२३. तदैक्येन विना न स्यात्संविदां लोकपद्धति:।
प्रकाशैक्यात्तदेकत्वं मातैक: स इति स्थितम्। – ई.प्र.का. १/८/१०

है। जब कि प्रमाता उसी बहिर्मुख संवेदन का देश और काल से अपरिच्छिन्न अंतर्मुख स्वरूप है। इसी अर्थ में वह स्थायी है।[२४]

जैसा कि अभिनव का स्वभाव है, वह स्थायित्व के प्रत्यय की तलस्पर्शी चर्चा करते हैं। वे प्रमातृत्व की तीन अवस्थाओं की परिकल्पना करते हैं और उन्हें क्रमानुपाती अन्वर्थ नामों से पुकारते हैं – उपक्रमा, मध्या और उपसंहारा और इन्हें क्रमशः प्रमातृत्व के तीन प्रकारों से जोड़ते हैं – विशुद्ध प्रमाता, अर्थप्रमाता अर्थात् विषयप्रमाता और लोकप्रमाता। विशुद्ध प्रमाता के बोध का आकार है, केवल अहम् – 'अहमिति'। यह अविरत प्रकाशता से युक्त है, इसलिए इसकी प्रमातृता पूर्णतः स्थिर है। अर्थप्रमाता के बोध का आकार है – 'नीलं जानामि इति'। यह केवल विषयज्ञान में प्रवृत्त होता है, अतः इसकी स्थिरता प्रमेयानुसारी है। लोकप्रमाता के बोध का आकार है (भले ही उसे शब्दशः न कहा जाए) – 'नीलमेतदर्थक्रियाकारि' (नील इस अर्थक्रिया को करने वाला)। लोकप्रमाता का स्थैर्य अर्थक्रिया से नियन्त्रित होता है। सामान्यतः लौकिक प्रतीति और प्रवृत्ति अर्थक्रियामूलक होती है, अतः प्रमेयता अर्थक्रियानियन्त्रित है। फलतः इस स्तर पर प्रमातृता भी अर्थक्रियानियन्त्रित होती है।[२५]

इससे यह भी प्रतिफलित होता है कि परम प्रमाता की प्रमातृता सर्वसमावेशी होती है पर अनुभवजगत् में यह प्रमातृता नियत होती है। इस नियतता का कारण उसका अपना ज्ञानविषय है। ग्राह्य और ग्राहक का जोड़ा परस्परानुरूपता में ही बन पाता है। जिसकी

---

२४. नहि प्रमाता नाम ज्ञानव्यतिरिक्तं किञ्चित्, अपितु ज्ञानानां बहिर्मुखसंकोचभाजाम् यदन्तर्मुखम् अदेशकालभेदप्राणितं तदेव स इति। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. २२३; और भी ई.प्र.वि., २, पृ. ७

२५. शुद्धस्य प्रमातृत्वस्य न दोलायमानता शङ्क्या अविरतप्रकाशत्वात्। अर्थप्रमातृत्वस्य च इयमेव अविचलता या प्रमेयस्य [.....]। लोकस्य च बाह्यार्थसाध्यामर्थक्रियां प्रति भरः। [.....] अहमित्युपक्रमा, नीलं जानामि इति मध्या, नीलमेतदर्थक्रियाकारि इत्युपसंहारा लोकस्य प्रतीतिः। – ई.प्र.वि.वि.,१, पृ. ८४

इन तीनों स्थितियों को निम्नलिखित सारणी द्वारा प्रस्तुत करना सुकर होगा :

।सारणी २।

प्रमातृत्व	स्थैर्य की प्रकृति	आकार	संज्ञा
(१) विशुद्ध	पूरी स्थिरता (अविरत प्रकाशत्व से युक्त होने के कारण)	'अहम्' इति	उपक्रमा
(२) अर्थप्रमाता	प्रमेयानुसारी	'नीलं जानामि' इति	मध्या
(३) लोकप्रमाता	अर्थक्रियानियन्त्रित	'नीलमेतदर्थक्रियाकारि'	उपसंहारा

चेतना में जो विषय अवभासित होता है वह उसी विषय का प्रमाता होता है। इस प्रकार व्यवहार जगत् में काश्मीरी शैवों का नियतप्रमातृवेद्यता के सिद्धान्त में विश्वास है, ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

प्रमाता को मेय केवल एक सीमित अर्थ में ही कह सकते है अर्थात् प्रमेय–प्रमाता के भिन्नतया भासित हो जाने पर प्रमाता प्रमेय होकर ही प्रमाता बनता है। परन्तु प्रमाता की यह प्रमेयता दूसरे प्रमाताओं के प्रति उसकी आभासरूपता को लेकर है (प्रमातृता को लेकर नहीं)। प्रमाता के रूप में वह संकोचावस्था में अपने प्रमेय को लेकर प्रागनुभविक, आदिसिद्ध ही रहता है। प्रमाता चाहे पर हो या स्व, परन्तु वह प्रमातृत्वेन किसी भी रूप में परप्रकाश नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में जैसे एक ज्ञान दूसरे ज्ञान का विषय नहीं बनता, वैसे ही प्रमाता भी दूसरे प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता।[२६] अभिनव प्रमाता को प्रमाण की आंतरिक संरचना में ही प्रतिनिविष्ट मानते हैं। क्रिया के साथ व्याप्तिग्रहण के समय उसकी वर्तमानता अनुमानकाल से पहले उसकी पूर्वसिद्धता को प्रमाणित करती है। प्रत्यक्ष के समय नीलादि के स्वरूप को प्रतिष्ठित करने वाले चैतन्य का अहंरूप अनुसंधान प्रमाता की पूर्वसिद्धता का प्रतीक है।[२७] प्रत्येक मानात्मक व्यापार के हर चरण में प्रमाता की पूर्वसिद्धता उस व्यापार को मानात्मक बनाती है।[२८] प्रमाणगत अपूर्व–प्रकाशता या पूर्वानधिगतता, प्रमाण का स्वरूप लक्षण, वहाँ असंभव है। इन्द्रियों की पहुँच से परे होने के कारण उसमें ऐन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष की संभावना नहीं की जा सकती। यह भी नहीं कि वह भात नहीं हो रहा है अतः उसे परोक्ष भी नहीं कहा जा सकता।[२९] यदि वह प्रमाण का प्रमेय माना जाए तो उस प्रमितिक्रिया में दूसरे प्रमाता का होना अनिवार्य हो जाता है।[३०] वस्तुतः प्रमेयत्व का अभाव होने के कारण न तो प्रमाण वहाँ प्रवृत्त होता है और न ही, यदि किसी प्रकार प्रवृत्ति हो भी जाए तो, कुछ सिद्ध करने की स्थिति में

२६. प्रकृतश्च ज्ञानस्य स्वप्रकाशतावादः समर्थितः। अयं हि अभिप्रायः प्रकाशस्तावदेकोऽस्तु वा, परमार्थतोऽनेको वा, प्रमातृरूपो वा। सर्वथा तावत् परप्रकाश्यत्वमस्य अनुचितमिति। – तदेव, पृ. २२२–२२३

२७. यत् आदिसिद्धम् प्रमाणान्तरैरसाध्यम् क्रियया च सह व्याप्तिग्रहणकाले अनुमानकालात् पूर्वसिद्धं चैतन्यस्वभावं यदनुसन्धानं नीलादिप्रतिष्ठापकम् अहमिति रूपं तदेव प्राधान्येन रूपं यस्य प्रमातुस्तत्स्वभावं तत्। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. १०८

२८. यदा यदा उपक्रमः, तदा तदा पूर्वसिद्धत्वमित्येषोऽत्र परमार्थः। – तदेव, पृ. ५१

२९. तदेव, १, पृ. २१९

३०. स च यदि प्रमाणप्रमेयः स्यात् तत्रापि प्रमितिक्रियायां प्रमात्रा अपरेण भाव्यम्। – तं.वि. इस उद्धरण का पूरा विवरण लिखने से छूट गया है।

होता है।[३१] पूर्वसिद्धता या आदिसिद्धता एक कालिक प्रत्यय नहीं है, वह केवल यौक्तिक अपोद्धरण (logical abstraction) मात्र है, क्योंकि सिद्धि अन्यापेक्ष होने के कारण स्वयं में प्रमेयस्थानीय है।[३२] अतः प्रमाता में सिद्धिरूप प्रमात्व एक यौक्तिक असंभावना है।[३३] इससे स्पष्ट है कि महेश्वर का परम प्रमाता के रूप में संभावन केवल तात्त्विक ही नहीं, यौक्तिक निष्कर्षण (reduction) भी है।[३४]

सौन्दर्यात्मक आयाम

प्रमातृ-विचार का एक पक्ष जो शैव चिन्तन को अन्य दर्शन परम्पराओं से अलग करता है, वह है उसका सौन्दर्यात्मक आयाम। प्रमेय की प्रमाण तथा प्रमा द्वारा प्रमाता में विश्रान्ति साधारण तौर पर प्रमाणशास्त्रीय विचार का अङ्ग बनती है, परन्तु अभिनवगुप्त इस प्रक्रिया के अंतिम चरण में, प्रमा-अनन्तर (post-pramā) प्रमाता की अपने में, स्वरूप में, विश्रान्ति की बात करके उसमें सौन्दर्यतरलता का आधान करते हैं। 'अहं नीलं जानामि' यह प्रमाता में प्रत्यक्ष प्रमाण से होने वाली प्रमेयनिष्ठ प्रमा है। किन्तु यह बोध प्रमाता में एक तुष्टि, एक तृप्ति का भाव भी जगाता है कि मैने अर्थ जान लिया है (ज्ञातो मयार्थः) । प्रमाता में जागी यह निराकांक्षता अब प्रमाता को पूर्णतः आत्मतृप्त, आत्मविश्रान्त करती है।[३५] विषय, प्रमाण और प्रमा की विश्रान्ति के बाद यह प्रमाता की प्रमाता में विश्रान्ति है। इसे अभिनव तृप्ति या हृदयङ्गमता कहते हैं। वस्तुतः ज्ञान का यह प्रत्यभिज्ञान में पर्यवसान है।[३६]

प्रमाण

मानाधीना मेयसिद्धि और व्यवहार-साधनता

अभिनव का संप्रदाय, प्रमाण में आस्थावादी दर्शन परम्पराओं से, विशेषतः

---

३१. प्रमेयत्वाभावे च न तत्र प्रमाणमुपयोगि उपपत्तिमद्वा। - ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ५१

३२. सिद्धिः अन्यापेक्षैव प्रमेयत्ववदेव। - तदेव, पृ. ५९

३३. प्रमैव अस्य सिध्यपरपर्याया न युक्ता। - तदेव

३४. प्रमातरि पुराणे तु सर्वदाभातविग्रहे।
किं प्रमाणं नवाभासः सर्वप्रमितिभागिनि।। - ई.प्र.का. २/३/१६

३५. प्रमाताऽपि प्रमेयौन्मुख्येन 'ज्ञातो मयार्थ' इति संतोषोत्पादात् निराकांक्षः सन् स्वात्मनि विश्रान्तिम् आभासयेत्। - तं.वि., ३, पृ. ७५६

३६. विशुद्धे नीलाद्युपरागशून्ये प्रमातरि या चित्स्वरूपता विमर्शमयत्वं तत्र सात्मता......। आत्मनि विमर्शस्य स्वरूपे सर्वथा निमज्जनमेकीभावोऽर्थस्य। तस्यां सत्यां मेऽर्थस्य असौ प्रमाता भवति यः शुद्धः प्रमाता। - ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ८३-८४

नैयायिकों से सहमत है कि वस्तु की सिद्धि प्रमाण के अधीन होती है।[३७] इसी दृष्टि से वह उत्पल के प्रमाण–विचार को प्रस्तावित करते हैं।[३८] मान को मेयसिद्धि या वस्तुसिद्धि तक सीमित रखकर अभिनव एक बार फिर याद दिलाने की चेष्टा करते हैं कि प्रमातृसिद्धि प्रमाणमीमांसा का क्षेत्र नहीं है, प्रमाणों की सार्थकता मात्र उनकी व्यवहार–साधनता में है।[३९] प्रश्न है कि क्या वस्तुतः ऐसा ही है? यों तो प्रमाता ही नहीं, प्रमेय और प्रमाण की भी वस्तु के रूप में सत्ता प्रमाण व्यापार के पहले रहती है, केवल अपनी प्रमाणक्षेत्रीय संज्ञाओं से ज्ञान–प्रक्रिया के समाप्त हो जाने पर उस ज्ञान की दृष्टि से वे व्यवहृत या गृहीत होते है।[४०] इस अर्थ में तीनों समकालिक हैं और परस्परापेक्ष हैं। अभिनव प्रमाता को व्यवहार क्षेत्र से बाहर नहीं करते, क्योंकि कल्पित प्रमाता भी मेय है, पर जैसा कि बार–बार कहा

३७. प्रमाणाधीना वस्तुसिद्धिः इति तत्र तत्र प्रसिद्धेः। – ई.प्र.वि., २, पृ.६६; अन्यत्र भी, ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७०

३८. नैयायिकों से हटकर अभिनव यहाँ मेय के स्थान पर वस्तु का प्रयोग करते हैं। लेकिन इसको लेकर कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इस परम्परा में वस्तु को आभास कहा गया है और आभास की संरचना में ज्ञेयता उसके घटक लक्षणों में से एक है।

३९. जैसा कि सच्चिदानंद मिश्र ने अपने उत्कृष्ट लेख "प्रमाणमीमांसा : दार्शनिक चिन्तन का आरम्भबिन्दु" (उन्मीलन, वर्ष २३, अंक १, जनवरी २००९) में युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया है कि न्याय परम्परा नागार्जुन व विज्ञानवादियों के विरोध में जिस प्रकार खड़ी होती है उसी प्रकार अद्वैतवेदान्त के भी (पृ. ६१)। न्याय व बौद्ध परम्परा के सिद्धान्तों में भेद को वस्तुतः इन दोनों परम्पराओं के द्वारा व्यवहार के प्राधान्य व अप्राधान्य देने के आधार पर ही व्यवस्थापित किया जाना उचित दिखता है (पृ. ६५)। यह बात काश्मीरी शैवों पर भी न्यूनाधिक वैसे ही लागू होती है। पर विचित्र बात यह है कि व्यवहार में (परमार्थतः नहीं) काश्मीरी शैव नैयायिकों के प्रमाण–विचार और काफी हद तक सामान्य आदि पदार्थविचार के प्रति अनुमोदन की सीमा तक सहानुभूति रखते हैं। शैवों के लिए, जो कट्टर अद्वैतवादी हैं, परमार्थतः नैयायिक से सहमत हो पाना असंभव है। फिर भी इस सहानुभूति का कारण शैवों के लिए व्यवहार को, लोकस्थिति को, अनुभव और पारस्परिक संविदा के स्तर पर सत्य मानना है, जो बौद्धों में भ्रान्त और वेदान्तियों में मायिक है। इसलिए हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए जब उत्पल के प्रमाणविचार को उपक्रान्त करते हुए अभिनव साफ बताते हैं कि प्रमाण और प्रमा के विचार का प्रयोजन ही यह निर्णय करना है कि क्रिया, संबंध आदि बुद्धियाँ (जिनके अंतर्गत प्रमाणविचार हुआ है) भ्रान्ति नहीं हैं : यदुक्तं क्रियासंबंधादिबुद्धयः न भ्रान्तिस्वभावाः (ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ३५); तदेव निर्णेतुं प्रमाणतत्फलस्वरूपं तावत् प्रसिद्धमनुवदति।(ई.प्र.वि., २, पृ. ६७) और जो सबसे आश्चर्यजनक बात है, जिसकी तार्किक परिणतियां व्यवहार से परे जाती हैं, वह है आगम प्रमाण, जो शैवों का सशक्ततम प्रमाण–प्रकार है, को प्रसिद्धि या अनादि व्यवहार से एक रूप मानना। न्याय का शब्दतः समर्थन और परमार्थतः विरोध दोनों परम्पराओं के गंभीर तुलनात्मक अध्ययन की दिशाएँ खोलता है।

४०. तदेव, पृ. ६६

गया है कि वह आभासत्वेन ही मेय है[४१], ज्ञातृत्वेन वह ज्ञान-प्रक्रिया की घटमानता के क्षण भी उस ज्ञान की दृष्टि से भी पूर्वसिद्ध और अनन्तरसिद्ध ही रहता है। और तत्त्वमीमांसा को दर किनार भी कर दिया जाए तो भी ज्ञान की संघटना का विश्लेषण करने पर जहाँ 'अस्तित्वत:' सारे घटकों की विश्रान्ति प्रमाता में होती है, वहीं वस्तुतया अवस्थित घटक अपनी वस्तुसत्ता में भी प्रमाता के द्वारा 'ज्ञानत:' पुनर्मूल्याङ्कित होकर ही प्रमेय आदि के रूप में गृहीत होते हैं।[४२] यही कारण है कि व्यवहार-साधन के रूप में भी प्रमाण घटकों की और स्वयं अपनी मौलिक स्वप्रकाशता का ही विजृम्भण करता है।[४३]

४१. ननु दृष्ट: प्रमातरि प्रमेयताव्यवहार: उपदेशादौ। न असौ प्रमातरि, अपितु नीलादिस्थानीये सृष्टे वस्त्वन्तरे एव। - ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ५५

४२. नीलसुखादिव्यवहार: प्रकाशविमर्शात्मकसिद्धिनिबन्धनभूतप्रमात्रविनाभावी प्रमेयव्यवहारत्वात्। - तदेव, पृ. ५४

४३. व्यवहारसाधनेषु च प्रमाणेषु मौलिकप्रमाणसिद्धमेव रूपं प्रपतति। तदिहापि मौलिकं स्वप्रकाशत्वमेव जृम्भते। - तदेव, पृ. १०९-११०। संप्रदाय में सामान्यत: प्रमाता और प्रमाण स्वप्रकाश, और विषय प्रमातृ-प्रमाणप्रकाश्य (दूसरे शब्दों में, परप्रकाश्य) प्रतिपादित होते हैं। परन्तु प्रत्यभिज्ञा के परमाचार्य सोमानन्द में एक जगह [संदर्भ ज्ञानमीमांसीय नहीं है पर युक्ति अवश्य ज्ञानमीमांसीय है, दर्शनान्तर में इसकी अन्यथा व्याख्या भी की जा सकती है। यहाँ हमारे लिए वह साम्प्रतिक नहीं है।] ऐसा लगता है कि वह प्रमेय को भी स्वप्रकाश्य या स्वयंग्राह्य मानते हैं। ग्राह्य शब्द को णिजन्त मानकर ही इस अंश को समझा जा सकता है, कुछ वैसा ही जैसा भर्तृहरि शब्द को उपग्राह्य और उपग्राहक (शब्द के अपने स्वरूप को ग्रहण कराना और शब्द के अर्थ को ग्रहण कराना) कहकर कहना चाहते हैं। सोमानन्द का मानना है कि विषय स्वयंग्राह्य होकर (अर्थात् अपना ग्रहण कराने की शक्ति के कारण) ही प्रमेय बनते हैं। यदि पदार्थों में ग्राहकता-शक्ति (यह प्रयोग हमने सुविधा की दृष्टि से किया है और यहाँ भी ग्राहकता में णिच् मानना होगा, अर्थात् ग्रहण करना नहीं, ग्रहण कराना : विषय द्वारा अपना ग्रहण कराने की शक्ति) न मानी जाए तो विषय-ज्ञान संभव नहीं होगा। उदाहरण के लिए चक्षु इन्द्रिय का संयोग कपड़े के थान के ऊपरी भाग से होता है अंदर हम नहीं देख पाते, फिर भी हमें कपड़े का संपूर्ण ज्ञान है ऐसा व्यवहार होता है। विषय में ग्राहकता शक्ति न हो तो ऐसा कभी संभव नहीं है :

यदि ते न स्वयंग्राह्या गृह्यन्ते नैव चक्षुषा।।
बाह्यावयवतद्योगात्तदन्तरवियोगत:।
परो गृहीत: सकल इति न स्यात् प्रमा क्वचित्।। - शि.दृ. ५/४०ब-४१

इस अंश पर उत्पल की पदसंगति अप्राप्त है, उससे निश्चित ही प्रस्तुत व्याख्या की प्रामाणिकता पर प्रकाश पड़ता। सोमानन्द आगे चलकर फिर कहते हैं :

(अ) तेन पूर्वोक्तया नीत्या भावानां स्वग्रह: स्थित:।। - तदेव ५/७६

(ब) ज्ञानस्वरूपग्रहाणानां तद्ग्रहात् तद्ग्रह: किल। - तदेव ५/८८ (Bright Mayer-könig इस कारिका को उपर्युक्त ५/४०ब् से जोड़ती हैं। - पृ.१३८)

इससे स्पष्ट है कि प्रमाण यहाँ 'प्रकाशक' है। इस विशेषता को हम बौद्ध और न्याय की तुलना से और अधिक समझ सकते है। न्याय में प्रमाण 'निरूपक' है और बौद्धों में 'प्रापक' या 'प्रवर्तक'। प्रमाण की भूमिका है वस्तु के प्रमेयतया 'व्यवस्थापन' या 'परिच्छेदन' की। यही प्रमेय का प्रकाशन है।

प्रमाण के संबंध में भारतीय दर्शन में तीन दृष्टियाँ सामान्येन अपनाई गयी हैं। आचार्य गोस्वामी श्याममनोहर ने भारतीय दर्शन की योजनाबद्धता पर अपने असाधारण लेख[४४] में इन दृष्टियों के अनुसार दिए गए तीन लक्षणों की चर्चा की है (१) **यथार्थानुभव: प्रमाणम्,** (२) **अविसंवादिफलप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं प्रमाणम्,** (३) **अनधिगताबाधितार्थ-विषयकं ज्ञानं प्रमाणम्।** हर्षनारायण इन्हें क्रमश: संवादिता दृष्टि, अर्थक्रियासिद्धि दृष्टि और संगति दृष्टि से जोड़ते हैं[४५] जो क्रमश: Theory of correspondence, Theory of utility और Theory of coherence के समकक्ष समझी जा सकती हैं। यद्यपि गोस्वामी जी इन तीनों को ज्ञान के तीन स्तरों – वस्तुप्रमाण, वस्तुव्यवहार और वस्तुलक्षणबोध – में चरितार्थ देखते हुए निर्विकल्प ज्ञान, सविकल्पक ज्ञान और परोक्षापरोक्ष वस्तुज्ञान या वस्तुप्रत्यय की व्याख्या के एक युक्तिसंगत चौखटे को उद्विकसित करने की चेष्टा करते हैं, तथापि विभिन्न मतों में दर्शनविशेष की निष्ठा एक दृष्टिविशेष तदनुसार लक्षणविशेष के साथ रही है। इस प्रकार प्रथम लक्षण 'यथार्थ अनुभव प्रमाण है' – अनुभूति के अर्थानवर्तित्व को उपलक्षित करता है। **तद्वति तत्प्रकारकम् ज्ञानम्** इसे प्रकट करने की मान्य विधा है। इस मत में न्याय दर्शन की निष्ठा सर्वविदित है। द्वितीय प्रवृत्तिसाफल्य में अर्थक्रियासिद्धि को उद्दिष्ट करता है। इसे संवादी, अर्थक्रियासंवादी या फलाविसंवादि-प्रवृत्तिजनक ज्ञान कहा जा सकता है। यह मुख्यत: बौद्ध न्याय को अभीष्ट है, जहाँ मुख्यत: इसे अर्थसारूप्य के रूप में देखा जाता है। तीसरी विधा जो ज्ञान की आंतरिक संगति पर निर्भर करती है, जिसे अनधिगत और अबाधित विषय के ज्ञान की शब्दावली में प्रस्तुत किया जाता है, मुख्यत: अद्वैतवेदान्त को अभिप्रेत है। काश्मीरशैव मत भी ज्ञान की आंतरिक संगति पर ही प्रमाण के स्वरूप को स्थिर करता दिखाई देता है। अप्रतिहतानुवृत्तिकविमर्शफलविधायित्व[४६] की शब्दावली में ज्ञान की आंतरिक संगति की

४४. "भारतीय दर्शन के विकास में प्रस्तावित विभिन्न योजनाबद्धताओं की रूपरेखा", अवतारवादावलि की भूमिका में नवम दृष्टि के अंतर्गत, पृ. ३६–४०

४५. आद्या संवादित-दृष्टिर्, द्वितीया सङ्गतिस्तथा।
तृतीयाऽर्थक्रियासिद्धिश् चेति दृष्टित्रयी मता।। – प्र.का. ६/५४

४६. ई.प्र.वि., २, पृ. ८३

व्याख्या की गयी है। प्रमाण का 'प्रकाशक' होना इसका पर्याय कहें या प्रतिफलन, युक्तितः एक ही बात है।[४७]

प्रमाण–लक्षण

प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति भारतीय दर्शन में दोनों प्रकार से की गयी है, भाव में और करण में भी। पहले में यह प्रमा का वाचक है और दूसरे में प्रमा के करण का।[४८] सर्वार्थसिद्धि[४९] में पूज्यपाद इन दोनों के अतिरिक्त अर्थात् प्रमाता के अर्थ में भी प्रमाण शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु प्राधान्येन प्रमाण की करणार्थक निरुक्ति 'प्रमीयतेऽनेन' ही भारतीय दर्शन में मान्य हुई है। प्रत्यभिज्ञा मत इसका अपवाद नहीं है। महेश्वरानन्द प्रकाश और प्रमाण का समीकरण करते हुए इसी प्रकार इसे निरुक्त करते हैं – **प्रकाश्यतेऽनेनेति प्रमेयजातमिति व्युत्पत्त्या प्रकाशः प्रमाणम्।**[५०] अभिनवगुप्त उत्पल की विवृत्ति में आए 'प्रमितिक्रियाकरण' की व्याख्या प्रमाण पद से कर इसमें संशय नहीं रहने देते।[५१]

प्रमाण ज्ञान–प्रक्रिया की केन्द्रीभूत कड़ी है – प्रमेय और प्रमाता के बीच की खाई पाटने वाली। प्रमेय प्रमाण के द्वार से ही प्रमाता में अपना ठिकाना ढूंढता है।[५२] जयरथ प्रमाता को प्रमाण का आश्रय और प्रमेय को प्रमाण का उपाश्रय मानते हैं, फलतः प्रमाता का ही बहिर्मुख होने के नाते एक ओर प्रमाण में प्रमाता का अंतर्भाव और ज्ञान का उपाश्रय के बिना न हो सकने के कारण मेय का अगत्या आक्षेप होता है। बहिर्मुख प्रकाश और अंतर्मुख विमर्श के रूप में प्रमाण और प्रमा की एकता मानी गयी है। अतः प्रमाण ज्ञान–प्रक्रिया में अपनी सामर्थ्य से केन्द्र बिन्दु के रूप में उभरता है।[५३] उत्पल ने प्रमाण का

४७. प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक इस संगति के लिए संवाद शब्द का भी प्रयोग करते है, पर यह बौद्धों से भिन्न अर्थ में शैव दर्शन की आत्मोपज्ञ व्याख्या के साथ किया गया है। अतः इस प्रयोग से भ्रम नहीं होना चाहिए। यहाँ यह भी कहना उचित होगा कि सच्चिदानंद मिश्र ("प्रमाण–मीमांसा", पृ.७५) के सुझाए गए दो विकल्पों, युक्तिसंगति और अनुभवसंगति, में प्रत्यभिज्ञादर्शन अनुभव–संगति का ही वरण करता है। युक्तिसंगति अनुभवानुसारी होकर ही ग्राह्य होती है।

४८. प्रमाशब्दव्युत्पत्तिः स्याद्भावे करणेऽपि च। – मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक, पृ. २७६

४९. सर्वार्थसिद्धि १/१० (प्र.का. में उद्धृत : ७/६३ तथा पृ. ५१, पा.टि. ३९)

५०. म.मं.प., पृ. ८८

५१. प्रमितिक्रियाकरणस्य इति प्रमाणस्य। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ७४ ; विमर्शिनी के व्याख्याकार भास्करकण्ठ भी इसे दुहराते है : प्रमाणानि [.....] बहिर्मुखवेदनरूपाणि प्रमाकरणानि। – ई.प्र.वि.(भा.), २, पृ. ६५

५२. प्रमेयस्य प्रमाणद्वारेण प्रमातरि विश्रान्तिः। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ३६२

५३. प्रमाणं च प्रमातुरेव बहिर्मुखं रूपम् इति प्रमाता तावदन्तर्भावमियात्, प्रमाणं नाम च ज्ञानं, तच्चोपाश्रयशून्यं न क्वचिदपि संभवति इत्यवश्यमेव मेयाक्षेपेण वर्तते। – तं.वि., ३, ७४२

जो लक्षण अपनी कारिका में दिया है वह प्रमाण, प्रमा और मेय के एकान्वय से प्रतिबद्ध उनकी मूलगामी दृष्टि को प्रतिबिम्बित करता हुआ समग्रीभूत लक्षण देता है –

इदमेतादृगित्येवं यद्वशाद् व्यवतिष्ठते।
वस्तु प्रमाणं तत्सोऽपि स्वाभासोऽभिनवोदयः।।

सोऽन्तस्तथाविमर्शात्मा देशकालाद्यभेदिनि।
एकाभिधानविषये मितिर्वस्तुन्यबाधिता।।[५४]

[जिसके सामर्थ्य से (कोई) वस्तु 'यह ऐसी है' इस प्रकार अपनी स्वरूपमर्यादा में रहती है (व्यवतिष्ठते) वह प्रमाण है। वह (प्रमाण) भी नए–नए रूपों में उदित होने वाला स्वप्रकाश (प्रमातृ–प्रकाश) है। वही, (अपने) अंदर उस प्रकार के विमर्शस्वभाव वाला, देश–काल आदि के भेदों से रहित एक शब्द से वाच्य वस्तु के विषय में प्रमा कहलाता है, यदि उसका बाधन न हो तो।]

वस्तु है हमारे अनुभव का विषय, जो बाह्य हो सकता है और आंतरिक भी (जैसे घट, नील या सुख, पीड़ा)। प्रमाण का मौलिक कृत्य है व्यवस्था करना। व्यवस्था का अर्थ है कि वस्तु की जो अपनी विभक्त नियत प्रकाशमर्यादा है उसमें उसका प्रतिष्ठित होना।[५५] वस्तु–स्वरूप की मर्यादा धर्मों या विशेषताओं से निर्धारित होती है। परिभाषा में आये 'इदम्' वस्तु के स्वरूप (being) और 'एतादृक्' इसके धर्म (नित्यत्व, अनित्यत्व इत्यादि) के बोधक हैं। ज्ञानात्मक शब्दावली में वस्तु का स्वरूप–मर्यादा से अवस्थित रहने का अर्थ है,[५६] वस्तु के तथात्व का निश्चय। इसमें अभिनवगुप्त 'सार्वत्रिक' शब्द को विशेषण के तौर पर जोड़ते हैं – वस्तु के सार्वत्रिक तथात्व का निश्चय।[५७] इस विशेषण द्वारा वह देशकालादिकृत भेदराहित्य और अबाधितत्व दोनों के अभिप्रायों को समेट लेते हैं। भास्करकण्ठ इस विवेचन का संग्रह करते हुए कहते हैं कि प्रमाण वह है जो वस्तु के स्वरूप और धर्म (व्याख्यान्तर से : स्वरूप के धर्म) की व्यवस्था करता है।[५८] इस विवेचन

---

५४. ई.प्र.का. २/३/२–३। इन्हें क्रमशः प्रमाणसूत्र और फलसूत्र कहा गया है। – द्रष्टव्य ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ७६

५५. (अ) नियतां प्रकाशमर्यादां नातिवर्तते। – ई.प्र.वि., २, पृ. ६८
(आ) विभक्तां नियतां मर्यादां नातिवर्तते। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७१

५६. स्वरूपस्य मर्यादया अवस्थानम्। – तदेव, २, पृ. ११२

५७. प्रमाणस्य सार्वत्रिकवस्तुतथात्वनिश्चये व्यापारोऽखण्डितः। – तदेव, ३, पृ. ९१

५८. स्वरूपधर्मव्यवस्थापकं प्रमाणम्। – ई.प्र.वि. (भा.), २, पृ. ६९

का मूल बिन्दु है वस्तु और प्रमाण के संबंध को व्यवस्थाप्य–व्यवस्थापक भाव के रूप में परिभाषित करना : वस्तु व्यवस्थाप्य है, प्रमाण व्यवस्थापक।

जैसा कि काश्मीर ग्रन्थावलि के सम्पादक (द्र. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, पाद टि. ४३, पृ. ६९) संकेत करते हैं, उत्पल प्रमाण की परिभाषा – **यद्वशाद्व्यवतिष्ठते** – स्वयं धर्मकीर्ति (प्र.वा. ३/३०८, प्र.वि. १/३७८) से लेते हैं। परन्तु बौद्धों के यहाँ कठिनाई यह है कि निर्विकल्पक ज्ञान में किसी भी प्रकार के संबंध की संभावना नहीं होती। संबंध कल्पनामात्र है। अत: 'इदमेतादृक्' ज्ञान जो व्यवस्थापनात्मक ज्ञान (judgement) है, उनके यहाँ वास्तविक अर्थों में संभव नहीं होता। नैयायिक जो सविकल्पक का प्रामाण्य मानते हैं, या शैव जो कार्यकारणभाव के अतिरिक्त ज्ञाप्यज्ञापक भाव संबंध भी मानते हैं, के यहाँ यह व्यवस्था संभव हो जाती है। 'एतादृक्' विशेषण या विधेय (predicate) है 'इदम्' (उद्देश्य) का। यही व्यवस्था या प्रमिति (judgement) है। यह विश्लेषण शैव आचार्य नैयायिकों से लेते हैं। नैयायिक एकमात्र संसर्ग में विश्वास करते हैं। अत: वस्तु का जो धर्मी या धर्माधार रूप है वह स्वरूप है, उद्देश्य है – इदं रूप है, और उसी एक धर्मी के आश्रय से सहस्रों धर्मों विशेषणों या विधेयों का विधान हो सकता है : यह सोने का विशाल सुन्दर घड़ा है (यही एतादृक्–रूपता है)।[५९] परन्तु इस निरूपण में यदि किसी को लगता हो कि प्रमाण का स्वरूपलक्षण, अर्थात् प्रमाण का अविसंवादी होना, छूट गया है तो अभिनव का कहना है कि वही असंवादिता 'वस्तु की व्यवस्था होती है' ('वस्तु व्यवतिष्ठते') का मुख्य प्रतिपाद्य है।[६०] व्यवस्था का अर्थ है अपनी नियत मर्यादा का अतिक्रमण न करना। मर्यादा है वस्तु की सीमा, परिच्छेद, विभाजक रेखा, जैसे नील की प्रतीति सुख नहीं होती, सुख की प्रतीति नील नहीं होती। दूसरे शब्दों में, प्रमेय का प्रमाण द्वारा परिच्छेदन ही व्यवस्था है, वही प्रमिति है।

प्रश्न है कि वस्तु को प्रमेयतया व्यवस्थित कौन करता है। व्यवस्था का प्रत्यय संबंध के प्रत्यय का अनुषङ्गी है। वस्तु जड़ होने के नाते अपने में सिमटी हुई (स्वात्मनिष्ठ) है, अत: वह किसी से जुड़ नहीं सकती। प्रमाता चेतन है, अत: वह दूसरे को समेट सकता है, दूसरे से जुड़ सकता है। संबंध दो संबंधियों, प्रमाता और प्रमेय, की एक दूसरे के प्रति

५९. ननु विशेषणव्यतिरिक्तं किमन्यत् स्वरूपमित्याशङ्क्याह 'वस्तुमात्रेण' इति। संसर्गैकान्तवादिनामपि हि धर्माधाररूपं स्वरूपमभ्युपेतमेव यदेकनिष्ठतया तद्धर्मसहस्रसामानाधिकरण्यापत्तिः अयं घटो रौक्मो महान् हृद्य इति। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७३

६०. ननु असंवादित्वं प्रमाणस्य यत् लक्षणं, किमिह त्यक्तमेव तत् [.....] 'वस्तु व्यवतिष्ठते' इति हि अनेन तदेव उक्तम्। – तदेव, पृ. ७३–७४

उन्मुखता का नाम है। विषय की प्रमाता के प्रति उन्मुखता विशेषण, उपराग, का रूप धारण करती हुई प्रमाता को उपरक्त करती है। यही विषयोपराग(predication) है, जो प्रमात्मक प्रतीति को निर्धारित करता है, प्रमाता से उन्मुखता की अपेक्षा करता है, अत: विषयोन्मुख होकर ही चित् विषयोपरक्त हो पाती है। विषयोपराग और प्रमात्रौन्मुख्य को परस्परान्वयी बनाने का दायित्व वस्तु को प्रमेयतया निर्मित करते हुए प्रमाण निष्पन्न करता है।

उत्पल के प्रमाणलक्षण में पहली महत्त्वपूर्ण बात है चित् या प्रकाश को ज्ञान के साधन के रूप में स्वीकार करना।[६१] वस्तु जड़ होने के कारण अपने को प्रकाशित नही कर सकती और न ही बुद्धि, क्योंकि बुद्धि भी जड़ है; यद्यपि बुद्धि ज्ञान–साधनता में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहकारी भूमिका अदा करती है। प्रमाणलक्षण में आए 'स:' शब्द का अर्थ है संविदात्मा प्रकाश। परन्तु यह प्रकाश शुद्ध संवित् या अनुपहित प्रकाश नहीं है। अपनी शुद्धता और निर्विशेषता के कारण वह सर्वत्र अपने से अव्यतिरिक्ततया व्यवस्थापक है, नील का भी, पीत का भी। व्यतिरिक्ततया, व्यक्ति के रूप में, वस्तु के बोध के लिए यह प्रकाश नील (नील यहाँ वस्तु का उपलक्षण है) से उपरक्त अर्थात् उपहित होकर ही प्रमाण बनता है। दूसरे शब्दों में नीलोपरक्त चित् ही वस्तु की व्यवस्था का हेतु है। अत: उत्पल के लक्षण की व्याख्या करते हुए अभिनव कहते हैं : विषय से उपरक्त, विषय की ओर उन्मुख और विषय के प्रतिबिम्ब या आकार को ग्रहण करती हुई चित् ही प्रमाण (प्रमाणाभास) है।[६२] उस प्रमाण का प्रमानिष्पत्ति में यही व्यवस्थापन रूप व्यापार है, इसी अर्थ में वह करण कहा जा सकता है।[६३]

इस प्रमाण के दो स्वरूप–घटक हैं। पहला है कि यह 'स्वाभास' है और दूसरा कि यह 'अभिनवोदय' है। स्वाभास का 'स्वत्वेन आभास:' पदच्छेद करने पर अर्थ है, ऐसा आभास जो प्रमाता को लगे कि यह प्रमाता का अपना अवभास है। वृत्ति और विमर्शिनी दोनों इसमें एक मत हैं।[६४] अर्थात् जो प्रमाता से अलग भासकर भी लगे कि वह ज्ञाता

---

६१. अभि., पृ. ४०१–३

६२. नीलोपरक्तो नीलोन्मुखो नीलप्रकाशस्वभाव: इत्याभास: सन् नीलस्य व्यवस्थापक: तत्प्रकाशस्वभावतैव तद्व्यवस्थापकता [.....] तेन व्यतिरिक्तीकृतस्य नीलस्य स प्रकाश:। – ई.प्र.वि., २, पृ. ६९–७०। विवृतिविमर्शिनी 'नीलोपरक्त:' के स्थान पर 'नीलोपहित:' का प्रयोग करती है।

६३. स एव प्रमाणमिति यत: स आभास: प्रमानिष्पत्तौ सव्यापार:। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७२

६४. (अ) प्रमातु: स्वत्वेन। – वृत्ति

(ब) स्वत्वेन आभासमानो य आभास:। – विमर्शिनी

की 'ममता' ('यह मेरा है' इस भाव) का विषय है।[६५] 'स्व' प्रमात्रंश का वाचक है और 'आभास' सीमित–प्रमातृगत प्रकाशता के साथ विषय के प्रतिभास अर्थात् विषयोपरक्तता को बताता है। वस्तुतः प्रमाणलक्षण में स्वाभास की धारणा अपने वाचक शब्द समेत शैवदर्शन में दिङ्नाग से आयी है।[६६] अंतर केवल इतना है कि वहाँ (विषय–)ज्ञान ज्ञान का प्रकाश है, यहाँ वह ज्ञाता का प्रकाश है।[६७] दूसरे शब्दों में बौद्ध दर्शन में ज्ञान स्वयं ज्ञाता के रूप में गृहीत होता है, शैवों के यहाँ ज्ञाता ही विषय का ग्राहक है।[६८] यदि ऐसा न होता तो हमारे इस सार्वत्रिक अनुभव 'नील को इस समय जानने वाला मैं वही हूँ जिसे पीत का ज्ञान हुआ था' की संगत व्याख्या असंभव होती।[६९]

प्रमाण का दूसरा स्वरूपविधायक धर्म है प्रमाण के विषय का हर क्षण नया होना और चूंकि प्रमाण प्रमेयोन्मुख होता है, अतः उस प्रमेयोन्मुखता के कारण प्रमाण का भी निरन्तर नवीन होना।[७०] भारतीय प्रमाणशास्त्र की भाषा में कहें तो प्रमाण का विषय अपूर्व[७१] या अनधिगत[७२] है। ज्ञान के पूर्व विषय की सत्ता ज्ञात है या अज्ञात, यह दर्शन की चिरन्तन समस्या रही है। प्रमाण–व्यवहार की प्रवृत्ति का क्षेत्र माता और मेय के व्यतिरेचन पर ही संभव होता है, अतः शैव दार्शनिक भी ज्ञान के पूर्व विषय की सत्ता को अज्ञात मानते हैं। इस अर्थ में वह एक ओर मीमांसक[७३] और दूसरी ओर बौद्ध नैयायिक[७४] के मतों से सहमति प्रकट करते हैं। देखा जाए तो यह नवता दोहरी है, इसका संबंध प्रमाण से भी है और प्रमेय से भी[७५]। अभिनव का दूसरा निष्कर्ष इससे यह है कि प्रमाण भी प्रतिक्षण

---

६५. ग्राहकाश्रयममताविषयत्वेन। – भास्करी

६६. प्रमाणसमुच्चय–वृत्ति १/९, प्रमाणसमुच्चय १/१०–११ : ई.प्र.वृ. में संकेतित, पृ. १६१

६७. मानं नवनवाभासो माता तत्प्रभवः स्मृतः। – चि.अ.शा. १/१७०

६८. प्रमाणलक्षणे प्रमातृप्रधानतासूचकं स्वग्रहणम्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १५७

६९. ई.प्र.वि., २,, पृ. ७३

७०. नवनवप्रमेयौन्मुख्यात् नवनवोदयः। – ई.प्र.वि., २, पृ. ७३

७१. अपूर्ववस्त्ववभासः। – वृत्ति

७२. किञ्चानधिगतग्राहि मानं नवनवं यतः। – मा.वि.वा. १/६३८

७३. केचिदाहुरनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम् इति। – न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ. २० : श्रीनिवास शास्त्री द्वारा बौ.द.वि. में, पृ. ९७ पर उद्धृत। शास्त्री लिखते हैं "यद्यपि धर्मकीर्ति के अनुसार भी अनधिगत (अज्ञात) पद की सार्थकता है (अतएव अनधिगतविषयं प्रमाणम् न्या.वि. , पृ.४)। किन्तु उदयनाचार्य ने इसे मीमांसक का ही लक्षण बताया है (परिशुद्धि, पृ. १५२)।" – (तदेव)

७४. अज्ञातार्थप्रकाशो वा। – प्र.वा. १/७

७५. अरिंदम चक्रवर्ती इस बात को अनूठी भंगिमा के साथ कहते हैं कि 'इदम् एतादृक्' में 'इदं' तो

नूतन सर्जना का विषय है, जिसका स्रोत विषयपक्षत: उपराग और प्रमाण(प्रकाश)–पक्षत: औन्मुख्य है।[७६] इससे तीसरा निष्कर्ष स्वत: निकलता है, जिसका संकेत भास्कर करते हैं, कि प्रमाण प्रत्येक प्रमेय के साथ बदलता जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रमाण की प्रवृत्ति प्रमेयानुसारी होती है।[७७] परन्तु प्रमाण की अपूर्वता की बात इतने संरम्भ से करके भी अभिनव बड़ी सूक्ष्मता से आगाह करते है कि अपूर्वता वेद्यांश का ही स्पर्श करती है, ज्ञानांश का नहीं। अपूर्वता होने पर विषयता घटित होती है और विषयता के घटित होने पर प्रमाणता।[७८] दिङ्नाग से प्रेरित होने पर भी वह दिङ्नाग के दोनों लक्षणों – अनधिगतविषयत्व और अपूर्वत्व– को उन्हीं के स्वसंवेदन नामक प्रत्यक्षभेद में अप्रवृत्त मानते हैं या अधिक से अधिक औपचारिक। अपने यहाँ वह इस उपचार को भी स्वीकार नहीं करते, इसलिए स्वसंवेदन की अपरिहार्यता का वरण करते हुए भी उसे प्रत्यक्ष का भेद नहीं मानते यह हम आगे देखेंगे।[७९] उत्पल की बृहती टीका के 'अपूर्वत्वम्' को वह प्रमेय की सत्ता से जोड़कर देखते हैं और 'अपूर्वप्रकाशत्वम्' को 'अपूर्व के अधिगम' से, 'अपूर्व अधिगम' से नहीं।[८०] नवनवोदयता या अपूर्वता को प्रमाण में उसके (प्रमाण के) आभास रूप प्रमाणाभास रूप में उसके स्वलक्षणत्व, वस्तुत्व या, पारिभाषिक शब्दावली में, आभासत्व को परिघटित करते हुए देखते हैं और इसी प्रमाणाभास के रूप में वह अनधिगतग्राही या अपूर्वग्राही होता है।[८१] अभिनव इसे अन्यत्र और भी स्पष्ट करते हैं कि प्रमाण का विषय अर्थात् प्रमेय जिसे 'अपूर्व' कहते हैं, वह तभी अपूर्व है जब उसकी सिद्धि दूसरे के अधीन हो। जिसकी सिद्धि स्वयं अपने अधीन हो तो वह आदिसिद्ध प्रमाता ही हो जाएगा, प्रमेय नहीं रहेगा।[८२]

प्रदत्त है, पर 'एतादृक्' निरन्तर निर्माण का विषय है। 'इदं' संवेद रूप (Sensation) है, 'एतादृक्' विषय भाव का द्योतक है। जहाँ 'इदम्' और 'एतादृक्' का सामानाधिकरण्य या समन्वय हो जाता है, प्रमिति घटित हो जाती है। अत: वे प्रमाण और प्रमाणफल–लक्षण का इस प्रकार पुनरभिधान करते हैं : "स्वाभासत्वे सति अभिनवोदयत्वे सति एकाभिधानविषयत्वे सति स्वाभासो मिति:।"

७६. स प्रमाणाभिमत: आभासो यावत् प्रमेयोन्मुखतास्वभाव: तावत् प्रमेयस्य देशकालाकाराभाससंभेदवत्त्वात् सोऽपि तथैव क्षणे क्षणे अन्यान्यरूप: स्रष्टव्य:। – ई.प्र.वि., २, पृ. ७२; भास्कर 'देशकालाकाराभास–संभेदवत्त्वात्' की व्याख्या 'उपरक्तत्वात्' से करते हैं। – भा., २, पृ. ७२

७७. प्रतिप्रमेयं प्रमाणं भिन्नमेव युक्तमिति भाव:। – तदेव

७८. विषयत्वम् अपूर्वतायां घटेत विषयत्वे च प्रमाणत्वमिति। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ६३

७९. सौगतस्य तु स्यादपि उपचारबीजं प्रमेयतायां पूर्वानधिगतत्वमपूर्वत्वं च तत्कालोचितसंवेदनस्य। सति च उपचारबीजे प्रकाशात्मत्वात् प्रमाणत्वमपि उपचर्यते। एतदपि तु न कथञ्चिदपि अस्मन्मते। – तदेव

८०. 'अपूर्वत्वम्' इति सत्तया। 'अपूर्वप्रकाशत्वम्' इति अधिगमेन। – तदेव, पृ. ६५

८१. मिलाइए पादटिप्पणी ७६

८२. नहि प्रकाशमानतैव प्रमेयत्वम् अपितु अन्याधीनसिद्धिकत्वमिति, स्वाधीनसिद्धिकं कथं प्रमेयं स्यात्,

धारावाहिक ज्ञान, प्रमाण–संप्लव और प्रमाण–लक्षण

प्रमाण की विषयगत अपूर्वता को लेकर अभिनवगुप्त की परम्परा में प्रश्न उठाए गए हैं, विशेषत: धारावाहिक ज्ञान और प्रमाण–संप्लव को संदर्भीकृत करते हुए। स्वयं अभिनवगुप्त तंत्रालोक में प्रमित अर्थात् प्रमाण से अधिगत एक ही वस्तु के विषय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति की गुंजायश बताते हैं[८३] और तर्क यह देते हैं कि प्रमाण स्वतंत्र नहीं है, वह अपने आप बलात् ज्ञान नहीं करा सकता; क्योंकि अधिगम तभी होता है जब प्रमाता को पूरी तरह संतोष, आत्माश्वासन हो जाए कि मुझे ज्ञान हो गया है। प्रमाणजन्य आश्वासन का कोई एक प्रकार नहीं है, अत: प्रमित वस्तु में भी अनेक प्रमाणों का अवकाश रहता है।[८४]

धारावाहिक ज्ञान को लेकर भारतीय दर्शन में मोटे तौर पर तीन दृष्टियाँ मिलती हैं। अद्वैत वेदान्त में धारावाहिक ज्ञान की सत्ता मान्य है, वह एक है और इसलिए प्रमा है। सांख्य–योग, भाट्ट मीमांसा विशेषत: पार्थसारथि मिश्र, धारावाहिक ज्ञान को नव–नव ज्ञानक्रम मानते हैं और उसके प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। न्याय का सिद्धान्त द्विमुखी है। स्तब्ध और असमाहित चित्त वालों के लिए यह ज्ञातज्ञान की परम्परा है, अत: अप्रमा है। अस्तब्ध और समाहित चित्त वालों के लिए यह नए ज्ञानों की परम्परा है और इसके प्रमा होने में संशय नहीं है – कम से कम जयन्त का ऐसा ही मानना है। धर्मकीर्ति की परम्परा में धर्मोत्तर उसे प्रमाण नहीं मानते। इसमें आदि ज्ञानक्षण ही ग्राह्य है, और बाकी अध्यवसेय, अत: वह प्रमाण नहीं हो सकता।[८५]

प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक इस समस्या का समाधान कुछ विचित्र ढंग से करते हैं। जयरथ धर्मकीर्ति को उद्धृत करते हैं और प्रमाण को अपूर्वार्थप्रकाश ही मानते हैं,[८६] परन्तु

उपचारात् तु प्रमेयत्वं भवेत्। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ५८ और भी : मायाप्रमातरि अपूर्वप्रकाशता भवन्ती अपि न प्रकाशांशमाश्लिष्यति, अपितु वेद्यांशमेव इदं भावभागिनम् इति। – तदेव, पृ. ६६

८३. [न स्वतन्त्रं स्वतो मानं कुर्यादधिगमं हठात्।]
प्रमात्राश्वासपर्यन्तो यतोऽधिगम उच्यते।।
[आश्वासश्च विचित्रोऽसौ शक्तिपातवशात्तथा।]
प्रमितेऽपि प्रमाणानामवकाशोऽस्त्यत: स्फुट:।। – तं. ४/८२–८३

८४. यहाँ पर 'शक्तिपातवशात्' शब्द का प्रयोग हुआ है सत्तर्क के विशिष्ट संदर्भ के कारण। पर अपने प्रकृत संदर्भ में इसे 'प्रमाणवशात्' पढ़ सकते हैं।

८५. यह विवरण प्र.का. ७/३१–३९ पर आधारित है।

८६. अपूर्वार्थप्रकाशत्वमेव हि नाम प्रमाणत्वम् यदाहु: 'अनधिगतविषयं प्रमाणम्, अज्ञातार्थप्रकाशो वा (प्र.वा.१/७)'। – तं.वि., ३, पृ. ७०५

धारावाहिक ज्ञान को अगृहीतग्राही या आद्यक्षण को ही अगृहीतग्राही और अन्य को गृहीतग्राही नहीं मानते। अभिनव के तर्क के मूल भाव को आधार बनाते हुए उनका पहला उत्तर तो अद्वैत वेदान्त से मिलता जुलता है। धारावाहिक ज्ञान की स्वत: प्रवृत्ति में अपूर्वार्थ–प्रकाश की प्रवृत्ति प्रमाता के आश्वास की समविस्तारी, समावधिक होती है। जब तक इसका उल्लंघन नहीं होता वह अपूर्वार्थप्रकाश ही रहेगा। चूंकि इसके बीच में कोई विराम नहीं है, अत: अनवस्था का भी प्रसङ्ग नहीं उठता।[८७] उनका दूसरा उत्तर सांख्य–योग, भाट्ट मीमांसा और जयन्त के दूसरे विकल्प के निकट है। उनके लिए प्रमाण–संप्लव और धारावाहिक ज्ञान की यौक्तिक स्थिति एक जैसी है : पहले को प्रमाण का क्षैतिज या समवर्ती विस्तार कहा जा सकता है और दूसरे को कालिक या आनुपूर्व। प्रमाण–संप्लव में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति एक धर्मी के प्रति उद्दिष्ट होती है। धर्मी यदि अनेक धर्मविशेषित है तो अलग–अलग धर्म के अपूर्वतया प्रकाशन को लेकर उसी एक धर्मी का पूर्णतया ज्ञान प्रमाता के आश्वास को उत्पन्न करता है, अत: एक ही प्रमित विषय में प्रमाणों का अवकाश बना रहता है और इसमें अन्योन्याश्रयता दोष की संभावना नहीं होती। यहाँ पर यह ध्यान दिलाना अनुचित न होगा कि इस परम्परा में बोध का सारा लक्ष्य पूर्णता–बोध पर है, उसी में प्रमाता का आश्वास भी मूल्यित होता है। अभिनव इसी उत्तर को अपने आभासवाद की कसौटी पर भी कसते हैं। यहाँ वस्तु, जिसकी पारिभाषिक संज्ञा आभास है, के दो भेद हैं सामान्य (सामान्याभास/आभासमात्र) और विशेष (स्वलक्षणाभास)। एक विशेष कई आभास–सामान्यों का संपुजन या योजना है, अत: किसी भी घटक को लेकर नए, अनुल्लसितपूर्व, विमर्शव्यापार की संभावना के कारण धारावाहिक ज्ञान की प्रमाणता स्वीकार करनी होगी।[८८] यहाँ तक तो ठीक है, क्योंकि क्षणों की नवता, धर्म की नवता, आभास की नवता, योजना की नवता के आधार पर प्रमाणलक्षण की संगति बनी रहती है। पहले वाला वेदान्त–सदृश समाधान भी एक प्रकार से वृत्ति की एकरूपता का अनुवाद करके अगृहीत के ग्रहण को सार्थक बनाए रखता है। शैवों का तीसरा समाधान

---

८७. को नाम अन्योन्याश्रयताया अवकाश: संप्लवो हि धर्म्यभिप्रायेणोच्यते 'एकस्मिन्नेवार्थेऽनेकप्रमाणप्रवृत्ति' इति, वस्तुत: पुनरनेकधर्मविशेषिते धर्मिणि केनचिद् कश्चिद्धर्मविशेषोऽपूर्वतया प्रकाशते यद्वशात् तत्तद्धर्माधिगतिपुर:सरीकारेण पूर्णेन रूपेण धर्मिणमधिगम्य प्रमातु: पर्यन्ते समाश्वासो जायते इति। – तं.वि., ३, पृ. ७०७–७०८

८८. ततश्च कथमिदम् उद्घोष्यते धारावाहिकज्ञानमालायाम् आद्यमेव संवेदनं प्रमाणम् इत्यादि....... आभासमात्रे खलु एवमेव प्रतिपाद्यताम् आयुष्मान्, न च अप्रमाणत्वम् एकान्ततस्तेषाम् आभासान्तरेषु अगृहीतपूर्वेषु योजनाभासे वा अनुल्लसितपूर्वस्य विमर्शलक्षणस्य प्रमातृव्यापारस्य उल्लासनात्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १७९–१८०

इस उत्तर का अधिप्रामाणिक क्षेत्र में विस्तार करता है। प्रमाणों की मौलिक अनुसंधानरूपता या प्रत्यभिज्ञानरूपता को वह यहाँ भी आविष्कृत करते हैं। प्रिय-दर्शन में या अलौकिक पदार्थ-दर्शन में उसी पदार्थ का बार-बार स्पर्श, ज्ञान, भावन[८९] उस अधिगत वस्तु के पूर्णतर या परिपूर्ण ज्ञान की सिद्धि के लिए होता है, अत: अधिगत विषय में भी ज्ञान की सद्यस्कता और नितनूतनता की संभावना का निषेध नहीं किया जा सकता।[९०] शैवों का यह सिद्धान्त-परिकल्पन ज्ञान-मीमांसा को भावनात्मक अनुभव, सौन्दर्य-बोध, भक्ति की प्रह्वता और तान्त्रिक आचार में शक्तिपात के तारतम्य के समंजस व्याख्यान के लिए सक्षम बनाने के उपक्रम के रूप में लिया जा सकता है।

प्रमा

प्रमाणफल और प्रमाण का अभेद

यही नवनवोदय स्वाभास प्रमाण है। क्योंकि यह प्रमा का जनक है,[९१] इसलिए प्रमाणफल को प्रमा कहा गया है।[९२] एक ही प्रकाश प्रमाण और प्रमाफल है। परन्तु दोनों में पर्यायिता नहीं है। एक ही ज्ञान की दो भूमिकाएँ हेतु (प्रमाण) और फल (प्रमा) भाव से व्यवस्थित हैं। प्रमेयोन्मुख प्रकाश प्रमाण है, यह चित् की बाह्योन्मुखता है और प्रमाता की अंतर्मुखात्मा विमर्शरूपता ही प्रमा है।[९३] यह अंतर्मुखी विमर्श विषयोपराग से संकुचित होता है, अन्यथा इसमें और प्रमाता में कोई अंतर नही रह जाएगा। विषयोपराग रूप संकोच का पता उसकी शब्दात्मकता से चलता है। इस प्रकार प्रकाश और विमर्श में स्वभावी और स्वभाव के द्वारा आत्मचेतन सत्ता की जो प्रतिपत्ति की गयी है, उसी का प्रतिबिम्बन प्रमा और प्रमाण की एकरूपता में होता है।

इस प्रकार प्रमाण और प्रमा में ऐक्य होने पर भी व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव है। व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव की परिघटना शैव दार्शनिक हेतु-फल भाव से करता है।

८९. दृष्ट्वा दृष्ट्वा समाश्लिष्य चिरं संचर्व्य चेतसा।
प्रिया यैः परितुष्येत किं ब्रूमः किल तान्प्रति।। – तं. ४/८४

९०. कदाचिदधिगतोऽप्यर्थः परिपूर्णाश्वाससिद्धये पुनः पुनः प्रमाणविषयतामापद्यते। – तं.वि., ३, पृ. ७०८

९१. स प्रमाणं यतः प्रमां विधत्ते। – ई.प्र.वि., २, पृ. ७३ ('यतः' पर ध्यान दें।)

९२. स एव बोधरूपः आभासो मितिः प्रमाणफलम्। – तदेव

९३. न च पर्यायता, यतो बाह्योन्मुखत्वेन प्रकाशरूपया तत्प्रमाणम् अंतर्मुखात्मना विमर्शरूपेण केवलं विषयोपरागसंकुचितेन* शब्दात्मना (ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७२ में रेखाङ्कित पद अतिरिक्त) स एव बोधः फलम्। – ई.प्र.वि., २, पृ. ७४ *भास्कर की टिप्पणी है : विषयोपरागवशतः परिमिततां गतेन अन्यथा (अंतर्मुखबोधस्य) प्रमातृत्वापातात्। – भा., तत्रैव

"जो मैं वीर हूँ, वही विजयी हूँ" इस ज्ञानाकार का वास्तविक आकार है : "क्योंकि मैं वीर हूँ, इसलिए विजयी हूँ" (यः शूरोऽहं स एव विजयी = यतोऽहं शूरः ततो विजयी)। ज्ञानमीमांसीय शब्दावली में इसका स्वरूप है : चूंकि नील (का) प्रकाश है, इसलिए 'यह नील है' यह विमर्श हो रहा है (यतो 'नीलप्रकाशः' ततो 'नीलमिदम्' विमर्शः) । इस अभेद का आधार है प्रमा का व्यापाररूप होना और करण के प्रथम साध्य (उसके) फल का भी व्यापारात्मक होना।[९४] व्यापार करता हुए (व्याप्रियमाण) प्रमाता व्यापारित किए जा रहे (व्यापार्यमाण) करण/प्रमाण से भिन्न नहीं है, अतः प्रमाण और फल में अभेद है।[९५]

बौद्ध मत से अंतर

जहाँ फल और व्यापार की एकता शैव व्याकरण सम्प्रदाय से लेते हैं, वहाँ प्रमा-प्रमाण की व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव में यह संघटना उन्होंने बौद्धों से ली है, यह बात

---

९४. (अ) प्रमितिः प्रमातृव्यापारः। – वृत्ति २/३/२

(आ) इह व्यापाररूपमेव फलम्। – ई.प्र.वि., २, पृ. ७५

(इ) व्यापारात्मकमेव हि करणस्य प्रथमसाध्यत्वात् फलम्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७२

(ई) प्रमितिरपि क्रियारूपो व्यापारः। – मृगेन्द्रतन्त्रवृत्ति, क्षेमराज, पृ. ६७

९५. व्यापारश्च व्याप्रियमाणात् कर्तुः व्यापार्यमाणाद्वा करणाद् अनन्यात्मक एव मुख्यत्वेन प्रमाणफलयोरभेद एव न्याय्यः। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७२

यहाँ पर विमर्शिनीगत समानान्तर उक्ति (अभेदः प्रमाणफलयोः।– २, पृ. ६९) पर मधुसूदन कौल अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों (संख्या ४७ तथा ४६, ई.प्र.का., २, पृ. ६९-७०) में इस अभेद की तीन प्रकार से व्याख्या करते हैं :

१. 'अयं घटः' ऐसे ज्ञानात्मक स्थलों पर वाच्य प्रतिभास सर्वदा वाचक प्रतिभास से अवच्छिन्न होता है। शब्दविशिष्ट अर्थ के प्रतिभास के कारण 'अयं'-वाच्य 'घट'-शब्द से कहा जाता है। जहाँ पर इस प्रकार के शब्दों का स्पष्ट उल्लेख नहीं भी होता वहाँ भी सामान्यशब्द के उन्मेष की संभावना सदा बनी रहती है, बिना उसके प्रकाशात्मिका प्रतीति की उत्पत्ति असंभव है। यह स्पष्ट ही भर्तृहरि से प्रभावित व्याख्या है। (पा.टि. ४७)

२. यद्यपि निर्विकल्पक घटाभास प्रमाण है और तदनन्तर (परतः) 'अयं घटः' रूप विमर्श फल है, फिर भी विमर्शक का आभास न होने के कारण दोनों में अभेद रहता है (तथापि विमर्शकानवभासादभेदः)। (पा.टि. ४६)

३. अथवा 'अयं घटः' इस एक ही आभास में प्रमाण और फल का अभेद प्रतीति की एकता के कारण होता है। एक ही प्रतीति अंतर्बाह्यरूप से प्रमाता और प्रमेय के प्रकाश को लिए हुए उदित होती है : मैने इसे जान लिया है, यह यही है या ऐसी है (मयेदं ज्ञातमिदमित्येव वैतादृगिति वा) इस प्रकार सव्यापार प्रमातृता का उल्लास होता है। (पा.टि. ४६)

स्वयं अभिनव धर्मकीर्ति को उद्धृत करते हुए सर्वत्र मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं।[९६] अभिनव का संकेत है कि प्रमाता की धारणा को अनावश्यक बताने के लिए बौद्ध एक प्रकार से प्रमाण और प्रमा के अभेद द्वारा कर्तृविहीन दृष्टिसृष्टिवाद की संकल्पना करते हैं[९७], जबकि शैव इसे प्रमाता के व्यापार में अंतर्गर्भित करते हैं। धर्मोत्तर के अनुसार एक ही ज्ञान की दो भूमिकाएं कारण और कार्य के रूप में संबंद्ध नहीं होतीं बल्कि व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक के रूप में, अत: इसमें कोई अंतर्विरोध नहीं होता।[९८] व्यवस्था की परिकल्पना हेतु–फलभाव के रूप में करना शैव अपना वैशिष्ट्य बताते हैं, क्योंकि इस संदर्भ में हेतुफलभाव का, जन्यजनकभाव से भिन्न, बौद्ध इतने स्फुट रूप से प्रयोग नहीं करते। अभिनव का निष्कर्ष है कि हेतु से फल जन्म लेता है और फल से हेतु का निश्चय होता है : **अतो विमर्श एव फलं तद्बलेन बोध: प्रमाणम्।**[९९]

परन्तु अभिनवगुप्त और धर्मोत्तर की समता यहीं तक है। व्यापार, जो इस संदर्भ में शैवों के प्रमाण–चिन्तन का मूलाधार है, बौद्धों के लिए असह्य है, दो कारणों से।[१००] एक तो व्यापार उत्प्रेक्षित है[१०१] और दूसरे क्षणिकता की मान्यता सारे व्यापारों को असंभव बना देती है।[१०२] इसके विपरीत शैवों के यहाँ व्यापार केवल वास्तविक ही नहीं, अपितु प्रमा

---

९६. (अ) यथोक्तं 'तद्वशात् तद्व्यवस्थानात्' (प्र.वा. ३/३०८)। – ई.प्र.वि. २, पृ. ७२

(ब) तत एव उक्तं 'तद्वशात् तद्व्यवस्थानात्' (प्र.वा. ३/३०८)। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७२

९७. "The Mythico-ritual Syntax of Omnipotence", David P Lawrence, पृ.४७५, टिप्पणी ६

९८. न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धन: साध्यसाधनभाव:, येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोध: स्यात्, अपितु व्यवस्थाप्य–व्यवस्थापकभावेन। – न्या.बि.टी., पृ. ८३।

सौत्रान्तिकों में विषयाकारता या सारूप्य व्यवस्थापक होने के कारण प्रमाण है और नीलसंवेदन या विषयाधिगति व्यवस्थाप्य होने के कारण प्रमाणफल है। (न्या.बि.टीका, पृ. ८३) इसी प्रकार योगाचार में प्रमाण स्वाभास होने के नाते व्यवस्थापक है (ध्यान रहे यह शब्द उत्पल ने बौद्धों से ही लिया है) और स्वसंवेदन/स्वसंवित्ति व्यवस्थाप्य होने के कारण प्रमा है।

९९. ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७२। अभिनव का प्रतिपादन धर्मोत्तर के एतद्विषयक विवेचन से पूरी तरह प्रतिच्छायित है : तस्मात् सारूप्यमनुभूतं व्यवस्थापनहेतु:। निश्चयप्रत्ययेन च तज्ज्ञानं नीलसंवेदनमवस्थाप्यमानं व्यवस्थाप्यम्। – न्या.बि.टी., पृ. ८३

१००. ई.प्र.वृ., पृ. १६२

१०१. अत उत्प्रेक्षितो भेदो विद्यते धनुरादिवत्।
उत्पाद्योत्पादकत्वेन व्यवस्थेयं तु नेष्यते।। – तत्त्वसंग्रह १३४६; उद्धृत, तदेव

१०२. क्षणिकत्वेन निर्व्यापारत्वात् सर्वधर्माणाम्। – तत्त्वसंग्रहपंजिका, १, पृ. ४८८; उद्धृत, तदेव

की मौलिक प्रकृति है। अंतर केवल ज्ञानीय प्रकाश की अंतर्मुखता और बहिर्मुखता को लेकर है। अतः बौद्धों से भी एक कदम आगे बढ़कर शैव आचार्य प्रमाण की करणता को प्रमाता के ही व्यापार से व्यापारित कराते हुए उसी में अंतर्भुक्त कर एक प्रकार से औपचारिक बना देते हैं।[१०३]

शैव दार्शनिकों के प्रमा–प्रमाण अभेद का मूल स्वयं ज्ञान की प्रकृति में निहित है। सामान्यतः भारतीय दर्शनों में, जिनमें बौद्धों के वैभाषिक आदि संप्रदाय भी आते हैं, चेतना को अर्थप्रकाशक माना गया है। इस विचार में ज्ञान निराकार होता है।[१०४] जो सम्प्रदाय चेतना को अर्थप्रतिभासी मानते हैं, विशेषतः विज्ञानवादी, वहाँ ज्ञान को साकार माना जाता है। चेतना को अर्थप्रकाश मानने वाले प्रायः सभी सिद्धान्तों में ज्ञान क्रिया सकर्मक होती है, अर्थात् ज्ञान का विषय ज्ञान की क्रिया से स्वतंत्र होता है। इसका स्वाभाविक परिणाम है प्रमाण और फल में भेद मानना। इससे विपरीत विज्ञान को साकार मानने पर वस्तु–प्रतिभास ही वेद्य होता है, स्वयं वस्तु नहीं। फलतः ज्ञान की विषयता वस्तु में भले ही हो, उसकी वेद्यता वस्तूल्लेखी आकार में होती है। अतः ज्ञान अकर्मक होता है। ज्ञान का विषय ज्ञान की क्रिया में अंतर्भुक्त होता है – विज्ञान निराकार नहीं उत्पन्न होता, अपने आलंबन का सारूप्य धारण किए उत्पन्न होता है। फलतः प्रमाण और प्रमाणफल का अभेद प्रतिफलित होता है। शिवाद्वैतवाद की स्थिति अन्य दर्शनों और बौद्ध दर्शन के मध्य की स्थिति है। हम देख चुके हैं, शैव चेतना को अर्थप्रकाशक मानते हैं। प्रकाश का लक्षण ही है : पर का, वस्तु का, वेद्य रूप में प्रकाशन करता हुआ अपना प्रकाशन। इस अर्थ में ज्ञान क्रिया सकर्मक है। पर ज्ञान का विषय ज्ञान की क्रिया से स्वतन्त्र नहीं है। क्योंकि वह विमर्श–बल से अर्थात् विमृष्ट होकर विषय बनता है, वस्तु रूप में नहीं। कारण यह है कि यह क्रिया भावलक्षण है, कर्तृकर्मैक्यमूलक व्यापार या क्रिया, जो बौद्ध मत में कल्पित या उत्प्रेक्षित है, के माध्यम से प्रमाण ओर प्रमाणफल की एकता निष्पन्न होती है। इस बात को थोड़ा दूसरे ढंग से कहा जा सकता है। सारूप्य में बिंब विनष्ट होकर अनुपस्थित रहता है, केवल उसका विज्ञानाकार प्रतिरूप ही उपलब्ध होता है, अतः एक संबंधी के अभाव में अभेद वहाँ अनुपपन्न है। किन्तु काश्मीरशैव दर्शन में चेतना में प्रतिबिम्बित होने वाला बिंब, प्रतिबिंब का समानकालिक है, अतः यहाँ अभेद वास्तविक है।

१०३. (अ) यतः स आभासः प्रमानिष्पत्तौ सव्यापारः। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ४८८

(आ) किं च इह व्यापाररूपमेव फलम्, व्यापारश्च व्याप्रियमाणात् व्यापार्यमाणात् वा अनन्याकार एव सिद्धः, इति अभेदः प्रमाणफलयोः। – ई.प्र.वि., २, पृ. ७८

१०४. देखें, बौद्ध प्रमाण दर्शन, अम्बिकादत्त शर्मा, पृ. १३५–१४८। यहाँ पर शैवेतर दर्शनों की मेरी समझ उनके तलस्पर्शी प्रतिपादन से प्रभावित है।

प्रमेय

विषयतापत्ति का सिद्धान्त

प्रमाण का व्यापार प्रमात्राश्रित और प्रमेयोपाश्रित (अर्थात् प्रमेयनिष्ठ) होता है (प्रमा-प्रमाण के अभेद के कारण यह बात प्रमा के विषय में भी उतनी ही सत्य है)। प्रमाण का विषय किसे कहेंगे, इस संबंध में अभिनवगुप्त विषयतापत्ति नामक सिद्धान्त की अवतारणा करते हैं।[१०५] पदार्थ या वस्तु की दो स्थितियाँ होती हैं – (१) वस्तुरूप, जब उसमें प्रमेयता की योग्यता मात्र है, और (२) प्रमेयरूप, जब वह प्रमा का विषय बनता है। प्रमाण-व्यापार द्वारा प्रकाशित होकर और प्रमा के द्वारा तथात्व में विमृष्ट होकर ही वह प्रमेय कहलाता है। यही विषयतापत्ति है।[१०६] अपनी विलक्षण शैली में अभिनव की युक्ति है "(यह) नील ही क्यों हैं, क्योंकि वैसे ही प्रकाशित हो रही है; वह भी वैसे ही क्यों प्रकाशित हो रही है, क्योंकि वैसे ही विमर्श की जा रही है, इतने में ही प्रमेय की प्रमेयता और प्रमाता का प्रमातृत्व पर्यवसित हो जाता है, इससे अधिक हम और कुछ नही मांगते।"[१०७]

स्पष्ट है कि इस सिद्धान्तीकरण के पीछे शैव तात्त्विक दृष्टि का हाथ है। यहाँ विषय या अर्थ[१०८] की पारिभाषिक संज्ञा आभास है।[१०९] एक ओर आभास सन्मीमांसीय

---

१०५. विषयतापत्ति की तुलना बौद्धों के विषयीभाव और नैयायिकों के सन्निकर्ष से की जा सकती है। जिस अर्थ का योग्य क्षण इन्द्रिय के योग्य क्षण का विषय हो जाता है, उसी का ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। उद्योतकर का कहना है कि न्याय जिसे संबंध (अर्थात् सन्निकर्ष) कहता है, उसे ही बौद्ध विषयीभाव कहते हैं। (न्या.वा. पृ. ३६) वाचस्पति इसका समाहार करते हुए कहते हैं कि संबंध के बिना विषयीभाव संभव नही है : तस्मान्न संबंधमन्तरेण विषयीभाव इति सूक्तम् (न्या.वा.ता., पृ. १२१-२२)। अर्थात् न्याय भी विषयीभाव मानता है और उसे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के रूप में लेता है। – देखिए बौ.द.वि., पृ. १२४-१२५ (उपर्युक्त दोनों संदर्भ वहीं पर)

१०६. विशुद्धे नीलाद्युपरागशून्ये प्रमातरि [.....] विमर्शस्य स्वरूपे सर्वथा निमज्जनमेकीभावोऽर्थस्य [.....] एवं च सति योग्यतामात्रेण यत् नीलादिप्रमेयमभूत्, तत् वस्तुतः प्रमाविषयतापत्त्या प्रमेयं भवति। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ८३-८४

१०७. नीलं हि कुतः तथा प्रकाशते यतः; तदपि कुतः, तथा विमृश्यते यतः; एतावति पर्यवसितं प्रमेयस्य प्रमेयत्वं प्रमातुश्च प्रमातृत्वम्, न अधिकम् उपयाच्यते। – तदेव, पृ. ८३

१०८. भारतीय दर्शन में प्रमेय को अर्थ, विषय और आलंबन शब्दों से भी पुकारा जाता है। शैव आचार्यों को भी इन तीनों शब्दों का प्रयोग मान्य है : अर्थ्यते इति, विशेषेण सिन्वन्ति बध्नन्ति हृदयम् इति, आलम्ब्यन्ते इत्यादिनिर्वचनयोगाद् अर्थादिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते।– तदेव, २, पृ. ४२३

१०९. यहाँ आभास एक पारिभाषिक संज्ञा है, अतः उसकी अन्य दर्शनों से नितान्त भिन्न पारिभाषिक अवधारणा भी है। इस पर हम शीघ्र विचार करेंगे।

(ontological) प्रत्यय है, तो दूसरी ओर ज्ञानमीमांसीय (epistemological) भी। पहले आयाम में यह कारणतामूलक है, जो वस्तुत: मूलगामी अभेदन में भेदन को उपलक्षित करता है और क्रियाशक्ति (कर्तृता) में मूलित होता है। ज्ञानमीमांसीय आयाम में यह भेदन में अभेदन का उपलक्षण है, प्रकृति में अनुसन्धानात्मक है और कर्तृता के ज्ञानात्मक पक्ष (ज्ञातृता) में मूलित होता है। अत: विषयापत्ति वस्तुता की दिशा का मौलिक आभ्यन्तरीण परावर्तन है, केवल पर्यायिताजन्य वाग्जाल नहीं। अत: अभिनव के लिए आभासमात्र वस्तु का स्वरूप है, क्योंकि प्रमाण का व्यापार प्रत्येक आभास के प्रति अलग-अलग होता है।[११०]

प्रमेय का लक्षण : सामान्यभासरूपत्व

उत्पल के प्रमा-प्रमाणलक्षण में प्रमेय का लक्षण है 'एक शब्द से वाच्य वस्तु' (**एकाभिधानविषये वस्तुनि**)। देखने की बात है कि प्रमेय का लक्षण ज्ञानीय पदावली में न होकर विशुद्ध भाषीय शब्दावली में किया गया है। एकाभिधानविषयता की ज्ञानमीमांसीय चरितार्थता प्रमा की प्रवृत्ति को निश्चित आकार देने में है, जो प्रमाणव्यापार की विशिष्ट दिशा को निर्धारित करती है।[१११] इस प्रकार प्रमेय की पहुंच प्रमा तक भले ही प्रमाण के द्वार से हो, पर इस द्वार के खुलने की दिशा प्रमिति ही तय करती है।

प्रमेय सदैव एक सामान्य रूप आभास है। साधारण तौर पर जो है वह दिखाई पड़ता है, वही सामान्य है। अभीप्सित दूसरे आभासों का ग्रहण न होने के कारण निर्विशेष रूप से देखा गया नीलादि विषय ही सामान्याभास है।[११२] सामान्यरूपता की एकमात्र निर्धारक है उसकी शब्दरूपता। युक्ति के रूप में अभिनव अन्तर्व्यापी क्रमिक समीकरणों की श्रृंखला का उपयोग करते हैं।[११३] क्योंकि प्रमाण अपनी सत्ता के लिए विमर्श, चेतना

---

११०. आभासमात्रं हि भावस्य स्वरूपं प्रत्याभासं प्रमाणस्य व्यापारात्। – ई.प्र.वि., १, पृ. १५८

१११. विमर्शलक्षणस्य प्रमितिव्यापारस्य एकैकशब्दवाच्ये अर्थे प्रवृत्तेः तदनुसारित्वाच्च प्रमाणस्य। – ई.प्र.वि., १, पृ. २३२

११२. ननु यदेव तत् दृष्टं भाति, तदेव सामान्यं [.....], सिद्धान्तदृशा वा अविशेषेण चिकीर्षिताभासान्तर-विरहात् दृष्टमेव नीलादि यत्, तदेव सामान्यम्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ४२ : यहाँ पर मुद्रित पाठ है 'अविशेषण' और वह 'चिकीर्षिता०' के साथ समस्त है। यह त्रुटित लगता है। हमने इसे शोधित कर उपरिवत् पढ़ा है।

११३. विमर्शबलेन च यतः प्रमाणं, विमर्शश्च शब्दजीवितः, शब्दश्च आभासान्तरैः देशकालादिरूपैरनामृष्टे एकत्रैव आभासमात्रे प्रवर्तते घट इति लोहित इति, ततो देशकालाभासयोः स्वलक्षणत्वार्पणप्रवणयोः अनामिश्रणात् सामान्यायमाने आभासे प्रमाणं प्रवर्तते। – ई.प्र.वि., २, पृ. ७५

का विशिष्ट वस्तु-प्रकाशन व्यापार, पर निर्भर करता है।[११४] विमर्श अपने जीवन के लिए शब्द पर आश्रित है।[११५] और शब्द केवल एक ही आभासमात्र (वस्तुमात्र) में देश, काल, आकार आदि किसी की भी चेतना के बिना – जैसे 'घड़ा', 'लाल' में – प्रवृत्त होता है। विशेषता (स्वलक्षणता) के कारण हैं देश और काल, उनका मिश्रण न होने के कारण वस्तु एकल होती हुई भी सामान्य सी (**'सामान्यायमाने आभासे'**) ही रहती है। इस प्रकार शब्दरूपता का होना और देश-काल आदि का न होना सामान्य के क्रमशः विधि और निषेधरूप लक्षण हैं। यह सामान्य वस्तु ही प्रमाण का विषय बनती है।[११६]

---

११४. भास्करकण्ठ कहते हैं कि विमर्श के न होने पर प्रमाण से गृहीत वस्तु अगृहीत ही रहेगी : विमर्शाभावे हि प्रमाणगृहीतमपि वस्तु अगृहीतकल्पमेव। – भा., १, पृ. ७५

११५. शब्दस्मृति के बिना विमर्श निष्प्राण, निरर्थक सा है : विमर्शश्च शब्दः जीवितमस्येति तादृशः भवति शब्दस्मृतिरूपत्वात्। – तदेव

११६. प्रत्यभिज्ञा दर्शन में हुए सामान्य-विचार का इनके प्रमाण शास्त्र से स्वरूप-परिघटनात्मक संबंध है। प्रमाणशास्त्रीय (सन्मीमांसीय भी) दृष्टि से इसके एकत्र पल्लवन की घोर आवश्यकता है। यहाँ पर संग्रह का एक स्थूल प्रयत्न प्रस्तावित है।

कट्टर अद्वैतवादी दर्शन होने के नाते परमशिव की प्रतिपत्ति महासामान्य के रूप में की गयी है। यहाँ पर सामान्य का स्वरूप-लक्षण 'शब्द' प्रकाशविमर्शमय स्वरूप में उपस्थित है। यह शब्दन क्रमशः अहं और इदं विमर्श के महासामान्य रूप में प्रमातृ-सृष्टि और प्रमेय-सृष्टि, विषयि-धारा और विषय-धारा, का मूल बीज है। इदंता से पहला स्फुटन असामयिक इदन्ता-सामान्य का होता है। यहाँ पर इदन्तापरामर्श है पर यह शब्दनरूप है, यहाँ तक कि 'इदम्' शब्द के प्रयोग से भी अछूता। दूध पीते शिशु के अनुभव की जो इदमात्मक अर्थविषयता होती है, उससे असामयिकेदन्ता सामान्य को हम दृष्टान्तीकृत कर सकते हैं। भविष्य में होने वाले सारे सामान्यों और विशेषों की यह आधार-भूमि और संभावना-भूमि है। उत्पल अपनी वृत्ति (४/७) में कहते हैं :"ये चैते महेश्वरस्य इदंशब्दसंकेतानुसंधानं विनापि प्रकाशस्य परामर्शसारत्वाद् बालदशायामिव इदमर्थनिर्देश्याः भावाः, ते अनेकाभाससामानाधिकरण्येन स्वलक्षणात्मानः, पृथक्सामान्यरूपतया नानाकाराश्च तथा तन्निर्माणात् प्रथन्ते।" इससे स्फुटित होता है सर्वभावगतेदन्तासामान्य (सारे पदार्थों में उपलब्ध निर्विशेष इदन्तासामान्य)। उत्पल और अभिनव के अनुसार इसे सामयिकेदन्ता-महासामान्य (यद्यपि इस शब्द का वे प्रयोग नहीं करते, परन्तु इससे अंतर नहीं पड़ता) कहना उचित होगा, क्योंकि 'अयम्' या 'इदम्' शब्द का परामर्श सामने अवस्थित भावाभास मात्र (यहाँ तक कि दिखाई पड़ने वाले घड़े में भी 'अयं घटः' में 'अयं' द्वारा) 'इदंवाच्य सामान्य' को ही विषय करता है : नियतेऽप्ययमित्येवं परामर्शः पुरः स्थिते। सर्वभावगतेदन्तासामान्येनैव जायते।। (अभिनव द्वारा उद्धृत उत्पल की उक्ति ई.प्र.वि., २, पृ. ७२)। यह सामान्य अपने को दो रूपों में प्रकट करता है, शुद्ध और पारमार्थिक। जब शुद्ध घटाभास (मेरे विचार से यहाँ पर हम 'सन्' मात्र आदि को भी ले सकते हैं) का स्वतंत्र रूप से अलग परामर्श होता है तो वह सामान्यरूपता योग्यतामात्र से होती है, वस्तुतः नहीं। अभिनव ने ऊपर इसी एकल वस्तु को 'सामान्यायमान' कहा है (पा.टि. ११३)। दूसरा, जिसे अभिनव

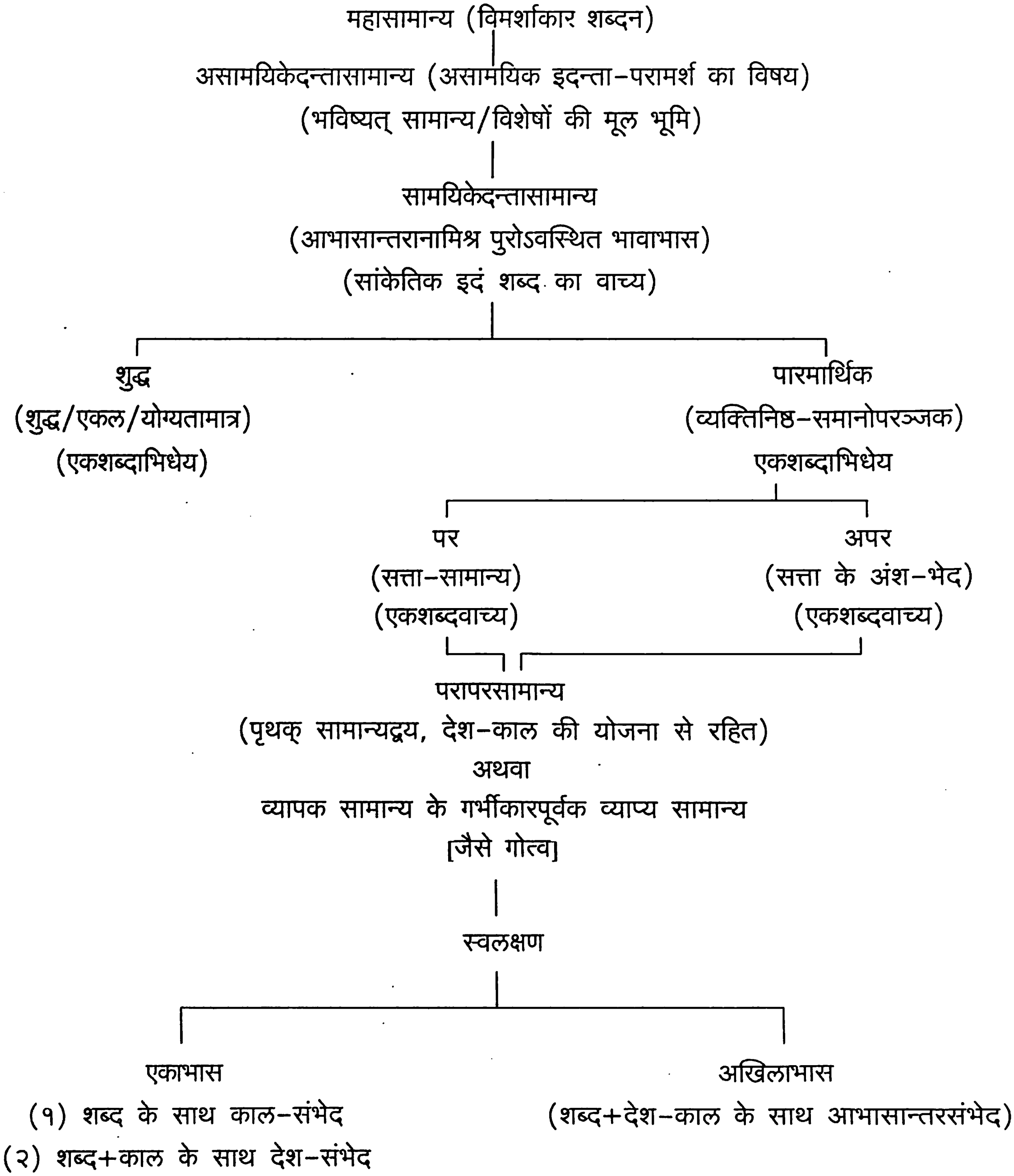
आभासवाद : प्रमाण की प्रवृत्ति का विषय = आभास

जहाँ आभासमात्र या सामान्य प्रमाण की प्रवृत्ति का विषय है, वहीं यह प्रवृत्ति प्रत्येक आभास के लिए अलग- अलग होती है। इसी सामान्य का एक-एक कर

'वास्तविक' या 'पारमार्थिक' (भास्कर के लिए 'सहज') सामान्य कहते हैं, द्रव्य या व्यक्तिनिष्ठ होता है, क्योंकि एकता का अवभासन करने में यह द्रव्य या व्यक्ति के अधीन होता हुआ ही वस्तुओं की पृथकता को प्रकट करता है और समान व्यक्तियों को अपने से (अपनी धर्मरूपता से) विशिष्ट करता हुआ उपरंजन करता है : तत्र च ऐक्यावभासे परतन्त्रं सत् पृथक्त्वं यदा आभासानां तदा समानव्यक्त्युपरञ्जकत्वेन पारमार्थिकं सामान्यरूपत्वम् घटाभासस्य तु शुद्धस्य स्वतन्त्रपरामर्शे योग्यतामात्रेण सामान्यरूपता, न वस्तुतः। (तदेव, पृ.१०४) अभिनव इस सिद्धान्तपरिकल्पना को बौद्धों के सन्तानवाद द्वारा किए जाने वाले सामान्य के खण्डन के प्रत्युत्तर के रूप में देखते हैं (एकसन्तानतामात्रेण प्रत्यभिज्ञा भविष्यति अलमत्र सामान्येन यथा सौगतो मन्यते। एतत् निषेधयति। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ११२)। जिसे हम व्यक्ति, द्रव्य या विशेष (स्वलक्षण/स्वलक्षणाभास) कहते हैं, वहाँ सामान्यरूपता के कारण ही चैत्र इत्यादि शब्दों की प्रवृत्ति होती है। बृहतीविमर्शिनी में अपने वक्तव्य को पुनः दुहराते हुए वे कहते हैं कि देश-काल-आकार कृत व्यक्तियों या विशेषों की भिन्नता के बने रहने पर भी उनकी जो आभासमात्ररूपता है वही समान व्यक्तियों का उपरञ्जक वास्तविक सामान्य है; शुद्ध घटाभासमात्र के अवमर्श की स्थिति में वह संभाव्य (potential) या सामान्यरूपता की योग्यता मात्र है : भेदापरित्यागाच्च स्वालक्षण्येऽपि यदाभासमात्ररूपत्वं, तदेव समानव्यक्त्युपरञ्जकं परमार्थतः सामान्यम्, शुद्धघटाभासमात्रावमर्शे तु योग्यतामात्रेणसामान्यरूपतेति। (ई.प्र.वि.वि. २, पृ. ११४)। इस 'पारमार्थिक' सामान्य के दो भेद हैं, पर और अपर : सत्ता सामान्यमस्यैव भागो भागस्य संस्थितः। यस्यान्तरेव सामान्यान्यपराण्यखिलानि तु।। (चि.अ.शा., १/२२०) पर है सत्ता(-सामान्य) और अपर है समान व्यक्तियों का उपरञ्जक धर्म। अपर सामान्य असंख्य हो सकते हैं। सामान्यतः प्रमाणव्यापार (विमर्शन) की प्रवृत्ति परापर सामान्य के प्रति होती है। देश और काल के साथ पर और अपर सामान्यों के समानाधिकरणगत संपुञ्जन से वस्तु-वैशिष्ट्य, व्यक्तिता या स्वालक्षण्य निर्मित होता है (ई.प्र.वि., २, पृ. ९३)। भास्करकण्ठ इन सारे सामान्यों को महासामान्य के व्यक्ति-भेद या वृत्ति-भेद के रूप में देखते हैं : अत्र सामान्यरूपा वै व्यक्तयो बहुधा स्थिताः। महासामान्यभावोऽ-स्यानुत्तरः सर्वदा स्फुटः॥ [.....] महासामान्यरूपस्य सामान्यान्यखिलानि तु। वृत्तयः स्युरवृत्तस्य स्वभावेनैव सर्वदा॥ (चि.अ.शा. १/२१८, २२१) अभाव को भी अभिनव सामान्य में ही गर्भित करते हैं। आत्मचेतन सत्ता की केवलान्वयिता मानना अद्वैतवाद की पारिभाषिक विवशता है। अतः एक के अभाव को अभिनव अन्य सामान्य के ग्रहण या उपलम्भ के रूप में देखते हैं : आभासमात्रं च सामान्यम् इति निर्णेष्यते। अनुपलम्भोऽपि अन्योपलम्भरूप आभासमात्रविश्रान्त एव। (ई.प्र.वि., १, पृ. २३३) भास्कर इसे और भी स्पष्ट करते है कि सत्तासामान्य को छोड़कर अन्य सभी सामान्यों में अभाव पिण्डीभूत होता है : अभावेऽप्यत्र पिण्डत्वं याति सामान्य उत्तमे। सत्ताया अपि पिण्डत्वं यो न याति कदाचन।। (चि.अ.शा. १/२२२) अतः अभाव में भी प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। उपर्युक्त विवरण को एक सारणी के रूप में इस प्रकार संगृहीत किया जा सकता है

अध्यवसाय होता है और इसी से अर्थक्रिया की सिद्धि भी। इसी को वस्तु कहते हैं।[११७] प्रश्न है कि दैनन्दिन व्यवहार में हमारा सामना विशेषों या व्यक्तियों से पड़ता है सामान्यों

[सारणी ३]



११७. एकैकमेव च सामान्यं वस्तु प्रमात्रध्यवसायाद् अर्थक्रियायोगाच्च। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७८

से नहीं, तो वे हमारे ज्ञान के प्रमेय कैसे बनते हैं? अभिनव प्रमाणाह्निक की अपनी अवतरणिका में ही स्पष्ट कर देते हैं कि प्रमाण का व्यापार हर सामान्य के लिए ही होता है, विशेष के प्रति नहीं। इसका कारण है कि प्रत्यवमर्श की सामर्थ्य से ही आभास, अर्थात् वस्तु–व्यवस्था होती है। इसे बताने के लिए उत्पल ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से अपने आभासवाद का प्रतिपादन करते है।[११८]

प्रमेय दो प्रकार का है, सामान्य और विशेष। इस प्रकार बौद्धों के द्वैराश्यभेद को शब्दतः स्वीकार करते हुए ये उन्हीं की पदावली में विशेष को स्वलक्षणाभास (आगे स्वलक्षण) और सामान्य को सामान्यलक्षण (आगे सामान्य) कहते हैं, परन्तु नितान्त विरोधी व्यंजनाओं के साथ। सामान्यलक्षण ही वस्तु है, और सामान्यलक्षणों का सामानाधिकरण्य है[११९] स्वलक्षण, जो प्रमाता के स्वभाव या रुचि, व्युत्पत्ति के स्तर और अर्थिताविशेष के अनुसार होने वाले अनुसंधान से प्रतिफलित होता है।[१२०] इसे ही अर्थ कहते हैं। ये दोनों अलग–अलग आभास हैं।[१२१]

---

११८. ततः प्रमेयस्य स्वरूपं निरूपयितुं प्रत्याभासं प्रमाणस्य व्यापारो न तु स्वलक्षणात्मकवस्त्वेक–निष्ठतानियमेन इति दर्शयितुं प्रत्यवमर्शबलेन आभासव्यवस्था इति [.....] उच्यते। – ई.प्र.वि., १, पृ. ६७

११९. तत आभासमात्रमेव वस्तु, स्वलक्षणं तु तदाभाससामानाधिकरण्याभासरूपम् आभासान्तरम् एकम् अन्यदेव। – ई.प्र.वि., २, पृ. ७६–७७; यद्यपि उत्पल स्वलक्षणाभास को भी वस्तु कहते हैं पर वह औपचारिक लगता है, क्योंकि इसकी वस्तुता स्वरूपगत न होकर सामानाधिकरण्यवशात् मानी गयी है : सामानाधिकरण्यवशाद् वस्तु। अनेकस्यैकता हि सामानाधिकरण्यम्।– वृत्ति (२/३/६)

१२०. यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसंधानसाधिते।। – ई.प्र.का. २/३/३

१२१. देखा जाए तो शैवों में आकर द्वैराश्यभेद की योजना बिल्कुल उलट जाती है। पहला और मौलिक भेद अभिलापविषयता को लेकर है। बौद्ध अभिलाप को स्वलक्षण में बिल्कुल नकार देते हैं और सामान्यलक्षण में आरोपित पाते हैं। शैवों में अभिलापविषयता (बौद्धों की प्रतिच्छाया के कारण शैव इस शब्द से परहेज़ करते हैं, यहाँ शब्द है 'एकाभिधानविषयता') वस्तुता या आभासत्व का प्राण है और उनके आभासलक्षण का अङ्ग है। उत्पलदेव अपने स्वलक्षदण को आभासनिकुरम्ब या सामान्यनिकुरम्भरूप कहते हैं तथा बौद्धों के स्वलक्षण को निरंश बताकर दोनों के अंतर को उजागर करने का प्रयत्न करते हैं : वस्त्ववभासिना निरंशोत्पलस्वलक्षणविशेषालम्बनेन। – संबंधसिद्धि, पृ.४; सामान्यं चैकमनेकमयं बहिरपि पृथगेव सामान्यनिकुरम्बरूपेभ्यः स्वलक्षणेभ्यः। – तदेव, पृ. १०; एकाभासस्य आभासनिकुरम्भस्य वा स्वलक्षणतैव। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १९ सत् को क्षणरूप मानने वाले बौद्ध आचार्य धर्मोत्तर स्वलक्षण को क्षणतया देखते हुए आत्म–परिभाषित मानते हैं, अतः स्वलक्षण पद में कर्मधारय मानते हैं : स्वम् असाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम्।: (न्या.बि.टी., पृ. ७०)

शैव आचार्य इन दोनों सामान्य और विशेष को पृथक् प्रमाणों का विषय मानते हैं।[१२२] सामान्य को एक प्रमाण का और स्वलक्षण, अर्थात् प्रमेय का वह रूप जिसमें अपनी अर्थक्रिया प्राप्त होती है, को दूसरे प्रमाण का।[१२३] इस प्रकार वे प्रमाण-व्यवस्थावादी कहे जा सकते हैं। भास्कर का कहना है कि शैवों की यह दृष्टि नैयायिकों के विरोध में है।[१२४] परन्तु जैसा कि ऊपर धारावाहिक ज्ञान के प्रसङ्ग में देखा था, वे प्रमाण-संप्लववादी भी हैं। इस प्रकार वस्तु के द्वैराश्यभेद को लेकर व्यवस्थावादी और एक ही वस्तु के संदर्भ में प्रमाणसंप्लववादी यह मिश्रित स्थिति बनती है। परन्तु प्रमाण की प्रत्याभास प्रवृत्ति की दृष्टि से उन्हें प्रधानतया प्रमाण-व्यवस्थावादी कहना अधिक अनुकूल होगा। अपने ज्ञान की सांप्रतिक स्थिति में हम इससे अधिक कहने की स्थिति में नहीं हैं।

प्रमेय को आभास के रूप में प्रतिष्ठित कर प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक उसे बड़ा लचीला और गतिशील बना देते हैं। प्रमेय की संरचना उसके लिए प्रयुक्त शब्द विशेष से होती है जिसे एकैकशब्दवाच्यत्व या एकाभिधानविषयता कहा गया है। होता यह है कि स्वभाव, पूर्वप्रसिद्धि और अर्थित्व की प्रमातृगत भिन्नता के अनुसार (यह भिन्नता एक प्रमाता में भी देशकालभेद से हो सकती है) प्रमाता का यह अनुसंधान ही विमर्श है, जो उस आभास के वाचक शब्द के प्रयोग में प्रतिबिम्बित होता है।[१२५] जो घड़ा हम सामने देखते हैं वह

(न्या.बि. १/१२ पर) ठीक इसके विपरीत अभिनवगुप्त इसे बहुव्रीहि मानकर विगृहीत करते हैं : स्वयं अन्याननुयायि स्वरूपसंकोचभाजि लक्षणं देशकालाकाररूपं यस्य तस्य।: (ई.प्र.वि., १, पृ. ८६), भास्कर के अनुसार इस कारण यहाँ लक्षण है देश-काल-आकाररूप जो विश्व का अन्यानन्वयी स्वरूपसंकोच मात्र है, जब कि धर्मोत्तर में लक्षण है स्वायत्त अन्यनिरपेक्ष क्षण मात्र। यह उनकी तत्त्व-मीमांसा से समञ्जस भी है । यहाँ वस्तु के देश, काल, आकार आदि सभी उपरंजक अन्वयी सत् के आत्म-संकोच मात्र हैं, जबकि अन्यत्र देश, काल, आकार वस्तु के आगंतुक फलतः आरोपित धर्म हैं। भास्कर उनकी प्रमाणविषयता की भिन्नता को लेकर भी संकेत करते हैं। बौद्धों का स्वलक्षण निर्विकल्प ज्ञान और सामान्यलक्षण विकल्पज्ञान का विषय है, जबकि शैव स्वलक्षण को निर्विकल्प ज्ञान का विषय मानते है :'स्वलक्षण' इत्यस्य ज्ञानविशेषणत्वमुक्तम्। तत् अविकल्पकम् [.....] सामान्यलक्षणम् [.....] सविकल्पज्ञानस्य । यद्यपि सिद्धान्ते (अर्थात् शिवाद्वैते) निर्विकल्पस्य सामान्यनिष्ठत्वं सविकल्पस्य तु देशादियोजनारूपविशेषनिष्ठत्वमेव तथापि तावदास्ताम्। (भा. १, पृ. ८५-८६)

१२२. तत्र च पृथगेव प्रमाणम्। - ई.प्र.वि., २, पृ. ७७

१२३. विमर्शभेदानुसार्येकैकशब्दवाच्ये पृथक् पृथगेव [.....] सामान्यरूपे वस्तुनि, स्वकार्थक्रियाप्राप्ते [.....] प्रमितिः प्रमातृव्यापारः। - वृत्ति (२/३/१-२)

१२४. तत्र चान्यदेव पृथक् प्रमाणं भवति एतेन तार्किकमतनिरासः। - भा., २, पृ. ७७

१२५. कारिकागत 'एकस्मिन्ननुसंधानसाधिते' को 'अनुसंधानसाधिते एकस्मिन्' (अर्थे) के अभिप्राय में लेकर उत्पल अनुसंधान की व्याख्या एकप्रत्यवमर्श (एकप्रत्यवमर्शसामर्थ्योपपादिते) की शब्दावली में करते हैं। टोरेला (ई.प्र.वृ., टि.सं. ७-८, पृ. १६३-६४) इसे कारिका में आए 'एकानुसंधान' की व्याख्या मानते हैं, यद्यपि कारिका में प्राप्त पद अनुसंधान ही है, एकानुसंधान नहीं। इस अनुसंधान का रूप है : यह जो सामान्य रूप प्रत्यवमर्श है, वही यह पदार्थ भी है। अभिनव (ई.प्र.वि., २, पृ. ११७

यद्यपि दिखने में एक लगता है पर वह केवल उतना ही नहीं है, अलग–अलग प्रमाताओं की दृष्टि उसको अलग–अलग बांट कर भी देखती है। प्रमाता का मन, उसका अर्थित्व, वस्तु–संबंधी पूर्वप्रसिद्धि इनके आधार पर यदि आभास पृथक् ही भासित होते हैं, तो फिर स्वलक्षण (विशेष) की एकरूपता कैसे सधती है, घट को हम एक कैसे कहते हैं? अभिनव का निदान यह है कि अलग–अलग भासित होने वाले आभासों का कभी तो ऐसा विमर्श होता है जो उन सबमें प्राप्त होता है, तब हम वहाँ उसे सामान्याभास कहते हैं, जिसे परापर सामान्य के रूप में लिया जा सकता है जैसे 'गोत्व'। यहाँ पर सत्ता और गोत्व (क्रमश: पर और अपर सामान्य) दो सामान्यों का ग्रहण होता है।[१२६] कभी इन सामान्यों में

: परो यो विमर्श: स एवायं पदार्थ: इति एकप्रत्ययवमर्शरूप:) और भास्कर (भा., २, पृ. ११८ : स्फुटमेवानुभूयमाने सोऽयं पदार्थ इति सामान्यप्रत्यवमर्शे) इसे इसी तरह समझाते हैं। यह शब्द उत्पल को धर्मकीर्ति (प्र.वा., स्वो. वृत्ति १/१०९ : तदपि प्रतिद्रव्यं भिद्यमानमपि प्रकृत्यैकप्रत्यवमर्शस्य अभेदावस्कन्दिनो हेतुर्भवद् अभिन्नं ख्याति, ई.प्र.वृ. में उद्धृत, पृ. ११७) से लगभग इसी अर्थ में मिला है।

१२६. भास्कर यहाँ पर दो सामान्य मानते हैं, सत्त्व और गोत्व। 'सत्' में 'इदं सत्' जैसी योजना न होने के कारण केवल सत्ता का ग्रहण होता है। 'गोत्व' अपर–सामान्य है, वह भी देश–काल से रहित है। इस अपर–सामान्य में 'अत्र' इस प्रकार देश, 'इदानीम्' इस प्रकार काल भी, अलग–अलग रहते हैं। 'गौ:' इस प्रकार गो जाति, 'सफेद' इस प्रकार शुक्लत्व, 'चलने वाली' इस प्रकार चलनत्व, 'डित्थत्व' आदि सभी अपर–सामान्य हैं, क्योंकि 'यहाँ यह चलनेवाली डित्थ नामक सफेद गाय' इस प्रकार की योजना से इनका ग्रहण नहीं होता। इसका निहितार्थ यह हुआ कि यदि इस प्रकार की योजना हो जाए तो वह स्वलक्षण या विशेष बन जाएगा : तदा–तस्मिन् काले, 'परापरसामान्यग्रहणम्'–सत्तारूपगोत्वादिरूपसामान्यद्वयग्रहणम्, सदिति सत्ताग्रहणेन सत्ताग्रहणं पृथक् पृथगेव, अत्रेदं सद् इति योजनाराहित्यात् तथापरसामान्ये देशकालग्रहणं पूर्ववदेव पृथक् पृथक्, गौरिति गोजातिग्रहणम्, शुक्लेति शुक्लत्वजातिग्रहणम् चलेति चलनत्वग्रहणम्, डित्थेति डित्थत्वग्रहणम् पृथक्पृथगेव अयम् अत्र गौ: शुक्लश्चलो डित्थसंज्ञ इति योजनया अग्रहणात्। (भा., २, ९३) भास्कर के मूलभाव से सहमत होते हुए भी मुझे लगता है कि परापरसामान्य को स्वतंत्र सामान्य मानना उचित नहीं होगा क्योंकि गोत्व में यदि सत्ता और गोत्व दो पृथक् सामान्य माने जाएंगे और दोनों की चेतना होगी तो देशकाल के न मानने पर भी दो की सहचेतना बिना योजना के नहीं हो पाएगी, यदि योजना है तो अगत्या इसे स्वलक्षण मानना होगा। ऐसी स्थिति में परापर सामान्य को एक ही सामान्य मानना होगा। पर, परापर और अपर सामान्य का विभाग पारस्परिक व्यापक–व्याप्यभाव के आधार पर होगा, जहाँ हर व्याप्य व्यापक से अंतर्व्याप्त रहेगा। फलत: व्याप्य सामान्य एकल रूप से व्यापक को अंतर्गर्भित करता हुआ विमृष्ट होगा। अभिनव के 'परापरसामान्य' का अर्थ यह प्रतीत होता है कि सामान्य की वस्तुत: दो कोटियाँ है – पर और अपर, किन्तु अनुभव में सामान्यत: दोनों मिलकर परापर सामान्य के रूप में ही गृहीत होते हैं। इस प्रकार 'मृत्तिका' में सत्त्व और मृत्तिकात्व, 'घट' में सत्त्व, मृत्तिकात्व और घटत्व की व्यापक–व्याप्यभाव से परापरता को समझा जा सकता है।

मुख्यामुख्यभाव से या भास्कर के शब्दों मे विशेषणविशेष्यभाव से 'यहाँ यह ऐसा' ('अत्र इदम् इत्थम्') इस प्रकार की मिश्रणा या योजना से प्राणित विमर्श होता है, तब स्वलक्षण बनता है। यही वस्तु का असाधारण रूप है। इस योजना या मिश्रणा-विमर्श से साधित विशेष ही प्रमाताओं की रुचि-भेद, अर्थिता-भेद, वृद्धव्यवहारशरणता-भेद से भेदित होता रहता है, तदनुसार प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।[१२७] वस्तुत: देश और काल ये ही दो तत्त्व सामान्य को विशेष बनाते हैं।[१२८] देशाभास से 'यहाँ इस जगह' ('इह अमुत्र'), कालाभास से 'अभी इस समय' ('अधुना इदानीम्') से विशेषित पुरुषत्व ही सामान्य पुरुष बनता है। यह मुख्यावभास है। अब इसी मुख्यावभास के समान अधिकरण[१२९] में मोटा-पतला, ब्राह्मण-क्षत्रिय, गोरा-काला, पढ़ा-बेपढ़ा, वैज्ञानिक-कलाकार, छात्र-अध्यापक आदि गुण, जाति, धर्म आदि के अनन्त सामान्य अमुख्य रूप से प्रमाता के स्वभाव, पदार्थ के संबंध में उसकी जानकारी और प्रयोजन के अनुसार प्रविष्ट होते रहते हैं, हटते रहते हैं। इन अमुख्याभासों की प्रमातृ-भेद से परिवर्तनशीलता अर्थक्रिया को भी बदलती हुई प्रमेय के स्वरूप का अतिविशेषरूप से परामर्श भी करती चलती है। उत्पल यहाँ स्वलक्षण के तीन स्वरूपगत वैलक्षण्यों को रेखांकित करते हैं। एक, जहाँ सामान्य या आभासमात्र पदरूप होता है (एकाभिधानविषय), वहाँ स्वलक्षण वाक्यात्मा अर्थात् वाक्यार्थपरामर्शरूप होता है: 'यहाँ इस समय यह (गोल, मिट्टी का/सोने का, बड़ा इत्यादि) घड़ा है'(**इह इदानीं एष घटोऽस्ति इत्येवंरूप:।**)[१३०] इस प्रकार का। यहाँ 'इह' देश का आभास है, 'इदानीम्' काल का आभास है, 'एष:' गुण (या गुणों) का आभास है और 'घट:' सामान्य या जाति का आभास है। दूसरे, इनमें एक आभाससामान्य मुख्य है और अन्य अमुख्य। जो मुख्य है वही समानाधिकरण बनता है और इसलिए वह योग्यतया पदातिक्रामी वाक्य है और अमुख्याभासों की योजना द्वारा वह वाक्यार्थपरामर्शरूप विमर्श से अनुप्राणित होता है। इस दृष्टि से एकैकशब्दाधियेता स्वलक्षण के संबंध में एक नया अर्थ ग्रहण करती है। तीसरे, एक स्वलक्षण या विशेष के अङ्ग बन जाने पर भी वे अपने निजी वैशिष्ट्य को कभी नहीं छोड़ते। इसलिए अपने निजी रूपों में उनकी अर्थक्रिया एक-एक रूप से नियत होती है

१२७. ई.प्र.वि., २, पृ. ९३-९४

१२८. देशकालाभासावेव हि सामान्यरूपताप्रयोजकव्यापित्वनित्यत्वखण्डनाविधानसविधवृत्ती विशेषरूपतां वितरत:। - तदेव, पृ. ९५

१२९. आभासानां मिश्रं यद्रूपं तत्र अवश्यं कश्चिदाभास: प्रधानत्वेन अन्याभासानां विश्रान्तिपदीकार्य: स तेषां समानाधिकरणम्। - तदेव, पृ. १०१

१३०. तं सामानाधिकरण्याभासं समनुप्राणयति यो वाक्यात्मा वाक्यार्थपरामर्शरूपो विमर्श: 'इह इदानीं एष घटोऽस्ति' इत्येवंरूप:। - तदेव, पृ. १०२

और स्वलक्षण के अङ्गरूप में अर्थक्रिया समुदित होती है।[१३१] अत: स्वलक्षण या विशेष भी दो प्रकार का हो सकता है – (१) एकाभास रूप, जहाँ देश, काल के अतिरिक्त एक ही सामान्य है। उदाहरण के लिए जैसे 'घट:' (वस्तुत: 'अत्र इदानीम् अयम्') और (२) अखिलाभासरूप[१३२] जैसे 'लाल मिट्टी का सोंधा घड़ा' (जहाँ देश–काल के अतिरिक्त रक्तत्व, मृत्तिकात्व, निर्मितत्व, गंधगुणत्व आदि घटत्व के सामान्याधिकरण में वर्तमान हैं)। इन दोनों ही स्वलक्षणों की अर्थक्रिया अलग–अलग होगी। इन तीनों के अतिरिक्त चौथी बात, जो स्वलक्षण की आंतरिक संघटना का अनिवार्य परिणाम है, यह है कि घटक आभासों या घटक–सामान्यों की भिन्नतया, स्वतंत्रतया, या विशेषण–विशेष्यता–समवधारणपूर्वक प्रतीति न होकर एकाकारा, समुदित प्रतीति होती है। इसीलिए यहाँ विशेष या स्वलक्षण को आभासनिकुरम्ब (gestalt) कहा गया है। इस प्रकार आभासमात्र में वस्तु देशादियोजना–निरपेक्ष एक ही शब्द से कही जाकर अपने प्राधान्य से अवस्थित होती है। एकशब्दप्रतिपाद्यता की तार्किक व्यञ्जना यह है कि उस आभासमात्र या आभाससामान्य में अनियत स्वलक्षण का आश्रय हो सकने की और कल्पित स्वलक्षण से संबंध धारण की योग्यता (potentiality) है। जब कि इससे भिन्न स्वलक्षण एक योजना है, एक समुदाय या निकुरम्ब है, देशादियोजना के कारण कल्पित वस्तु या योजना है और शब्दैकशरीरवाक्यार्थसमनुप्राणित है।[१३३] इन्हें अभिनव अन्यत्र असमग्राभास और समग्राभास के पर्यायों से भी प्रतिपादित करते हैं।[१३४] स्वलक्षण का सामान्य लक्षण से पाँचवां भेद दोनों के देश–काल से संबंध को लेकर प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की सिद्धि की दृष्टि से होता है। प्रत्यक्ष का प्रामाण्य एकसामान्य–विषयक ही होता है, पर वही प्रत्यक्ष आभासान्तरों के मिश्रणाभास वाले अंश में भी निर्बाध रूप से प्रमाण बनता है। ऐसी स्थिति में सामान्याभास (अभी तक के निरूपण में देश–काल से रहित) सर्वदेशकालगत सिद्ध होता है, और स्वलक्षणाभास असर्वदेशकालगत। यद्यपि प्रामाण्यात्मक सिद्धि सर्वदेशकालगामी होती

१३१. ततो हेतो: ये अभेदिन: एकस्वलक्षणतां प्राप्ता न च स्वरूपभेदम् उज्झन्त: तेषाम् अन्या विशिष्टा समुदिता अर्थक्रिया। आभासविमर्शभेदे पुनरन्या नियता एकैकमात्ररूपा। – तदेव, पृ. १०२–१०३

१३२. (अ) स्वलक्षणं घटाभासमात्रेणाथाखिलात्मना। – ई.प्र.का. १/४/२

(आ) तत्स्फुरणे च एकाभासस्य आभारानिकुरम्भ(ब)स्य वा स्वलक्षणतैव।–ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १९

१३३. सामान्यं चैकमनेकमयं बहिरपि पृथगेव सामान्यनिकुरम्बरूपेभ्य: स्वलक्षणेभ्य:। तच्च एकेनैव शब्देन अनियतस्वलक्षणाश्रयत्वेन प्रतिपाद्यते, तच्च कल्पितस्वलक्षणसंबंधम् एकशब्दप्रतिपाद्यमेव गौरिति। – संबंधसिद्धि, पृ. १०

१३४. असमग्रत्वे, समग्रत्वेऽपि वा आभासनम्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २९

है।[१३५] फिर भी उपर्युक्त पद्धति से विभाजन में कोई असंगति नहीं कही जाएगी।

प्रत्यभिज्ञा आचार्यों के मत में प्रमाण की प्रवृत्ति का विषय प्रत्येक आभास या आभासमात्र है। आभासमात्र का अर्थ है आभाससामान्य। समस्या है कि आभासों की व्यवस्था विमर्श पर निर्भर करती है, इस दृष्टि से स्वलक्षणात्मक वस्तु (विशेष) भी आभास हुई और आभास होने के नाते वह भी प्रमाण की प्रवृत्ति का विषय हुई।[१३६] पर इससे प्रमाण का प्रत्याभासविषयता-सिद्धान्त कठिनाई में पड़ जाता है, क्योंकि स्वलक्षण एक आभासमात्र न होकर आभासों का संपुंजन या मिश्रीकार है और स्वलक्षण हमारे ज्ञान का विषय भी बनता है, अतः उसकी प्रमेयता में संशय नहीं होना चाहिए।[१३७] इस कठिनाई का प्रकारान्तर से यह भी रूप हो सकता है कि आभासमात्र (सामान्य) की स्वतन्त्र प्रमेयता होने पर अनेकाभासमिश्रणरूप विशेष का ज्ञान कभी संभव नहीं होगा, पर यह हमारे अनुभव के विरुद्ध है।

शैव दार्शनिक इसमें कठिनाई नहीं देखते। जहाँ तक आभाससामान्य का प्रश्न है, वह एक स्वतन्त्र प्रमाण का विषय है। स्वलक्षण या विशेष का स्वभाव है सामानाधिकरण्याभास। दूसरे शब्दों में मिश्रताभास या योजनाभास, यह दूसरे प्रमाण का विषय है। समान अधिकरण में जिन पृथक्-पृथक् आभाससामान्यों के मिश्रण से स्वलक्षण परिघटित होता है, वे आभाससामान्य अपने-अपने प्रमाणों से ग्रहण किए जा चुकते हैं। अतः वहाँ दूसरा प्रमाण गृहीतग्राही होने के कारण प्रमाण नहीं होता, अप्रमाण ही रहता है।[१३८] उसका काम उन आभासों की विशेषण-विशेष्य रूप योजना या योजनाभास को ही

१३५. यद्यपि प्रत्यक्षेण एकसामान्यविषय एव प्रामाण्यमासादितम्, तथापि मिश्रणाभासांशे प्रामाण्यमखण्डितमेवेति सामान्यं सर्वदेशकालगतं सिद्ध्यति, स्वलक्षणं तु असर्वदेशकालमिति विभागोऽयं सिद्धेः कृत सर्वदेशकालगामित्वेऽपि। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ९०

१३६. प्रत्याभासं प्रमाणस्य व्यापारो न तु स्वलक्षणात्मकवस्त्वेकनिष्ठतानियमेन। – ई.प्र.वि., २, पृ. ६७

१३७. तथा च प्रत्याभासं भिन्नस्य स्वलक्षणस्यापि एकाभिधानविषयत्वम् अवतरणिकायां शंकितं तद्द्वारेण (एकाभिधानविषयत्वद्वारेण) प्रत्याभासविषयत्वकथनायोग्यत्वं, स्वलक्षणस्यैव प्रमाणविषयत्वापादनं च युक्तमिति भावः। – भा., २, पृ. ९४

१३८. तत आभासमात्रमेव वस्तु, स्वलक्षणं तु तदाभाससामानाधिकरण्याभासरूपम् आभासान्तरम् एकम् अन्यदेव, तत्र च पृथगेव च प्रमाणं, तत् परं (भा. : केवलं) मिश्रीकारेषु तेषु आभासेषु गृहीतग्राहि, न प्रमाणम्। – ई.प्र.वि., २, पृ. ७७; भास्कर समझाते हैं : प्रथमं हि सामान्यादित्रयं स्वस्वविषयैः प्रमाणैर्गृहीतमेव, तदनन्तरमिदं प्रमाणं विशेषणविशेष्यभावेन योजनामात्रमेव करोति, इत्यतस्तत्प्रमाणं न भवति, अगृहीतग्राहित्वात् प्रमाणस्य। – (भा., २, पृ. ७७) यहाँ पर 'त्रय' (सामान्यादित्रयं) का अर्थ अस्पष्ट है।

ग्रहण करना होता है। स्वलक्षणविषयक प्रमाण की यह योजनाकारिता या योजनाग्राहिता विकल्प रूप होने के कारण उपचरित प्रमाणता है या शब्दान्तर से स्वलक्षण की उपचरित प्रमाण–विषयता है।[१३९]

भास्कर अपने चित्तानुबोधशास्त्र में दो प्रकार की प्रमाण–विषयताओं, मुख्या और गौणी, की परिकल्पना करते हैं। नानाधर्मयोगिता के कारण स्वलक्षण या विशेष में प्रत्येक सामान्यांश के लिए पृथक् प्रमाण होता है, प्रतिसामान्य एक प्रमाण। सामान्याभासों की मुख्य प्रमेयता है और विशेष्य अर्थात् स्वलक्षण की गौणी प्रमेयता है। इस प्रकार मुख्यप्रमेयता–परामर्शपूर्वक गौणीप्रमेयता–परामर्श से स्वलक्षण ज्ञान का विषय बनता है।[१४०] प्रमाण का लक्षण सविमर्शप्रकाश की शब्दावली में करके भास्कर प्रमा–प्रमाण के अभेद को प्रमाण

१३९. भास्कर चेताते हैं कि आभासान्तर का अर्थ दूसरा आभास न होकर 'वस्तु' के आभास से अन्य आभास अर्थात् अवस्तु है : आभासान्तरं वस्त्वाभासादन्य एव आभासः। (तदेव) वस्तुतः भास्कर को अपनी तात्त्विक स्थिति का पता है। यहाँ ज्ञान की स्वप्रकाशता के कारण हर भात वस्तु में प्रामाण्य है, परन्तु ऊपर का प्रतिपादन बौद्ध आदि के खंडनार्थ किया गया है : यद्यप्येतद्दर्शने भाते सर्वत्र प्रामाण्यमेव, तथापि बौद्धादिभङ्गार्थम् एवमुक्तम्। (तत्रैव) अभिनवगुप्त के सामने भी बौद्ध हैं, पर वे बौद्धों से अपनी समानता देखते हैं। बौद्धों के यहाँ यद्यपि प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाता है और उसका ग्राह्य वस्तु या स्वलक्षण (शैवों का आभासमात्र या सामान्य) होता है, फिर भी प्रत्यक्ष के ग्राह्य विषय की प्रमाणता अध्यवसाय (जो अभिलापात्मक है) के अधीन रहती है। अभिनव का कहना है कि हम भी ('भी' इसलिए कि यहाँ प्रमाण प्रकाशरूप है, पर उसका प्रमिति–मूलक आयाम विमर्शरूप है) अध्यवसाय को शब्दाश्रित मानते हैं। इसलिए यह अध्यवसाय हर आभासमात्र को ही ग्रहण करता है, अतः वे (अर्थात् बौद्ध), जो वस्तु के पूरे रूप (अध्यवसेय विषय) के अध्यवसाय को भी प्रमाण मानते हैं, यह मानने के लिए विवश हैं कि ज्ञान या अध्यवसाय का प्रामाण्य भी प्रत्येक आभासमात्र (अर्थात् प्रत्येक ग्राह्य विषय =स्वलक्षण) में ही परिनिष्ठित होता है : अध्यवसायस्य अस्मदुक्तनयेन शब्दप्राणितस्य प्रत्याभासविश्रान्तौ तदपेक्षमपि प्रामाण्यं वदता प्रत्याभासनिष्ठमेव प्रामाण्यमुपेत्यम्, इत्यास्ताम् किमवान्तरेण। – ई.प्र.वि., २, पृ. ७७ अभिनव अन्यत्र फिर इसी बात को प्रकारान्तर से दुहराते हैं कि बौद्ध भी प्रत्येक व्यावृत्ति को लेकर अलग अध्यवसाय मानते हैं, इसलिए हर अध्यवसाय से संबद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण एक–एक व्यावृत्ति में ही विश्रान्त होता है। हमारे यहाँ भी इसी प्रकार प्रत्येक आभास के लिए प्रमाण का पृथक् व्यापार होता है : सौगतानामपि प्रतिव्यावृत्त्यध्यवसायः, इति तद्व्यवह्रियमाणप्रमाणभावस्य प्रत्यक्षस्य एकैकव्यावृत्तिविश्रान्ततैव। इहापि प्रत्याभासं प्रमाणे व्यापार इति वक्ष्यते।– ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १६३

१४०. प्रमाणानि च यान्यत्र प्रतिसामान्यमेककम्।
सविमर्श(विसर्ग?)प्रकाशस्य लेशभूतानि निश्चितम्।।
स्थितिं यान्ति ततो मेयं मुख्यं सामान्यमेव तु।
गौणी प्रमेयता प्रोक्ता विशेष्यस्य सदा बुधैः। – चि.अ.शा. १/२२६–२२७

में ही गतार्थ कर देते हैं। भास्कर इससे कोई नया प्रतिपादन नहीं करते, केवल कथन की भंगिमामात्र बदल देते हैं। आगे चलकर वह स्पष्ट कहते हैं कि सामान्य ही प्रमाण का वास्तविक विषय है, विशेष वास्तविक विषय नहीं है, क्योंकि वह प्रमाण से नहीं केवल योजना से गृहीत होता है।[१४१] अतः गौणी प्रमेयता का अर्थ उपचरित प्रमेयता से लेना होगा। पर इससे हम एक नई कठिनाई में फंस जाते हैं, क्योंकि उत्पल (**पृथक्पृथगेव सामान्यरूपे वस्तुनि स्वकार्थक्रियाप्राप्ते**) और अभिनव (**स्वलक्षणं तु |.....| आभासान्तरम् |.....|, तत्र च पृथगेव प्रमाणम्**) कह चुके हैं कि विशेष सामान्य से भिन्न कोटि का प्रमेय है इसलिए उसमें, सामान्यग्राही प्रमाण से भिन्न प्रमाण की अपेक्षा होती है। पर इस भिन्न प्रमाण को योजनामात्र में संरचित कर शैव आचार्य उसे अगृहीतग्राही प्रमाण ही नहीं रहने देते, तब इस प्रतिपत्ति का क्या अर्थ लिया जाए : **तत्र तु पृथगेव प्रमाणम् न**। ऐसा लगता है कि दूसरे प्रमाण का अर्थ शैव आचार्य या तो 'उपायान्तर' (पारिभाषिक 'प्रमाणान्तर' नहीं) से लेते हैं और या भास्कर की भांति गौणी प्रमेयता से लेते हैं। उपायान्तर अर्थ लेने पर प्रमाण, साधन विशेष का वाचक हो जाएगा पारिभाषिक प्रमाण का नहीं। अभिनव साफ कहते हैं कि स्वलक्षण में जो मिश्रण या ऐक्याभास है, केवल उसी में अनुसंधान प्रमाण होता है- अनुसंधान है पूर्वगृहीत आभासों की एकाभासरूप योजना। जहाँ तक अनुसंधीयमान आभासों (सामान्यों) का प्रश्न है उनमें गृहीतग्राही होने के कारण वह अनुसंधान अप्रमाण है, वहाँ तो पहले वाला ही प्रमाण होगा।[१४२] पर ऐक्याभास में अनुसंधान को इसलिए 'प्रमाण' कहते हैं कि मिश्रणांश में, योजनांश में वह एक प्रकार से अगृहीतग्राही होता है, इसीलिए उसे अभिनव ने 'प्रमाणभावभाक्' कहा है।[१४३] अनुसंधान को प्रमाणरूप मानने का कारण यह है कि वह संवेदनरूप होता है। जो सामान्य अपने-अपने प्रमाणों से ग्रहण किए गए हैं, वे इस अनुसंधान से आपस में जोड़ लिए जाते हैं[१४४];

---

१४१. सामान्यमेव मानस्य विषयः सत्यतो भवेत्।
स्वलक्षणं तु नो सत्यं मात्रयोजनसाधितम्।। - तदेव १/२३३
एकत्वव्यवहारोऽत्र त्वनुसन्धानमात्रतः।
तच्चोक्तं कल्पनामात्रमिति का धर्मकल्पना। - तदेव १/२६२

१४२. तच्च ऐक्याभासमात्रे अनुसंधानरूपं प्रमाणम्, अनुसंधीयमानेषु तु आभासेषु गृहीतग्राहित्वात् अप्रमाणम्, तत्र तु प्रत्येकं प्राच्यमेव प्रमाणम्। - ई.प्र.वि., २, पृ. ११२

१४३. स्वसंवेदनेन प्रत्याभासं गृहीतग्राहिणा अपि मिश्रणांशे प्रमाणभावभाजा। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १४५

१४४. 'अनुसंधानरूपम्' पूर्वगृहीताभासयोजनारूपम् 'तच्च' संवेदनरूपं च [.....] यथास्वं स्वविषयेन प्रमाणेनैव पूर्वं गृहीताः, अनेन त्वनुसन्धीयन्ते, अन्यथैक्येन ग्रहणासंभवात्। - भा., २, पृ. ११२

अन्यथा एक विशेष के रूप में प्रतीति ही नहीं होगी।[१४५]

प्रत्येक सामान्य के प्रति प्रमाण की प्रवृत्ति अलग-अलग होती है इस सिद्धान्त में एक और बड़ी कठिनाई है। यदि धुएं का ज्ञान धूमाभास-मात्र पर, अग्नि का ज्ञान अग्न्याभास-मात्र पर, कार्यकारणभाव का ज्ञान कार्यकारणभावाभास-मात्र पर निर्भर है तो पृथक् प्रमाण वेद्य होने के कारण अग्नि के न होने पर भी (धूमाभासमात्र के कारण) धूमज्ञान की संभावना होगी और अग्नि के होने पर भी (धूमाभासमात्र के अभाव में) धूमज्ञान न होगा, इस प्रकार व्याप्ति या नान्तरीयक संबंधों में बड़ी अराजकता हो जाएगी।[१४६] उत्पल इस कठिनाई का संज्ञान लेते हैं।[१४७] उनका कहना है कि अग्न्याभास (आदि) अपनी सामान्यरूपता में जब वह 'अविशिष्ट' (अर्थात् अस्वलक्षणीभूत) है, उस समय भी जिन आभासों के साथ वह स्वभावतः निरपवाद रूप से अविनाभूत है,[१४८] उन आभासों के स्वीकारपूर्वक ही वह प्रमाण-जन्य निश्चय का विषय बनता है।[१४९] इस प्रकार 'ईंधन का कार्य होना', 'धूम का कारण होना' 'उष्णस्वभाव का होना' – ये सारे सामान्याभास अग्न्याभासमात्र के अङ्ग हैं। यही नहीं, 'अग्नि शब्द से वाच्य होना' जो मनुष्यकृत संकेत से प्राप्त होता है (अर्थात् स्वाभाविक नहीं है) वह भी उस अग्नित्व-सामान्य के उसी एक (प्रत्यक्ष) प्रमाण से ही गृहीत होता है। अभिनव और उत्पल के उत्तरों में काफी जटिलता है और लगता है कि उन्हें परेशानी हो रही है। अभिनव के उत्तर का मुख्य आधार है नियति शक्ति का आश्रय। सीधे शब्दों में आभाससामान्य के ग्रहण का अर्थ उसका स्वभावविकलता में ग्रहण न होकर स-स्वभाव ग्रहण में है। चूंकि यह उसका स्वरूप है,

---

१४५. लगता है कि शैवों ने अपने को बौद्धों की स्थिति में विलोम-क्रम से ढाल लिया है। बौद्धों में स्वलक्षण प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय है और सामान्य अध्यवसेय। परन्तु स्वलक्षण की वास्तविक विषयता होती है और सामान्य विकल्प का विषय रह जाता है। ठीक इसके विपरीत शैवों में सामान्य प्रमाण का वास्तविक विषय है और स्वलक्षण विकल्प रूप योजना का।

१४६. ई.प्र.वि., २, पृ. १०७

१४७. तत्राविशिष्टे वह्न्यादौ कार्यकारणतोष्णता।
तत्तच्छब्दार्थताद्यात्मा प्रमाणादेकतो मतः।। – ई.प्र.का. २/३/८

१४८. सृष्टि एक व्यवस्था है जिसे शैव आचार्य आत्मचेतन परमसत्ता के नियमन-स्वातन्त्र्य, नियतिशक्ति, से नियमित और अनुशासित मानते हैं।

१४९. तत्रेति प्रत्याभासं प्रमाणं विश्राम्यति इत्यस्मिन्नपि पक्षे न कश्चिद्दोषः, तथाहि अविशिष्टो यद्यपि वह्न्याभासो देशकालाभासप्रमुखैः आभासैः असंकीर्णत्वेन सामान्यमात्ररूपत्वात् तथापि स एवाभासो यावद्भिराभासैरविनाभूतो भगवत्या नियतिशक्त्या नियमितः तावतोऽवभासान् स्वीकृत्यैव प्रमाणकृतां निश्चयपदवीम् अवतरति। – ई.प्र.वि., २, पृ. १०८

अतः वहाँ विशेषणविशेष्य भाव या स्वालक्षण्य नहीं है। अग्न्याभास का कार्यता, कारणता, उष्णता, शब्दाभिधेयता आदि आभासों के साथ नान्तरीयक या अविनाभूत रूप से ग्रहण सर्वत्र और सर्वकाल में नियति के कारण उसी रूप में होता है, अतः एक ही प्रमाण पर्याप्त होता है, प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं पड़ती और सिद्धान्तभङ्ग का दोष भी नहीं रहता।[१५०] उत्पल सामान्य और विशेष की अपनी अवधारणा की नयी व्याख्या करते हुए इस प्रश्न को सुलझाना चाहते हैं। वृत्ति में आए **देशादिसहभावावच्छिन्नस्वलक्षणरूपविशेषत्यागेन एकसामान्यरूपाग्न्याभासमात्र एव** (२/३/८) की व्याख्या द्वारा अभिनव कहते हैं[१५१] कि देश और काल ही विशेषरूपता के आधायक तत्त्व हैं अर्थात् विशेषरूपता की अन्यत्र अननुगामिता को निर्धारित करते हैं, उनके अभाव में आभासान्तरमिश्रणा (जिसे अब तक हमने विशेषरूपता का कारक समझ रखा है) विशेषरूपता का आधान करती हुई भी स्वालक्षण्य अर्थात् वस्तु के पार्यन्तिक स्वरूपसंकोच रूप अननुयायि स्वभाव का आक्षेप नहीं करती।[१५२] उदाहरण के लिए वह 'शावलेय' को लेते हैं, यहाँ तमाम सामान्याभासों जैसे सत्त्व, द्रव्यत्व, प्राणित्व, पशुत्व, गोत्व आदि अनन्त आभासों ('परापरसामान्य' का स्मरण करें) के होने पर भी देश और काल के न होने के कारण सामान्याभासरूपता खंडित नहीं होती। कारण, महाविषयता और अल्पविषयता परस्परापेक्षी होने के कारण जिस सामान्यरूपता और विशेषरूपता का आसूत्रण करती हैं वह अनियत है, जब कि स्वलक्षणरूप विशेष की नियतरूपता होती है।[१५३] अतः यहाँ अग्न्याभास में ये तमाम सामान्याभास अनियत-सामान्यविशेषरूपतया उपलब्ध होते हैं और देश-काल का अभाव सामान्य की स्वाभाविक अनुगामिता को भंग नहीं करता। परिणामतः एक प्रमाण से उस सामान्याभास में नान्तरीयक सारे सामान्याभासों के ग्रहण में बाधा नहीं होती। यहाँ वस्तुतः त्रिक आचार्य सामान्य और विशेष के मध्य एक अन्य राशि की भी कल्पना करते हैं, 'सामान्यविशेष' की। सामान्यविशेष की स्थिति भी सामान्य के ही अंतर्गत आती है, अपनी सामान्यविशेषरूपता की अनियतरूपता के कारण। यहाँ

---

१५०. ततश्च नियतिशक्त्युपजीवनेन धूमाभासोऽपि अग्न्याभासाव्यभिचारी इति न कश्चित् विप्लवः। - तदेव, पृ. ११०-१११

१५१. द्रष्टव्य ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १२१-१२४

१५२. तावेव हि आकारस्य आक्रियमाणस्य अर्थस्य भेदम् अन्यत्र अन्यदा च अननुगामितां प्रतिष्ठापयतः, तदभावे हि आभासान्तरव्यागमिश्रणा विशेषरूपतां विश्राणयन्ती अपि न स्वालक्षण्यम् आक्षिपति। - तदेव, पृ. १२१

१५३. तेन महाविषयत्वाल्पविषयत्वाभ्यामापेक्षिकाभ्यां सामान्यविशेषरूपत्वम् अनियतम्, स्वालक्षण्यं तु नियतम्। - तदेव, पृ. १२१-१२२

चर्चित अग्न्याभास सामान्यविशेष रूप सामान्य है। इसी युक्ति को अभिनव एक नया आयाम देते हैं, इस बार सामान्य और स्वलक्षण से हटकर देश और काल की अवधारणा के पुनर्व्याख्यान द्वारा। प्रमाण–चिन्तन में जिस देश–काल की बात की जा रही है, वह सामान्य देश–काल है, उसके होने पर सामान्य का स्वरूप यथावत् रहता है। जब सामान्य देश–काल का विशेषीकरण हो जाता है, तभी सामान्याभास स्वलक्षणाभास बनता है। शैवी सन्मीमांसीय दृष्टि से देश–काल का अर्थ है चेतना के भेदन के साथ नान्तरीयक होना। इसलिए चेतना के मूर्त्यवभासन और क्रियावभासन, जो चेतना के स्वरूपभूत हैं, देश और काल के रूप में प्रकट होते हैं।[१५४] अतः 'सत्', 'घट' आदि आभास मूर्तिभेद रूप हैं और इनमें जब तक दूसरे मूर्तिभेदों से संभिन्न होने का अवकाश रहता है तब तक ये सामान्यविशेषरूप ही हैं; अपनी पर्यन्तावस्था में जब अन्य मूर्तिभेद या आकारभेद से संभेद असंभव हो जाता है, तभी ये विशेष बनते हैं।[१५५] इस स्वरूपीभूत देश–काल का त्याग असंभव है, परन्तु स्वलक्षण में इस देश–काल का भी विशेषीकरण होता है, तभी सामान्य विशेष बनता है। इसी व्यतिरिक्तीकृत देश–काल के त्याग की बात उत्पल ने अपनी वृत्ति के उद्धृत अंश में की है। यह त्याग भी देश–काल का विशेषरूपतया त्याग है, सामान्यरूपतया नहीं। अतः वह्न्याभाससामान्य की जो बात यहाँ की जा रही है, उसकी सामान्यरूपता का नियामक है व्यतिरिक्तीभूत देश–काल का विशेषरूपतया त्याग।[१५६] अभिनव का निष्कर्ष है कि महासामान्य से विशेष तक की यात्रा वर्धमान संकोचों की सतत श्रृंखला है। संकुचित होने वाले स्वरूप का नाम ही है देश–काल, इनमें भी जब बीच में संकोचान्तर का प्रवेश होता है तो सामान्यता, और जब संकोचान्तर दूसरे मूर्तिभेदों को आगे सहने में असमर्थ हो जाए तब विशेषरूपता होती है। सत्ता को महासामान्य इसीलिए कहा जाता है कि सारे मूर्तिभेदों की संभावना उसके गर्भ में रहती है।[१५७] इसलिए अभिनव

---

१५४. इह त्यागो य उक्तः, स कयोः देशकालयोरिति चिन्तायां स्वरूपीभूतयोर् मूर्त्यवभासक्रियावभासा–त्मनोर्मन्तव्यः। स हि भेदस्वरूपनान्तरीयक एव। – तदेव, पृ. १२३

१५५. इयति च अत्र सामान्यविशेषता सर्वत्र प्रकाशापेक्षया। यत्र तु पर्यन्तवर्तिनि मूर्तिक्रियाभा–सेऽन्यसंभेदासंभवः, स विशेष एव। – तदेव

१५६. स्वलक्षणं स्वरूपम् आभासान्तराद् औष्ण्याद्याभासात् व्यावृत्तं येषां रूपाद्याभासानां, ते तथाभूता एव सृष्टा इति स्वरूपीभूतदेशकालात्याग एव भवेत् व्यतिरिक्तदेशकालयोगस्तु त्याज्यः। सोऽपि विशेषरूपतया शक्यत्यागो, न सामान्यरूपतया। – तदेव

१५७. एतदुक्तं भवति स्वरूपमेव संकोचि देशकालौ, तत्रापि तु मध्ये संकोचान्तरात् सामान्यता, यावत्संकोचान्तरं मूर्तिभेदान्तरम् असहमानं विशेष एव, न सामान्यम्; मूर्तिभेदगर्भतासहं तु महासामान्यं सत्ता। – तदेव, पृ. १२३

का सुचिन्तित निष्कर्ष है कि रूप आदि (यहाँ अग्न्याभास और उसके नान्तरीयक कार्यता, कारणता, उष्णता आदि) आभासों में स्वरूपीभूत देश-काल की योगिता बने रहने पर भी देश-कालविशेष का योग न होने के कारण सामान्यरूपता रहती है, उसी में प्रमाण का व्यापार होता है।[१५८] इसलिए शैव आचार्य यह नहीं कहते कि जिस प्रमाण से भास्वर रूप का ग्रहण किया जाता है उसी से उष्णता का भी, अपितु यह कहते हैं कि जिस भी पहली बार प्रवृत्त हुए प्रमाण से भास्वरसन्निवेशविशेषरूप उष्णता आदि अविनाभूत रूप में ग्रहण की गयी है उसी से संसार में तीनों कालों में भास्वररूपसन्निवेशविशेष की, उसकी उष्णता से नान्तरीयकता भी निश्चित हो गयी है, वहाँ दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।[१५९] एक बात स्पष्ट है कि प्रमाणमीमांसीय कठिनाई का हल शैव युक्तिकार तत्त्वमीमांसा के सहारे से कर रहे हैं। उनके पक्ष में केवल इतना ही कहना उचित होगा कि वस्तु की आधारभूत संरचना को लेकर जहाँ ज्ञानमीमांसा प्रवृत्त होगी (सच पूछा जाए तो यह उसका दायित्व भी है और प्रयोजन भी) वहाँ प्रमाणमीमांसा सन्मीमांसानिरपेक्ष न हो सकेगी।

अबाधितत्व

अबाधितत्व : प्रमा-लक्षण का अङ्ग

अभी तक के प्रमा/प्रमाण-विवेचन में यह बात बार बार उभर कर आयी है कि प्रमितिव्यापार का स्वरूप है उसका विमर्शरूप होना। प्रश्न है कि यह विमर्श-व्यापार तो 'द्विचन्द्र' और 'शुक्तौ रजतम्' में भी पाया जाता है, तो क्या यहाँ वस्तुतः प्रमाण-व्यापार माना जाएगा? अभिनव साफ मना करते हैं, नहीं, क्योंकि यह विमर्श स्थिर नहीं रहता, अभिमत अर्थक्रिया तक पहुंचने के पहले ही टूट जाता है। उत्पल अपने प्रमाणलक्षण में इसलिए अबाधिता शब्द को फलसूत्र में प्रमा के लक्षण का अङ्ग बनाते हैं।[१६०] इस प्रकार उत्पल अद्वैत वेदान्त के न केवल 'अनधिगतत्व' बल्कि 'अबाधितत्व' को भी स्वीकार कर लेते हैं। दर्शनविद् इस दृष्टि को संगति-दृष्टि (coherence) कहते हैं। वृत्ति में उत्पल 'अबाधिता' की व्याख्या 'अबाधितस्थैर्या' पद से करते हैं।[१६१] स्थैर्य का अन्वय लक्षण है

१५८. तदेवम् इयता रूपाद्याभासानां सामान्यदेशकालयोगेऽपि तद्विशेषायोगात् सामान्यरूपतैव, तस्यामेव च प्रमाणव्यापार इति उपपादितम्। – तदेव, पृ. १२४

१५९. न अस्माभिरुक्तम् येनैव भास्वरं रूपं गृह्यते प्रमाणेन, तेनैव औष्ण्यमिति; अपितु एवम् उच्यते येनैव प्रथमप्रथमप्रवृत्तेन प्रमाणेन भास्वरसन्निवेशविशेषरूपम् औष्ण्यादि अव्यभिचारितया गृहीतम्, तेनैव त्रैलोक्ये त्रैकाल्ये च भास्वररूपसन्निवेशविशेषस्य तदौष्ण्याभिचारित्वं निश्चितमिति न तत्र प्रमाणान्तरोपयोगः। – तदेव, पृ. १२४-१२५

१६०. मितिर्वस्तुन्यबाधिता। – ई.प्र.का. २/३/२

१६१. अबाधितस्थैर्या प्रमितिः प्रमातृव्यापारः। – ई.प्र.का. २/३/२ पर वृत्ति

प्रमाव्यापारानुवृत्तिरूपता[१६२] और व्यतिरेक लक्षण है अनुन्मूलितवृत्तिता[१६३] : प्रमा व्यापार का बना रहना और उसका उन्मूलित न होना।

संवाद और प्रमाणलक्षण

हम थोड़ा पीछे चलते हैं। सापेक्ष व्यवहारजगत् की भेद और अभेद के परस्पर विरोधी धर्मों पर आश्रित सभी कोटियों (विरुद्धधर्माध्यास) के खंडन में दिए गए बौद्ध तर्कों के विरोध में उत्पल क्रिया, संबंध आदि बुद्धि-पदार्थों की सत्यता की घोषणा करते हैं।[१६४] प्रमाण-विचार संबंध के प्रत्यय के अन्तर्गत हुआ है और संबंध भेदाभेदात्मक है, अतः प्रमाण की सत्यता भी उन्हीं कारणों से माननी चाहिए, जिन कारणों से संबंध को सत्य माना गया है, यह उत्पल का निर्भ्रान्त मन्तव्य है। ये दो कारण या आधार हैं स्थैर्य और उपयोग।[१६५] इन दोनों शब्दों की व्याख्या अभिनवगुप्त दो प्रकार से करते हैं, एक बार क्रिया, संबंध आदि भेदाभेदात्मक बौद्ध पदार्थों के संदर्भ में और दूसरी बार प्रमाणव्यापार के संदर्भ में। विचित्र बात यह है कि संगतिवादी अभिनव के इस विश्लेषण में संवाद केन्द्रीय प्रत्यय बनकर उभरता है। सत्ता की सापेक्ष बौद्ध कोटियों के संदर्भ में संवाद 'स्थैर्य' का और प्रमाण के संदर्भ में संवाद 'उपयोग' का वाचक है।[१६६] पहले संदर्भ में स्थैर्य-स्थानी संवाद का लक्षण है : बाधक के द्वारा अनुन्मूल्यमान विमर्शता : परवर्ती बाधक ज्ञान के द्वारा विमर्श का उन्मूलित न होना। प्रमाण-क्षेत्र में स्थैर्य है : बाधकाभाव : बाधा का न होना अर्थात् विमर्श का अनुन्मूलित रहना, उसकी अखण्ड अनुवृत्ति का बना रहना। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि कारिका में समागत स्थैर्य का वह संदर्भ-भेद से दो प्रकार से रूपायन करते हैं, एक बार संवाद की शब्दावली में और दूसरी बार बाधकाभाव की। इस समीकरण का स्वाभाविक फलितार्थ है पहले चरण में संवाद का संगति के अर्थ में स्वीकृत होना। दूसरे चरण में संवाद स्थैर्य से हटकर उपयोग के रूप में गृहीत होता है।

---

१६२. प्रमाव्यापारानुवृत्तिरूपस्य स्थैर्यस्य। – ई.प्र.वि., २, पृ. ३४

१६३. अनुन्मूलितवृत्तिः स्थिरः सन् तथा भवति। – तदेव, पृ. ७८

१६४. क्रियाकारकसंबंधसामान्यद्रव्यदिक्कालबुद्धयः।
सत्याः स्थैर्योपयोगाभ्यामेकानेकाश्रयाः मताः।। – ई.प्र.का. २/२/१

१६५. यद्यपि उपयोग शब्द में अर्थक्रिया की पूरी छाया है परन्तु अर्थक्रिया शब्द का प्रयोग न करके उत्पल, अर्थक्रियाप्रवृत्तिजनकता या अर्थक्रियासाफल्यज्ञान या अर्थक्रियासामर्थ्य से जुड़ी जो ऐतिहासिक निहितार्थताएँ हैं, उनसे बचना चाहते हैं। इसके कारण आगे स्पष्ट होंगे।

१६६. अस्यां व्याख्यायां [.....] इत्येवंभूत उपयोग उक्तः, स्थैर्य तु संवादः; उत्तरव्याख्याने तु स्थैर्यं बाधकाभावः, उपयोगस्तु संवादः इति भेदः। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ६९

यहाँ उपयोग है, सम्यक् विमर्श की अनुवृत्ति द्वारा भासन।[१६७] उदाहरण के लिए 'शुक्तौ रजतम्' में शुक्ति में जहाँ रजत भासित हो रही है वहाँ शुक्तिदेश का भासन अर्थात् संवादन नहीं होता, इस कारण वहाँ संवाद का अभाव है। पहले प्रकार में उस विमर्श पर आग्रह है जो बाधा के कारण विच्छिन्न नहीं हुआ है; दूसरे प्रकार में वस्तु के उस भासन पर आग्रह है जो विमर्श की अनुवृत्ति द्वारा हमें उपलब्ध होता है। सम्–पूर्वक भासनार्थ में वद् धातु से निष्पन्न करते हुए संवाद का अर्थ अभिनव लेते हैं : संवादन अर्थात् संप्रकाशन अर्थात् भासन का परामर्शन। ऐसा न होने पर वह असंवाद कहलाएगा।[१६८] उत्पल के 'उपाधिदेशासंवादात्' (ई.प्र.का. २/३/१३) की व्याख्या करते हुए अभिनव एक असामान्य घोषणा करते हैं : वह उत्पल के प्रमाणलक्षण का परिष्कार करते हुए संवाद को प्रमाणलक्षण का अङ्ग बना देते है।[१६९] इसके पीछे संभवत: सोच यह है प्रमाणलक्षण की भांति भ्रान्ति या अख्याति के प्रत्यय को भी न केवल विमर्श अपितु प्रकाश की दृष्टि से भी व्याख्यात होना चाहिए। भ्रान्ति केवल विमर्शानुवृत्ति का ही उन्मूलन नहीं है, वह विषयांश का असंवादी प्रकाशन (अर्थात् अप्रकाशन) भी है। इस प्रकार यहाँ पर उपयोग का संवाद में निष्कर्षण करते हुए भी अभिनव प्रमितिव्यापार की संगतिवादी व्याख्या के प्रति प्रतिबद्ध रहते हैं।[१७०]

---

१६७. सम्यग्विमर्शानुवृत्त्या आभासनं संवादनम्। – ई.प्र.वि., २, पृ. १२६

१६८. सम्यग्वदनं भासनपरामर्शनात्मकं संवादनम्, तद्विपक्षासंवाद:। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १५२
अभिनव यहाँ पर वद् धातु को भासनार्थक मानते हैं ('वदि: अत्र भासनविषय:', ई.प्र.वि., २, पृ. १२६)। धातुपाठ में वद् इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं मिलती ('वदि अभिवादनस्तुत्यो:', सि.कौ., तत्त्वबोधिनीव्याख्या, पृ. ३३६)। अत: अभिनव का अर्थप्रकल्पन असाधारण महत्त्व का हो जाता है। भास्कर इसका समाधान धातुओं की अनेकार्थता में ढूंढते हैं। भास्कर को अभिनव के प्रयत्न के महत्त्व की पूरी चेतना थी, यह बात विमर्शिनी में आए 'यत:' शब्द (यत उपाधिरूपो यो देश: [.....], तस्य असंवादात्) के उपयुक्त स्थान को लेकर है : 'यत:' इति पदं युक्तत्वेन अत्रैव योजनीयम् यत: कारणात्, वदि: वदिरिति धातु:। 'अत्र' अस्मिन् विषये 'भासनविषये' भासनवाची भवति। (तदेव, भास्कर के अनुसार विमर्शिनी का पाठ होना चाहिए : यत: वदि: अत्र भासनविषय: [.....]।)

१६९. अनया भङ्ग्या समनन्तरप्रमेयशेषभूतमपि सूत्रं प्रधानप्राकरणिकप्रमाणप्रमेयभावोपयोगिप्रमाण–लक्षणशेषभूतत्वेन योजितम्। – ई.प्र.वि.वि. , ३, पृ. १५२

१७०. हमें लगता है कि शैव आचार्यों की संवाद–विषयक निष्कर्षण पद्धति मूलत: उनकी सन्मीमांसा से प्रसूत है। याद करें, अभिनव ने अपनी वैश्व प्रमाण–प्रक्रिया के चित्रांकन में शुद्धाविद्या को प्रमाण दशा कहा है। उत्पल ने शुद्धाविद्या की अवधारणा अतिमायिक स्तर पर भी 'यथावस्त्वलोकन' के रूप में की है : इदंभावोपपन्नानां वेद्यभूमिमुपेयुषाम्। भावानां बोधसारत्वाद् यथावस्त्वलोकनात्।। (– ई.प्र.का. ३/१/४) उपर्युक्त विश्लेषण में संवादन, यथावस्त्ववलोकन से अधिक कुछ नहीं है। गोस्वामी श्याममनोहर जी ने कहीं लिखा है कि प्रमाणचिन्ता के सारे प्रारूप अंतत: यथार्थित्व में ही विश्रान्त होते हैं। परन्तु इसे हमें 'तद्वति तत्प्रकारकम्', 'यथार्थानुभव:' या correspondence जैसे सिद्धान्तों से नहीं जोड़ना होगा।

जहाँ तक अर्थक्रिया का संबंध है अर्थक्रियानिर्भासन या अर्थक्रियासमर्थप्राप्ति या प्रवृत्तिजनकत्व उत्पल के प्रमाणलक्षण का अङ्ग नहीं है, अपितु वस्तु या आभास (जो प्रमाण का विषय बनता है) की अवधारणात्मक संरचना का अङ्ग है। इसी रूप में उस वस्तु का परामर्श होता है। इसे उत्पल अर्थक्रियासंवाद कहते हैं और पूर्वसंदर्भ अर्थात् बुद्धि-पदार्थों के अभ्रान्त अर्थात् अनुन्मूलितविमर्श के प्रति हेतु मानते हैं।[१७१] उपयोग, उत्पल के पुनर्परिकल्पन में अर्थक्रियासंवाद, का अर्थ है : अर्थक्रियानिष्पादन के माध्यम से भेदाभेदरूपता का अङ्गीकरण। आभास, भाव या बुद्धि पदार्थों का आभास की अर्थक्रिया-संपादन के लिए भेदाभेदरूपता की स्वीकृति ही मुख्य इतिकर्तव्यता है। रुचि, व्युत्पत्ति और अर्थित्व, इन तीनों में से अर्थित्व वस्तुतः आभास की अनुसंधानात्मक संरचना का अङ्ग है। इस पद्धति से उपयोग का संबंध प्रमारूप व्यापार से साक्षात् न होकर प्रमेय या आभास की संघटना से है।[१७२]

हमारी प्राकरणिक चर्चा का मुख्य बिन्दु था प्रमा का अबाधितत्व। यह माना गया है कि यह बाधन उस ज्ञान से बहिर्भूत अन्य कारण से होता है जिसे उत्पल प्रमाणान्तर कहते हैं।[१७३] प्रमाणान्तर की आवश्यकता शैवों को इसलिए पड़ी क्योंकि वे अर्थक्रियाकारित्व को वस्तु का स्वरूप नहीं मानते : **न च स्वरूपम् अर्थक्रियाकारित्वम्।** (ई.प्र.वि., २, पृ. १२०) यह एक ऐसी मान्यता है जिसके कारण शैवों और बौद्धों दोनों की संवादगत अवधारणा में आधारभूत अंतर उत्पन्न हो जाता है। शैव ज्ञान को संवादक मानते हुए भी प्रापक नहीं मानते।[१७४] धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर सम्यक् ज्ञान का लक्षण ही अविसंवादक ज्ञान मानते हैं।[१७५] ज्ञान का संवाद उसके प्रापकत्व में है – यह उस सत्, अर्थ या क्षण तक ग्राहक को पहुँचाता है जो अर्थक्रियाकारी है।[१७६]

---

१७१. आभासानुगुण्यरूपः प्रमातुः तदर्थिनोऽर्थक्रियासंवादः। ततो न तद्बुद्धयो भ्रान्ताः।। – वृत्ति २/२/७

१७२. (संवित्तत्त्वाद् अन्यत्र या क्रियाबुद्धिः क्रियाभासः [.....]) सत्य एव यतः स्थिरो, बाधकेन
   (अ) अनुन्मूल्यमानविमर्शः संवादवांश्च अभिसंहितायां ग्रामप्राप्तिलक्षणायामुपयोगी। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २९
   (आ) अस्यां व्याख्यायां भावस्य अर्थक्रियां कुर्वत एकानेकरूपतास्वीकरणमितिकर्तव्यता इत्येवंभूत उपयोग उक्तः। – तदेव, पृ. ६९

१७३. प्रमाणान्तरेण अबाधितस्थैर्या प्रमितिः प्रमातृव्यापारः। – वृत्ति २/३/२-३

१७४. संवाद शैवों की प्रमाण-प्रक्रिया के समीक्षात्मक विमर्श का अङ्ग है, प्रमाणलक्षण का नहीं।

१७५. न्या.बि.टीका १.१

१७६. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः। – न्या.वि. १/१५

प्रमाण और प्रवृत्ति

ऐसा नहीं है कि शैव अर्थक्रियाकारिता के महत्त्व से अनजान हैं, वस्तुतः व्यवहार में लोक–व्यवस्था की स्थिरता और प्रमाता के प्रत्येक उपक्रम के लिए इसका महत्त्व नकारा नहीं जा सकता। अभिनव स्वयं उत्पल की तीन कारिकाओं[१७७] का उल्लेख करते हैं जो प्रमाता को अर्थक्रियार्थी मान उसके व्यापार के मूल में अर्थक्रिया को देखती हैं। अतः बौद्ध नैयायिकों की दृष्टि से यह स्वाभाविक है कि जो ज्ञान अर्थक्रियाकारी विषय की उपलब्धि न करा सके उसे अप्रमाण मान लिया जाए। स्वयं अभिनव यह प्रश्न उठाते हैं कि जहाँ अर्थक्रिया की प्राप्ति नहीं होती, वहाँ ज्ञान के बाधित होने–न–होने अर्थात् प्रमा और भ्रान्ति का निर्णय कैसे होगा।[१७८] अभिनव अपने उत्तर को दो भागों में बांट कर देते हैं। पहली प्रतिक्रिया में वह प्रमाण और प्रवृत्ति को स्वरूपतः भिन्नकोटिक प्रत्यय मानते हैं। प्रवृत्ति क्रियात्मक है और तत्तत् स्वलक्षण के तात्कालिक उपयोग तक ही सीमित है, जब कि प्रमाण का स्वभाव वस्तु के स्वरूप का व्यवस्थापन है और उसकी सार्थकता कालान्तर में भी अक्षुण्ण रहती है।[१७९] यही कारण है कि वे अन्यत्र प्रवृत्ति, प्राप्ति या प्रयोजन को प्रमाणफल का फल कहते हैं और इसे अलग मानते हैं। प्रमाण का फल (प्रमा) तो विमर्श ही है और उसी की सामर्थ्य से बोध प्रमाण कहलाता है।[१८०] अपने उत्तर के दूसरे अंश में उनका कहना है कि प्रवृत्ति आवश्यक नहीं है कि सर्वदा प्रमाण से ही हो, वह संशय से भी होती है। संशय भी कई प्रकार से हो सकता है। कभी वह फलसिद्धि में अनिश्चित रहने पर भी जैसे खेती में, कभी पैसा होने के कारण निवेश में, या कभी विवशता से जैसे रोगी के इलाज में, कभी दुर्निवार इच्छा होने पर जैसे विषाक्त स्वादु खाद्य पदार्थ में, या अज्ञता के कारण अथवा अर्थिता की न्यूनाधिकता के कारण बाधाओं की निश्चित संभावना होने पर भी चोरी आदि में होती है। अधिकतर चाहत की अधिकता ही प्रवृत्ति का कारण होती है।[१८१]

---

१७७. मातुरर्थक्रियार्थिनः/भेदाभेदवतार्थेन (२/२/७) इति, यथारुचि (२/३/३/ इति), तात्कालिकी प्रवृत्तिः स्यादर्थिनः। (२/३/९) इत्यादिना मायाप्रमातारं प्रतिपाद्येत्यर्थः।–ई.प्र.वि.वि.,३, पृ. १६२–१६३

१७८. नन्वेवं यत्र अर्थक्रियां न अन्विच्छति तत्र कथं बाधाबाधव्यवहारः। – ई.प्र.वि., २, पृ. ७९

१७९. विशेषसाध्यया अर्थक्रियया योऽर्थी, तस्य या तस्मिन् स्वलक्षणे तत्कालमात्रोपयोगिनी, न तु भावस्वभावव्यवस्थापनवत् कालान्तरेऽपि उपयुज्यमाना वाङ्मनःकायप्रवृत्तिः। – ई.प्र.वि.वि.,३, पृ. १४५

१८०. फलफलेन तु प्रयोजनापरपर्यायेण प्रवृत्तिप्राप्त्यादिना व्यतिरिक्तेन भूयतां नाम। अतो विमर्श एव फलम्। तद्बलेन बोधः प्रमाणम्। – तदेव, पृ. ७२

१८१. मा भूत्, किं नः त्रुटितम्, प्रवृत्तिर्हि न सर्वत्र प्रमाणत एव, किं तर्हि क्वचन संशयत एव अर्थपक्षाधिक्यात् अर्थित्वतारतम्यादपि वां कृष्यादौ सविषान्नभोजने निश्चितसंभावितदृष्टप्रत्यवाये च चौर्यादौ

कई बार प्रवृत्ति प्रसिद्धि से भी होती है।[१८२] प्रवृत्त होने के पश्चात् यदि उसके ज्ञान में रुकावट नहीं आती तो वह उसे प्रमाण मान लेता है, रुकावट आने पर भ्रान्तज्ञान।[१८३] अर्थात् प्रवृत्ति प्रमाण के बाद हो ऐसा नियम नहीं है, प्रमाण के पूर्व भी प्रवृत्ति हो सकती है। भास्कर इससे निष्कर्ष निकालते हैं कि अविसंवादकत्व आदि प्रवृत्ति का कार्य है प्रमाण का नहीं, क्योंकि प्रमाण का काम तो मात्र प्रकाशन करना है।[१८४]

इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह भी है कि जहाँ वस्तुसिद्धि एक प्रमाण पर निर्भर करती है, प्रवृत्ति एक ही प्रमाण पर निर्भर नहीं करती। वस्तुत: प्रवृत्ति चाहे वह प्रत्यक्ष के विषय में हो और या अनुमान के, वह प्रमाणसमूह से होती है।[१८५] प्रमाणव्यवस्थावादियों के यहाँ प्रमाणों की यह समूहता भले ही अनुपपन्न हो, इस संप्रदाय में आत्मसंवेदन में परिनिष्ठित होने के कारण वह उपपन्न भी है और मान्य भी।[१८६]

प्रवृत्तिदर्शनात्। – तदेव, पृ. ७९–८० संशय का लक्षण भास्कर नैयायिकों के 'तर्क' जैसा करते है : तर्करूप: संशयो वर्तत एव, तर्कस्य च निश्चयसंशयान्तरालवर्तित्वेन संशयप्रत्यासन्नत्वं वर्तते एवेति न विरोध:। – भा., २, पृ. ८० मालिनीविजयवार्तिक में अभिनव संशय को प्रवृत्ति का अङ्ग मानते दिखते हैं और तर्क को प्रवृत्ति–निवृत्ति दोनों का:

तस्मात्संशय एवायं प्रवृत्त्यङ्गतया स्थित:।। –....

तर्को वाप्येकपक्षांशस्थितिसंभावनात्मक:।

अर्थानर्थबलीयस्त्वात्प्रवृत्त्यै वा निवृत्तये।।

तदेवं तर्कतो सर्वो व्यवहार इति स्थितम्। – मा.वि.वा. १/७८२ स–द, ७२४, और तर्क को प्रवृत्ति–निवृत्ति दोनों का : ७८८ स–द। अन्यत्र भी प्रवृत्ति के कारणों में अज्ञता, मूढता और नशे का प्रभाव इन्हें भी अभिनव गिनते है : अज्ञस्य अपि विपरीतवेदिनोऽपि अर्थितातारतम्यात्। मत्तोऽपि हि प्रवर्तते सविषेऽपि अन्ने ज्ञाते, मूढ: अन्यथा दृष्टप्रत्यवायेऽपि परस्वंहरणादौ कथं प्रवर्तेत अनर्थनिश्चयवानपि। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८०

१८२. ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८३

१८३. स च प्रवृत्त: क्वचन अनुन्मूलितप्रमितिक: प्रमाणतां प्रतिपद्यते, क्वचित् अन्यथाभवन् विपर्ययमिति। – ई.प्र.वि., २, पृ. ८०

१८४. अविसंवादकत्वादि हि प्रवृत्ते: कार्यं न प्रमाणस्य, तस्य प्रकाशकत्वाद् इति भाव:।–भा.,२, पृ. ९०

१८५ . ई.प्र.का. २/३/९

१८६. (अ) तत एव प्रमाणसमूहादेव प्रवृत्तिरिति। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८३

(आ) समूहता च परस्य न उपपन्ना, अस्माकं तु एकस्वसंवेदनविश्रान्तिमयी सा युज्यते। – ई.प्र.वि., २, पृ. ११४

(इ) अत: प्रमाणसमूहादेकान्तर्मुखस्वसंवेदननिष्ठा प्रवृत्तिरिति। – तदेव, पृ. १४६

शैवों की मौलिक अंतर्दृष्टियाँ

भारतीय दर्शनों में प्रमाण-चिन्तन की सामान्य समस्याओं पर जो भी विचार हुआ है उसका प्रतिदर्श (model) साधारण तौर पर प्रत्यक्ष प्रमाण रहा है। प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रिय-व्यापार की साक्षात् करणता है, बौद्धों और नैयायिकों के इस मत को अमान्य करते हुए शैव दार्शनिक प्रमाण और प्रमा को लेकर कुछ नई अंतर्दृष्टियाँ विकसित करते हैं जो उनकी प्रमाण की अवधारणा के लिए अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होती हैं।

प्रकाश की करणरूपता

प्रमाण है नीलप्रकाश या नीलानुभव। वही इन्द्रियव्यापार और नील-प्रमा का अंतरालवर्ती है। इस अर्थ में नीलप्रकाश ही प्रमाण होने के नाते नील-प्रमा का करण है। प्रमा नीलाध्यवसायरूप है। यह विकल्परूप भी कहा जा सकता है, क्योंकि विमर्श ही विकल्प रूप धारण करता है। इस अर्थ में नीलप्रकाश अर्थात् निर्विकल्पक बोध प्रमाण है और सविकल्प अनुभव/बोध प्रमा।

प्रमा की बाह्यताध्यवसायरूपता

प्रमा है वस्तु का परिच्छेद। वस्तु है अर्थक्रिया में योग्य। अर्थक्रिया है जो एक भेदप्राण प्रमाता के ठीक अपने जैसे भेदप्राण प्रमाता के साथ व्यवहार का आधार बनती है। अर्थक्रियायोग्यता बाह्यता में विश्रान्त होती है। सच पूछा जाए तो अर्थक्रिया खुद में भी बाह्य ही है। बाह्य का अर्थ है, प्रमाता से भिन्न होना। अत: ज्ञान-व्यापार का लक्ष्य दोनों हैं : प्रकाशमानता और बाह्यता। प्रकाशमानता शिव, सदाशिव रूप (शुद्ध) प्रमाताओं में अभिन्न रूप से घटित होती है और बाह्यता कल्पित प्रमाता में देह आदि की अपेक्षा से। अत: मायीय प्रमाता द्वारा बाह्यरूपता का अध्यवसाय ही प्रमा है।[१८७] असंकुचित प्रमाता में प्रकाश तदात्मतया अर्थात् प्रमात्रात्मतया रहता है और संकुचित प्रमाता में बाह्यतया।[१८८] दूसरे शब्दों में प्रकाशन की द्विधा स्थिति है, तादात्म्येन और बाह्यतया। निर्विकल्पक में विमर्श का काम प्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जबकि सविकल्पक में विमर्श प्रकाश के अतिरिक्त बाह्यता का भी अध्यवसाय करता है।[१८९] इसलिए निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रकाश, अनुभव या प्रत्यक्ष कहते हैं।[१९०]

---

१८७. तदिदम् उभयं समर्थनीयम् प्रकाशमानत्वं च बाह्यत्वं च। [.....] एवं च मायीयस्य प्रमातुर्बाह्यरूपतावसाय एव नीलस्य प्रमा। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ७२

१८८. इत्थमेव तादात्म्य-बाह्यत्वाभ्यां प्रकाश:। – तदेव, पृ. ७३

१८९. प्रकाशमानरूपाधिकं च बाह्यत्वम् इति बाह्यत्वस्य न प्रकाशमात्रमुच्यते अपितु अध्यवसाय:। – तदेव

१९०. तत्र च विमर्शो न प्रकाशातिरिक्तं किंचित् करोति इति निर्विकल्पकं प्रकाश इति, अनुभव इति च कथ्यते। – तदेव

बाह्यता के प्रसंग में कुछ बातों पर स्पष्टता आवश्यक है। आभास के स्वरूप पर विचार करते समय हमने देखा था कि विमर्श–परिभाषित होने के कारण अर्थावभास का स्वरूप भूत, वर्तमान और भविष्यद् तीनों विकल्पों में एक ही रहता है।[१९१] दूसरे शब्दों में विमर्श, जिसे शब्द कहा गया है, अर्थावभास की सामान्यरूपता का नियामक है। जिस बाह्यता की यहाँ चर्चा की जा रही है, वह भी एक आभास है। यह बाह्यता अर्थावभास का स्वभाव नहीं है, केवल उसकी उपाधिमात्र है।[१९२] आभासान्तरों के मिश्रीकार से अर्थ का स्वलक्षणात्मक रूप बदलता जाता है, इन्हीं आभासों में बाह्यता की गणना है। बाह्यता का तात्त्विक अर्थ है प्रमाता से भिन्नतया भासित होना।[१९३] इस बाह्यता की दो विधाएँ संभव है। एक है ग्राह्यता रूप बाह्यता, जो सुख आदि जैसे अंत:करणमात्र से वेद्य पदार्थों में होती है और दूसरी, जो अंत: और बाह्य दोनों इन्द्रियों से वेद्य घट आदि पदार्थों में।[१९४] अन्यत्र भी प्रसंगान्तर से इस विषय पर हमने चर्चा की है। प्रमाता से भेद या बाह्यता की स्थिति में ही अर्थक्रिया, जो स्वयं में एक आभास है, होती है। अंत:करणगोचरता रूप जो बाह्यता है, इसे योग्यता रूप बाह्यता भी कहते हैं।[१९५] यही कारण है कि ध्यान, भावना, समाधि, मानस अनुव्यवसाय में अंत:करणैकवेद्य अस्फुट अर्थ का बाह्यतया भावन या बहिर्प्रकाशन संभव हो पाता है[१९६] और उस समय उससे वैसी ही अर्थक्रिया की संभावना होती है। इन दोनों की बाह्यताओं में भेद बाह्यता का न होकर बाह्येन्द्रिय के भावाभाव से जन्य स्फुटता और अस्फुटता का होता है।

इस प्रकार जब बाह्यता शब्द का प्रयोग होता है तो साधारण्येन उसका तात्पर्य होता है बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षता।[१९७] बाह्यप्रत्यक्षता का अर्थ है सर्वसाधारण्येन व्यवहार के योग्य होना।[१९८] भ्रान्तिज्ञान, स्मरण आदि को प्रमा इसीलिए नहीं माना जाता, क्योंकि वहाँ

---

१९१. विशेषोऽर्थावभासस्य सत्तायां न पुन: क्वचित्।
विकल्पेषु भवेद् भाविभवद्भूतार्थगामिषु।। – ई.प्र.का. १/८/२

१९२. भावाभावावभासानां बाह्यतोपाधिरिष्यते। नात्मा [.....]।। – तदेव १/८/५

१९३. प्रमात्रैकात्म्यमान्तर्यं ततो भेदो हि बाह्यता।। – तदेव १/८/८

१९४. एवं च घटादीनामुभयी बाह्यता बाह्यान्त:करणद्वयी वेद्यता, सुखादेस्तु एका अंत:करणवेद्यतैव। – ई.प्र.वृ. १/८/८

१९५. योग्यतया च द्वितयी बाह्यता अस्त्येव बाह्यतया बाह्येन्द्रियवेद्यतया चेति। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ४२९

१९६. उल्लेखस्य सुखादेश्च प्रकाशो बहिरात्मना। – ई.प्र.का. १/८/९

१९७. बाह्यत्वं च केवलं बाह्यप्रत्यक्षता। – ई.प्र.वि., १, पृ. ४१०

१९८. इह यावत् किंचित् बाह्येन्द्रियगोचरीकार्यम्, तावत् सर्वसाधारणमेव उक्तम्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १५१

कल्पनाजन्य भासित विषय बाह्य (बाह्यप्रत्यक्ष) नहीं होता, इसलिए वह नितान्त विषयिगत और सर्वप्रमातृ–असाधारण होता है।[१९९] बाह्यता के प्रत्यय द्वारा शैव आचार्य इस शंका का निवारण कर देते हैं कि प्रमाण की परिभाषा में सर्वप्रमातृसाधारण्य के अंतर्निवेश की अपेक्षा क्यों नहीं है। बाह्यता वस्तुतः वस्तु का धर्म है, प्रमा का नहीं। प्रमा का स्वरूप है बाह्याकारग्रहण। अनुभव की जिन पाँच अवस्थाओं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत का विशद विश्लेषण शैव प्रक्रियाशास्त्र में पाया जाता है, उसमें जाग्रत् अवस्था का रूपाधान सटीक प्रमा की पारिभाषिक शब्दावली में किया जाता है[२००] : इसमें तीन अंतरङ्ग घटक हैं – सर्वाक्षगोचरता अर्थात् सर्वप्रमातृसाधारण्य, बाह्याकार ग्रहण और अबाधितनिश्चयानुवृत्ति।[२०१] प्रमा–प्रमाणलक्षण में शब्दशः सर्वप्रमातृसाधारण्य का सन्निवेश नहीं किया जाता, बाह्यता के प्रत्यय में ही वह अंतर्भूत है। जागरावस्था के संदर्भ में इसके उल्लेख किए जाने का केवल एक ही कारण है बाह्यता के प्रत्यय का दृढ़ीकरण, अन्यथा यहाँ इसको छोड़ा भी जा सकता है।[२०२] भास्कर अपने चित्तानुबोधशास्त्र में प्रमेय की अवधारणा जाग्रत्पदरूपता के ही शब्दों में करते हैं[२०३] और इसमें संशय नहीं रहने देते कि मेयता और बाह्यता का एकाश्रय है ज्ञानविषय।[२०४]

प्रमाण का परिनिष्ठित लक्षण

हम अब इस स्थिति में है कि प्रमाण के सामान्यलक्षण का समापन कर सकें। अभिनव के शब्दों में प्रमाण का परिनिष्ठित लक्षण इस प्रकार बनता है : जो–जो अबाधित स्थिरता वाला अतएव अव्याहत अनुवृत्तिवाला (होता हुआ) विमर्श (संज्ञक) फल का हेतु

१९९. स्वप्न–स्मरण–मनोराज्य–संकल्पादिषु [.....] तदाभासवैचित्र्यम् अस्थैर्यात् सर्वप्रमात्रसाधारण्यात् पूर्वानुभवसंस्कारजत्वसंभावनात् अवस्तु इति शङ्क्येत। – ई.प्र.वि., १, पृ. २२६

२००. यावच्चानुवृत्तिस्थैर्यं निश्चयस्य चकास्ति तावज्जागरः। – तदेव, २, पृ. २६८

२०१. यत्र तु बाह्याक्षविषयं सर्वप्रमातृसाधारणत्वं च निश्चयानुवृत्त्या बाधारहितया परमार्थत्वेन चकास्ति, तत एव स्थैर्यं विषयस्य सा सृष्टिः पशोः जागरः तद्विषयं प्रमातृत्वं जागरावस्था। – तदेव, २, पृ. २६८

२०२. कई स्थानों पर जाग्रत् के लक्षण में सिर्फ बाह्यता का उल्लेख है, सर्वप्रमातृसाधारण्य का नहीं। उदाहरणार्थ द्र० तं. १०/२८९ :

तत्राक्षवृत्तिमाश्रित्य बाह्याकारग्रहो हि यः।
तज्जाग्रत्स्फुटमासीनमनुबन्धि पुनः पुनः।।

२०३. जाग्रत्पदत्वमेतेषां विषयाणां स्मृतं बुधैः। जाग्रतो गोचरत्वेन व्यवहार्यदशाजुषाम्।। – चि.अ.शा. १/१७४

२०४. बाह्यत्वमपि तत्रैव युक्तं मेयतया स्थिते।
अंशे बाह्यत्वमेयत्वे यत एकास्पदे सदा।। – तदेव १/१७९

है वह–वह बोधरूप प्रमेयनिष्ठ प्रमातृविश्रान्त अर्थात् प्रमात्राश्रित होकर प्रमाण (कहलाता) है।[२०५] अभिनव अपने इस प्रमाण–लक्षण का विवृति–विमर्शिनी में एक बार प्रमेय की दृष्टि से और दूसरी बार प्रमाण की दृष्टि से फिर से पुनराख्यान करते हैं।[२०६]

पहला है : नीलप्रकाश

(अ) जो परिमित विषय की बहिर्मुखता से और भी अधिक संकुचित हो गया है,

(आ) परमार्थप्रकाश में विश्रान्त बुद्धिप्रमाता, प्राणप्रमाता आदि के रूप में संकोचभाजन होने पर भी अंतर्मुखमात्ररूप संकोच के योग से,

(इ) द्विमुखी संकोच (प्रमात्रन्तर–परिहार और प्रमेयान्तर–परिहार) वाले नीलप्रकाश की अपेक्षा फैले हुए,

(ई) इसलिए सारे विषयों के अवभासन कर सकने की योग्यता वाले प्रत्यगात्मा में,

(उ) 'मेरा है' इस प्रकार सद्रूप से भासित होते हुए (हेतु : भासित होने के कारण) विश्रान्ति को न छोड़ते हुए,

(ऊ) अपने में स्फुरित शब्दनात्मक विमर्श रूप फल वाला,

(ए) बाहर सबको आभासित होने वाले (सर्वसाधारण) प्रमेय नील के विषय में, प्रमाण (बनता) है।[२०७]

---

२०५. यत् यत् अबाधितस्थैर्यम् अत एव अप्रतिहतानुवृत्तिकं विमर्शफलं विधत्ते तत्तद् बोधरूपं बोध्यनिष्ठं प्रमातृस्वरूपविश्रान्तं प्रमाणम् इति। – ई.प्र.वि., २, पृ. ८३
भास्करकण्ठ के अनुसार लक्षण में बोध्यनिष्ठ शब्द से प्रमाण की प्रमाता से व्यावृत्ति का आधार उसकी बाह्योन्मुखता को बताया गया है : बोध्यनिष्ठम् इत्यनेन प्रमातुर्व्यावृत्तिकारिणो बाह्योन्मुखत्वस्य कथनम्।– भा., २, पृ. ८३

२०६. ध्यातव्य है कि प्रमातृप्रकाश को प्रमाता मानने वाले (दूसरा लक्षण) अभिनव प्रमेयप्रकाश की भी प्रमाणतया संरचना करते हैं। इसका सीधा सा अर्थ है कि वे प्रकाश को ही प्रमाण मानते हैं और प्रकाशतया प्रमाता और प्रमेय का भेद औपाधिक या सुविधामात्रकृत है।

२०७. नीलप्रकाशो हि मितविषयबहिर्मुखतासंकुचिततरवृत्तिः, परमार्थप्रकाशे विश्रान्ते बुद्धिप्राणादिसंकोच–भाजनेऽपि अंतर्मुखमात्रसंकोचयोगात्, उभयतोमुखसंकोचनीलप्रकाशापेक्षया वितते, अतएव सर्वविषयावभासनयोग्यताजुषि प्रत्यगात्मनि, ममेति सत्त्वेन अवभासमानतया विश्रान्तिम् अत्यजन्, निजस्फुरितशब्दात्मविमर्शफलो, नीले बहिः सर्वसाधारणाभासे प्रमेये, प्रमाणम् इति वक्ष्यते 'इदमेतादृक् इत्येवम्' इत्यत्र। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ६८

दूसरा है : वह प्रकाश जो

(अ) देह आदि की उपाधि से संकुचित निरवधिक कालपर्यन्त अंतर्मुख संवेदनस्वभाव मायाप्रमाता से अलग किया हुआ सा,

(आ) जब तक बाह्य प्रमेय के प्रति उन्मुख रहता है,

(इ) तब तक प्रमेयगत देश और काल से उपरक्त होने के कारण हर क्षण भिन्न–भिन्न आकारों में नया–नया सा उगता हुआ,

(ई) उसी अपने शब्द (नाम) से पुकारने योग्य (होकर),

(उ) अनन्त (अर्थात् अपरिच्छिन्न) काल तक व्यापने वाले एक ही माया–प्रमाता में, उससे संलग्नतया 'मेरा नीलादि विषय है, जिसका ही पीत आदि (विषय भी) है' इत्यादि रूपों से भासित होता हुआ,

(ऊ) वह आभास (प्रकाश) प्रमाण है, क्योंकि प्रमानिष्पत्ति में उसी का व्यापार है।[२०८]

भास्करकण्ठ भास्करी में पूरे प्रमाण विचार का संग्रह और भी सरल और सुबोध्य तरीके से करते हैं। उनके अनुसार परम प्रकाश से विच्छिन्नीभूत प्रकाश ही 'स्वरूपतः' प्रमाता है। वही विच्छिन्नीभूत प्रकाश बाह्य विषय के प्रति उन्मुख होने पर प्रमाण, विषयोपराग सहित अतंर्मुख होने पर प्रमा और विषयोपराग के बिना प्रमा के भी अंतर्मुख होने पर प्रमाता कहलाता है। प्रमा भी उस समय कहाँ से उठी और कहाँ लीन हो गयी, इस प्रकार प्रमा के भी मूल को खोजते–खोजते प्रमा की भांति प्रमाता के भी परप्रकाश (परप्रमाता) में लीन हो जाने पर, अर्थात् स्वरूपाविष्करण द्वारा, प्रत्यभिज्ञा होती है। प्रकाश का आश्यानीभाव ही प्रमेय है।[२०९]

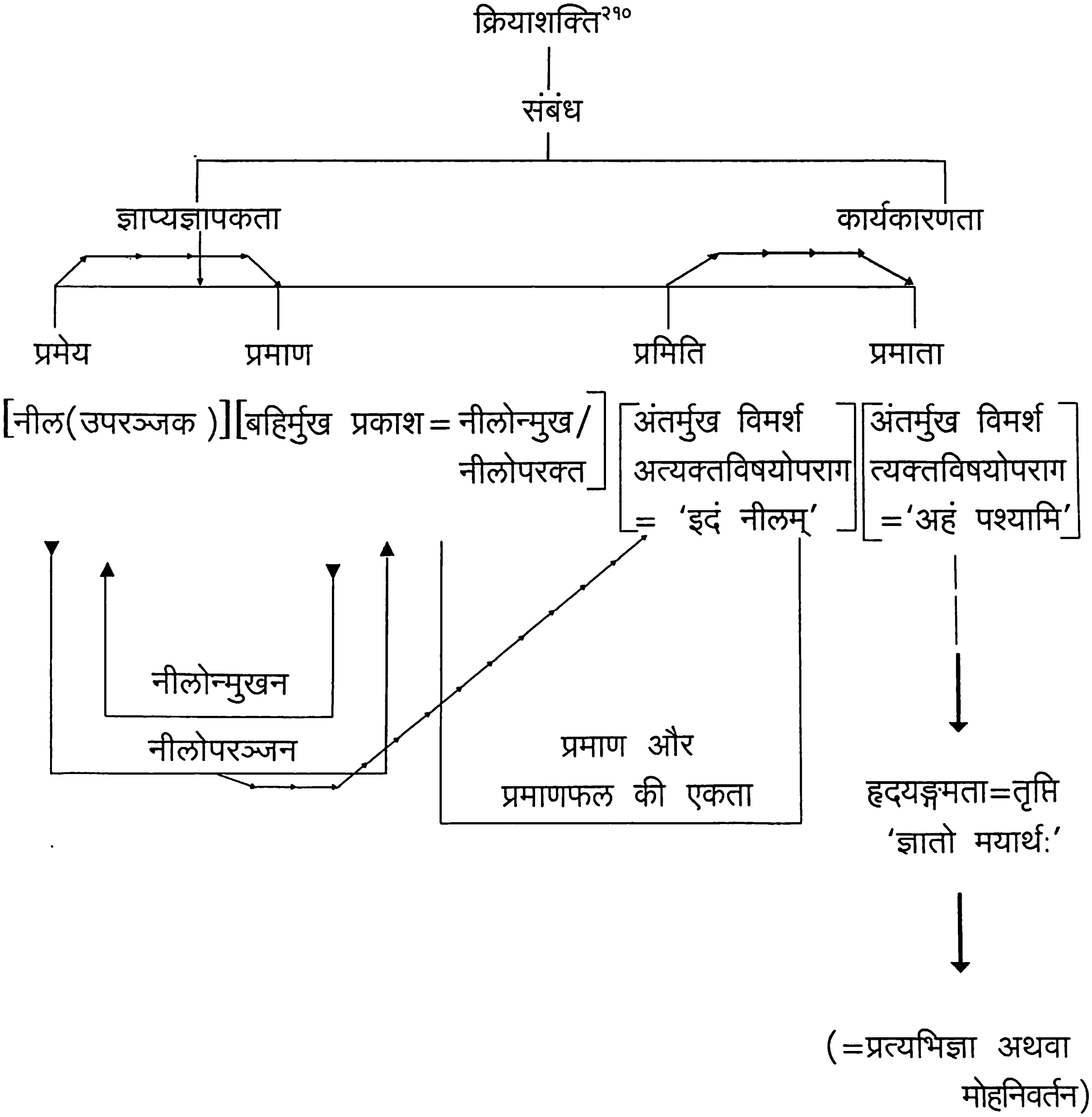
---

२०८. देहाद्युपाधिसंकोचवतः अनन्तकालान्तर्मुखसंवेदनलक्षणात् मायाप्रमातुः व्यतिरिक्तीकृत इव स आभासः, बाह्यप्रमेयोन्मुखो यावद् वर्तते, तावत्प्रमेयगतदेशकालोपरक्ततया क्षणे क्षणे अन्यान्यरूपतया नवनवोदयः सन्, तस्मिन्नेव स्वशब्दवाच्ये, एकस्मिन्नेव अनन्तकालव्यापिनि मायाप्रमातरि संबंधित्वेन निर्भासमानो मम नीलाद्याभासो यस्यैव पीताद्यवभास इत्यादिना रूपेण यः, स प्रमाणम् इति, यतः स आभासो प्रमानिष्पत्तौ सव्यापारः। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७२

२०९. अन्तर्मुखो बोधो हि विषयोपरागावस्थायां प्रमारूपः, तदनारूषितत्वे प्रमातृरूपः। परमार्थविचारे तु परमप्रकाशाद्विच्छिन्नीभूतः प्रकाशः स्वरूपेण प्रमाता, बाह्योन्मुखतायां प्रमाणम्, पुनः स्वरूपोन्मुखतायां प्रमा, आश्यानीभावे प्रमेयमिति। – भा., २, पृ.७४; आगे भी भास्कर इसे प्रकारान्तर से दुहराते हैं: बहिर्मुखताम् आगतं प्रमातुः स्वरूपं प्रमाणं भवति, पुनरन्तर्मुखताम् आगतं तावदत्यक्त–विषयोपरागवत् प्रमा स्यात्, ततः क्षणेन संकोचत्यागे (अर्थात् विषयोपरागत्यागे) एषा प्रमापि प्रमातृरूपैव भवति, प्रमातापि यदि तज्ज्ञत्वेन तस्मिन् समये कुत उत्थितेयं कुत्र लीना चेति प्रमामूलान्वेषणद्वारेण [.....] स्वयमपि परप्रकाशे लीनीभवति, सैव च प्रत्यभिज्ञा स ईश्वरोऽहमेव इत्येवंरूपा। – तदेव, पृ. ९१

निम्नांकित सारणी में अब तक प्रतिपादित विषय का संग्रह इस प्रकार किया जा सकता है

[सारणी चित्र–४]



२१०. एवं च प्रकृतसमर्थनीयवस्तूपयोगितया स्वयं च संबंधरूपतया अवश्यविचार्यां मानादिस्थितिम्। – ई.प्र.वि., २, पृ. ६७; भास्कर 'प्रकृतसमर्थनीयवस्तु' की व्याख्या करते हैं : क्रियाशक्तिरूपं समर्थनीयं वस्तु तत्र। – भा., २, पृ. ६७

प्रमाण का अधिप्रमाणीय रूप

अपने प्रमाण–चिन्तन को संपूर्णता देते हुए अभिनव उसके विशुद्ध अधिप्रमाणीय स्वरूप को भी उसी बौद्धिक प्रखरता से उजागर करते हैं। उनकी दृष्टि में प्रमाण की तीन अवस्थाएँ हैं और प्रमाण के संपूर्ण स्वरूप के आकलन के लिए तीनों पर विचार आवश्यक है।[२११] पहली कोटि है, ज्ञान के पूर्व की स्थिति। इसे वह प्राक्कोटि (pre-cognition) कहते हैं। यह प्रमाता की प्रधानता की स्थिति है। यह प्रमेय–जिज्ञासा की भूमि है, जिसमें प्रमाता प्रमाण का प्रवर्तन या संकल्पात्मक प्रयत्न रूप विचार करता है।[२१२] बीच की स्थिति वस्तुतः प्रमाण के व्यापारण की स्थिति है। यहाँ प्रमाण जिस रूप में विषय का ग्रहण करता है, उसी रूप में अपने से पूर्व और बाद दोनों स्थितियों की ओर भागता है।[२१३] यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि व्यापार और फल के अभेद के कारण, प्रमाण की कृतार्थता प्रमिति में है, अतः दोनों मध्यम स्थिति में अंतर्भूत हैं। तीसरी कोटि है, जहाँ फल अपनी पर्यन्तता को प्राप्त करता है, वह है प्रमेय के विषय में मोहमात्र का दूर होना।[२१४] परमार्थतः इन तीनों प्रमाणगत अवस्थाओं में प्रमाता ही का खेल दिखाई देता है।[२१५] इनका निम्नवत् संग्रह कर सकते हैं :

प्राक् कोटि	=	ज्ञानपूर्वता	=	प्रमाणान्वेषण/विचार
मध्यकोटि	=	वर्तमानता	=	प्रमाणव्यापार
परकोटि	=	फलपर्यन्तता	=	मोहमात्रनिवर्तन

२११. इह हि प्रमाणस्य तिस्रोऽवस्थाः प्राक्कोटिः, वर्तमानता, फलपर्यन्तता च। –ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १७४

२१२. तत्त्वदृष्टिलक्षणात् निर्णयात् पूर्वावस्थैव विचारयितृत्वं निरूपितम्। [.....] प्रमाणोपन्यासरूपा निर्णिनीषैव विचार इति। – तदेव, पृ. १७७

२१३. (अ) मध्यकोटौ तु प्रमाणं प्रतपत् [.....] यथा कृतार्थं भवति तथा पूर्वापरकोटिमेव अनुधावति। – तदेव, पृ. १७७–१७८

(आ) प्रतिष्ठां दृढ़निश्चयरूपाम् अर्थः प्रमातरि आसादयति इति संबंधः। – तदेव, पृ. १७८

२१४. तच्च मोहमात्रनिवर्तनफलमेव। – तदेव, पृ. १७८

२१५. इति तिसृषु अपि प्रमाणावस्थासु प्रमातैव विजृम्भते। – तदेव, पृ. १७९

द्वितीय खंड

प्रमाण-भेद

अध्याय ४

आसूत्रण

धर्मोत्तर के अनुसार प्रमाण–विचार में मुख्यत: चार प्रश्न उठते हैं, जिनको लेकर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में विवाद रहा है। वे हैं संख्या, लक्षण, विषय और फल।[१] इनमें प्रमाण के सामान्य लक्षण (लक्षण) और फल (प्रमा) की चर्चा हम कर आए हैं। शैव दार्शनिक तीन प्रमाणों में विश्वास करते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, यद्यपि अभिनव के पूर्व इस विषय में साक्षात् कथन नहीं मिलता। सोमानंद वैयाकरणों की पश्यन्ती को किसी भी प्रमाण से साध्य न मानते हुए तीन प्रमाणों की चर्चा करते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त।[२] एक जगह वह प्रत्यक्ष आदि उपायों[३] का उल्लेख करते हैं, पर उसकी ज्ञानमीमांसकात्मक सार्थकता संदिग्ध है। प्रमाणों के भेद या संख्या को लेकर उत्पल की कारिकाओं और वृत्ति में सीधे कोई उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि प्रत्यक्ष[४] और अनुमान[५] का अलग–अलग नाम मिलता है। एक ही कारिका है,[६] जहाँ अनुमान और प्रत्यक्ष की गणना साथ–साथ हुई है। आगम का उल्लेख वृत्ति में केवल एक जगह मिलता है,[७] पर वहाँ भी वह प्रमाण की विधा न होकर आकरशास्त्र के अर्थ में है। अभिनव भी प्रमाणभेदों का सीधे प्रतिपादन नहीं करते, परन्तु तीन प्रमाणों के विशेष लक्षण देते हैं[८]। इससे यह निष्कर्ष

१. चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्ति: संख्या–लक्षण–गोचर–फलविषया। – न्या.बि व.१/२ की अवतरणिका

२. प्रत्यक्षस्यागोचरत्वाद्, अनुमानं प्रदूषितम्।
भवद्भिरेव, नाप्तस्याननुभूतार्थवक्तृता। – शि.दृ. २/६२
सोमानंद द्वारा प्रमाणत्रय की चर्चा भर्तृहरि का अनुवाद अधिक है, सिद्धान्त स्थिरीकरण कम। पदसंगति में भी प्राप्त आप्त का प्रत्यय भर्तृहरि और पतंजलि से अधिक प्रभावित है। यों भी जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, यहाँ पर आप्त, आगम–प्रमाण का एक अङ्गमात्र है।

३. प्रत्यक्षाद्युपायै:। – तदेव, ५/१०३स

४. ई.प्र.का.१/७/४; और १/१/५, १/५/१, १/७/७, १/८/१ की वृत्ति

५. ई.प्र.का. १/५/८–९, १/७/१३, २/३/९ (कारिका और वृत्ति दोनों)

६. ई.प्र.का. २/३/९

७. वृत्ति (१/५/१४)

८. ई.प्र.वि., २, पृ. ८३–८४

सुकर हो जाता है कि शैव परम्परा को तीन प्रमाण मान्य हैं। वे हैं अनुभव, युक्ति और आगम जो सामान्यतः प्रचलित प्रत्यक्ष, अनुमिति और शब्द के पर्याय हैं।[९] अभिनव के संकेतों के अनुसार एक प्रमाण मानने वाले भी कुछ आचार्य थे, परन्तु इनका संभवतः प्रमाणशास्त्रीय महत्त्व नहीं था। मालिनीविजयवार्तिक में आचार्य नरसिंह[१०] के नाम से वे प्रत्यक्षाद्वयवाद का उल्लेख करते हैं[११] और उस पर चर्चा भी करते हैं[१२], परन्तु उसका स्वर तत्त्वमीमांसात्मक अधिक है। इसी क्रम में वह 'कैश्चिद्' के द्वारा अनुमानप्रमाणवाद का भी जिक्र करते हैं[१३], परन्तु स्वयं आगे चलकर उसे प्रत्यक्ष पर निर्भर मान लेते हैं।[१४] इस प्रकार शैव परम्परा प्रमाणत्रयवादी ही होकर उभरती है। अवान्तर परम्पराओं में मान्य अन्य प्रमाणों के इस संप्रदाय में स्वीकृत तीन प्रमाणों में अंतर्भाव के प्रयत्न प्रसङ्गवशात् यत्र तत्र दिखते हैं, पर वे गंभीर नहीं कहे जा सकते। उदाहरण के लिए मालिनीविजयवार्तिक में उपमान को प्रत्यक्ष में अंतर्भाव्य बताया गया है।[१५] अनुपलब्धि को अन्य का प्रत्यक्ष मानकर स्वतन्त्र प्रमाणता नहीं मानी गयी है।[१६] सोमानन्द प्रतिभा (इस शर्त के साथ यदि

---

९. इह दीर्घदर्शिना प्रत्यक्षानुमानागमान्यतमप्रमाणमूलां प्रत्यभिज्ञामाश्रित्य। – तदेव; और भी द्रष्टव्य : मा.वि.वा. १/७९५–७९६

१०. अभिनव के पिता का नाम भी नरसिंहगुप्त था, जिनका उपनाम चुखलक था (तं. ३७/५४)। अतः यह संशय स्वाभाविक है कि कहीं यह उनके पिता की ओर तो संकेत नहीं है। परन्तु मैं उन्हें भिन्न मानने के पक्ष में हूँ, एक तो आचार्य शब्द के प्रयोग के कारण और दूसरे उनके पिता का व्याकरण, न्याय और साहित्य में प्रारम्भिक आचार्य होने के नाते (तं. ३७/३८)। यों भी यह चर्चा यहाँ अप्रासंगिक है।

११. आचार्य नरसिंहेन प्रत्यक्षाद्वयमुच्यते। – मा.वि.वा. १/७३४अ ब

१२. तदेव १/७०४–७६४

१३. अनुमानप्रमाणत्वं विश्वस्मिन् कैश्चिदुच्यते। – तदेव १/७६४स द

१४. तदेव १/७६९

१५. तदेवमुपमानादावपि मानान्तरे स्फुटम्।
संवित्प्रत्यक्षरूपैव सर्वत्र प्रतिभासते।। – मा.वि.वा. १/७४७

इस श्लोक की व्याख्या अन्यथा भी हो सकती है। अंतरिम प्रतिपत्तियों के रूप में अपने इन निष्कर्षों की सीमाओं को हमें स्वीकार करना होगा। गीता रस्तोगी आप्तपुरुष के अतिदेश वाक्य 'गाय सदृश गवय होता है' को सुनकर होने वाले न्याय सम्मत उपमान का आप्तोपदेश रूप आगम में अंतर्भाव करती हैं। द्र., प्र.प्र.मी., पृ. ३१५

१६. (अ) अनुपलम्भोऽपि अन्योपलम्भरूप एव। – ई.प्र.वि., १, पृ. २३३

(आ) न च एतत् अपूर्वं यत् वस्त्वन्तरज्ञानमेव वस्त्वन्तराभावज्ञानम्।–तदेव, पृ.३७१; प्र.प्र.मी., पृ. २६६

वैयाकरण इसे प्रमाण मानते हैं तो) को अनुमान से अलग नहीं देखते।[१७] गीता रस्तोगी ने अपने प्रबन्ध[१८] में युक्तिपूर्वक शैव पक्ष को प्रस्तुत किया है कि प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक अर्थापत्ति का अंतर्भाव प्रत्यक्ष में करते हैं।[१९] यद्यपि शैवों की सामान्य दृष्टि अर्थापत्ति को अनुमान, या व्यतिरेकी अनुमान, मानने की रही है।[२०] इससे भिन्न परवर्ती प्रमाणशास्त्रियों में भास्कर चित्तानुबोधशास्त्र में उपमान और अर्थापत्ति का अनुमान में, ऐतिह्य, अज्ञातकर्तृक सम्भव, और तर्क का शब्द, एवं चाक्षुष अभाव का प्रत्यक्ष में संग्रह करते हैं।[२१] ऐसा लगता है कि शैवों ने इस दिशा में किसी व्यवस्थित पद्धति से काम नहीं किया है। प्रसङ्गवशात् स्फुरणाएँ आती गयी हैं। अथवा, यह भी संभव है कि हम उनमें कोई तारतम्य निश्चित न कर सके हों। अत: किसी सार्थक निष्कर्ष के लिए इस विषय में हमें भविष्यत् अध्ययनों की प्रतीक्षा करनी होगी। अत: प्रकृत विषय की ओर चलते हैं।[२२]

---

१७. शि.दृ. २/६४स द

१८. प्र.प्र.मी., पृ. २५८–२६०

१९. अर्थापत्तिश्च तार्किकमतेऽनुमानमेवेति सैव अनवस्था। तत्प्रशान्तये च प्रत्यक्षमेव अनुमन्तव्यं मूले। तथापि कापिलैरावीतहेतुप्रयोगेन विषयबाधने निरूपिते दर्शनमेव पर्यन्ते शरणीक्रियते। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २०८ (तत्रैव उद्धृत) यद्यपि गीता रस्तोगी ने (पृ.२९३, ३१५) अन्य प्रमाणों के अंतर्भाव की संभाव्यता पर विचार किया है, इसका स्वागत किया जाना चाहिए पर प्रमाण– और परीक्षा–सापेक्ष होने के कारण हमने इसका उपयोग नहीं किया है।

२०. (अ) इति व्यतिरेकोपक्रमेण अनुमानेन प्रमात्रैक्यमर्थापत्त्या इति। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ३६६

(आ) कार्यान्यथानुपपत्त्या इति पीनश्चैत्रो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र यथा पीनत्वेन कार्येण रात्रिभोजनम् अर्थापत्त्यनुमानेन कल्प्यते न तथा इहेति भाव:। – ई.प्र.वि., १, पृ. ८२, पा.टि.संख्या ५५

२१. उपमानप्रकारेण नोपयोगोऽस्ति तादृश:।
अर्थापत्तिस्त्वनुमानं द्विविधाऽपि स्फुटं स्थिता।।
ऐतिह्यं शब्द एवास्ति किन्त्वज्ञातकर्तृक:।
सम्भवस्तर्करूपोऽयं कैतन्मेयस्य कल्पना।। – चि.अ.शा. १/१९१–१९२
असंभव, ऐतिह्य और यौक्तिक प्रत्यक्ष का अभिनव खण्डन करते हैं।–ई.प्र.वि.वि.,३, पृ.२०६–२०८

२२. प्रमाण के भेदों पर विचार कहाँ से प्रारम्भ किया जाए, इसे लेकर थोड़े असमंजस में हूँ। एक ओर शैव, बौद्धों की भांति ज्ञान के दो ही प्रकार मानते प्रतीत होते हैं, निर्विकल्प और विकल्प। प्रत्यक्ष और आगम दोनों निर्विकल्पक के अंतर्गत आते हैं, प्रमिति की दृष्टि से। दोनों में अंतर उनकी प्रकाशात्मकता और विमर्शात्मकता को लेकर है। प्रत्यक्ष प्रकाश के आयत्त होता है और आगम विमर्श के। प्रत्यक्ष के अवान्तर भेद सविकल्प प्रत्यक्ष में भी विकल्पव्यापार की ही महिमा दिखाई देती है। परन्तु अभिनव इस प्रकार से प्रारम्भ नहीं करते। वे तीन प्रमाणों की सीधे स्वतन्त्र चर्चा करते

हैं, निर्विकल्प–विकल्प में विभाजनपूर्वक नहीं। दूसरी ओर अभिनव योगसंचर के प्रामाण्य से प्रमाणजन्य बोध को ग्रहणात्मक मानते हैं और ज्ञान या निर्विकल्पक बोध को शब्दनात्मक (शुद्धसंविन्मयी प्राच्ये ज्ञाने शब्दनरूपिणी। करणे ग्रहणाकारा, यतः श्रीयोगसंचरे।। – तं. ४/१२९) यद्यपि जयरथ यहाँ पर भिन्न अर्थ लेते हैं। उनके अनुसार शब्दन विकल्प या भेदबुद्धि है, फलतः ग्रहणात्मक ज्ञान ग्राह्यग्राहकभेदमय है। मैं जयरथ से असहमत होने की धृष्टता कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि में अर्थ यह होना चाहिए : प्राच्य अर्थात् प्रमातृ–अवस्था में जो संविद्रूपा है, वह ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पक बोध में शब्दनरूपा और प्रमाणात्मक ज्ञान में ग्रहणाकारा है। यह अर्थ अभिनव की ज्ञात प्रमाणशास्त्रीय स्थिति से समञ्जस भी है। देखने की बात है कि यहाँ आगम को प्रमाण माना गया है, ऐसी स्थिति में आगम भी ग्रहणात्मक होगा जबकि आगम की परिभाषा शब्दन के रूप में की जाती है, प्रमाणस्थिति में उसकी शब्दनरूपता को कैसे सुरक्षित रख पाएंगे? अतः इस प्रश्न को भविष्य में निर्णय के लिए खुला छोड़ते हुए हम यहाँ अपने विवेचन में अभिनव की ही पद्धति का अनुगमन करेंगे।

अध्याय ५

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष–लक्षण

प्रत्यक्ष शब्द अन्य संप्रदायों की भांति यहाँ भी विषय, प्रमाण और प्रमा तीनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। उत्पल हमें कण्ठत: प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं देते। अभिनवगुप्त उत्पल के प्रमाणलक्षण को ही प्रत्यक्ष के तीनों भेदों–इन्द्रियजन्य ज्ञान, अन्त:करणजन्य ज्ञान और योगिज्ञान – में घटित करते हैं, विशेषता केवल इतनी है कि यह मुख्यत: प्रमेयरूप आभास में विश्रान्त होता है और यह विश्रान्ति साक्षात् है।[1] ऐसा लगता है कि भास्कर अभिनव के प्रत्यक्षलक्षण को दो हिस्सों में बांटते हैं – सामान्य और विशेष। साक्षात् प्रमेयविश्रान्ति मुख्य लक्षण है और विशेष लक्षण इन भेदों के तत्तत् विशेषण से प्रकट होता है।[2]

प्रत्यक्ष शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं दिखाई देता। उत्पल की वृत्ति (१/५/१८:**सैव चितिर्ज्ञानम् अध्यक्षम्**) में प्रत्यक्ष के पर्याय अध्यक्ष शब्द को अभिनव अवश्य निरुक्त करते हैं: **अक्षै: करणतया अधिष्ठितम्** :[3] प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसमें इन्द्रियां करण के रूप में अधिष्ठित रहती हैं। एक स्थल पर ऐसा लगता है कि अभिनव धर्मोत्तर की अक्षप्रतिगम रूप (**प्रतिगतमाश्रितम् अक्षम्**:न्या.बि.टी.१/३) व्युत्पत्ति

---

१. तच्च ऐन्द्रियके बोधे सुखादिसंवेदने योगिज्ञाने च अविवादमेव, मुख्यतयैव प्रमेयरूपे आभासे साक्षात् विश्रान्ते:। – ई.प्र.वि., २, पृ. ८३

२. साक्षात् इति [.....]। एतेन प्रत्यक्षप्रमाणस्य सामान्यलक्षणयोजनम्, विशेषलक्षणं तु ऐन्द्रियके इत्यादिविशेषणसूचितमेव ज्ञेयम्। – भा.२, पृ. ८३
भास्कर प्रत्येक प्रमाणभेद के लक्षण को दो हिस्सों में बांटते हैं : सामान्यलक्षण, जब वे प्रमाणलक्षण की योजना करते हैं और विशेष, जब वे प्रमाणभेद का लक्षण देते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष में उनकी पद्धति थोड़ी बदली हुई है। प्रमाण के सामान्यलक्षण के विनियोग के उपरान्त वे प्रत्यक्ष के लक्षण का पुन: सामान्य और विशेष में भेदन करते हैं।

३. ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २२०

को स्वीकार कर लेते हैं : इन्द्रिय को प्राप्त या आश्रित।[४] परन्तु जैसा कि धर्मोत्तर कहते हैं,[५] अभिनव भी इन्द्रियकरणताधिष्ठानत्व को व्युत्पत्तिनिमित्त ही मानते प्रतीत होते हैं, उसका प्रवृत्तिनिमित्त नहीं। यद्यपि प्रयोगों से वह इसे अव्ययीभाव (धर्मोत्तर: गतिसमास) ही मानते हैं। प्रवृत्तिनिमित्त न मानने का कारण है कि अक्षाधिष्ठितत्व लक्षण इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष में तो प्राप्त होता है पर योगिप्रत्यक्ष, प्रातिभ ज्ञान या अतीन्द्रिय प्रत्यक्षों में नहीं। वस्तुत: प्रवृत्ति के स्थान पर वहाँ तो इन्द्रियकरणता की स्वभावत: उपरति रहती है। अत: प्रत्यक्ष की अर्थविषयक प्रमाणता का निर्विवाद रूप से कारण है उसका साक्षात्कारित्व। साक्षात्कारित्व का अर्थ भास्कर लेते हैं अव्यवहित प्रतीति से, जहाँ लिङ्ग-ज्ञान आदि किसी प्रकार का व्यवधान नहीं है।[६] साक्षात्कारी होने के कारण प्रत्यक्ष विषय के प्रति प्रमाण है। यदि यह कहा जाए कि साक्षात्कारिता का कारण है उसका अर्थ से उत्पन्न होना,[७] अर्थ का ज्ञान की विषयाकारता का कारण बनना[८], तो प्रत्यक्ष की इस अवधारणा में वसुबन्धु के प्रत्यक्षलक्षण : **ततोऽर्थादुत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्**[९] की गंध आती है। दिग्नाग ने इस लक्षण के नैयायिकों के **'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं प्रत्यक्षम्'** के अत्यन्त निकट लगने के कारण इसकी तीखी आलोचना की थी। अभिनव जहाँ साक्षात्कारिता को प्रत्यक्ष का लक्षण मानते हैं, वहाँ प्रत्यक्षज्ञान में होने वाली विषयाकारता को इन्द्रिय जन्य ही मानते हैं। प्रमा में होने वाले विषयोपराग की व्याख्या के लिए इन्द्रियवृत्ति या इन्द्रिय-सन्निकर्ष (अभिनव, अभी तक के ज्ञान के आधार पर, दोनों में अंतर नहीं करते) स्वीकार करना आवश्यक है।[१०] यही कारण है कि ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष से भिन्न अन्य सारे ज्ञान यद्यपि बाह्य को ही आभासित करते हैं, पर यह आभासन व्यवहित होता है।[११] इस बात को अभिनव अन्यत्र और भी स्पष्ट कर देते हैं। सामान्यत: और प्रधानतया इन्द्रिय का ही करणतया उपयोग होता है,

४. स्वदर्शनेन तत् निर्वहति अपारोक्ष्यं पुन:। प्रसिद्धं यदैन्द्रियकमानसप्रत्यक्षसंवेद्यं तदिदमिति प्रमातुर्भेदेन भातीति अक्षप्रतिगमाद् अस्तु प्रत्यक्षम्, नैवं प्रमाता। - ई.प्र.वि.वि., १, पृ. २१९

५. अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य, न प्रवृत्तिनिमित्तम्। - न्या.बि.टी.१/३

६. साक्षात् इति, न त्वनुमानादिवल्लिङ्गज्ञानादिव्यवधानेनेत्यर्थ:। - भा., २, ८३

७. प्रत्यक्षमर्थे प्रमाणम् [.....] साक्षात्कारित्वात्। [.....] अर्थजत्वात् च अर्थस्य साक्षात्कारित्वमस्य। - ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १५८

८. विषयाकारता हि अर्थात्, न इन्द्रियात्। - तदेव, ३, पृ. ७४

९. उद्धृत, बौ.द.वि., पृ. ११०

१०. विषयाकारता हि अर्थात्, न इन्द्रियात्। आह 'न च' इति। प्रमा हि विषयोपरागयोगिनी तथा भवति। विषयश्च इन्द्रियेण सन्निकृष्टो वा इन्द्रियवृत्तिनिपतितो वा तथा कुर्यात्। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७४

११. अनुभवज्ञानात् ऐन्द्रियकात् अन्यत् सर्व ज्ञानं व्यवधानेन बहिराभासनरूपं प्राप्तम्। - तदेव, २, पृ. ३३७

बाद के विकल्पात्मक प्रमातृव्यापार के द्वारा विषयों की व्यवस्था होती है। यह विकल्पात्मक व्यापार वस्तुतः विमर्शशक्ति का ही एक रूप है जो इन्द्रिय ज्ञान को अनुप्राणित करता है।[१२] वसुबन्धु ने, कहते हैं कि, आगे चलकर अपने लक्षण को सुधारा था : **ततोऽर्थाद् विज्ञानम्।**[१३] वसुबन्धु की भाँति अभिनव अपने मन्तव्य का पुनरीक्षण करते हैं और अर्थजत्व का पुनर्विन्यास अर्थसामर्थ्य के शब्दों में करते हैं। अर्थ की अपेक्षा अर्थसामर्थ्य को वरीयता देने में अभिनव का प्रयोजन इस लक्षण को योगिप्रत्यक्ष और भावना–प्रत्यक्ष पर भी व्याप्त करने का रहा है। विषय–सन्निधान योगि–साक्षात्कार का नियामक नहीं है। अतिशय नैर्मल्य के कारण, योगी के ज्ञान का प्रसर कहीं रुकता नहीं,[१४] अतः 'अर्थात्' – अर्थ से – मानने पर सन्निहितविषयता[१५] आवश्यक होती, पर 'अर्थ की सामर्थ्य से' कहने पर 'अर्थ' तो रहेगा पर विषय का इन्द्रिय द्वारा होने वाला सन्निधान या सन्निकर्ष या सामक्ष्य आवश्यक न होगा। 'इन्द्रिय–व्यापार' की अनिवार्यता हट जाने से शुद्ध प्रमाता का, योगी का[१६] और लोक में भी अवहित चित्त वालों का प्रगाढ़ भावना से भावित पदार्थों में साक्षात्कार संभव है। स्फुटाभता के रूप में प्रत्यक्षता की व्याख्या भी साक्षात्कारित्व से सध जाती है।[१७]

'अर्थ की सामर्थ्य से' कहने का एक महत्त्वपूर्ण अवान्तर प्रयोजन भी है। सच पूछा जाए तो अभिनव 'अर्थसामर्थ्यात्' शब्द भी धर्मकीर्ति से लेते हैं।[१८] धर्मकीर्ति के अनुसार अर्थ की सामर्थ्य से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष अर्थरूप का अनुकरण करता है, अर्थात् प्रत्यक्ष में अर्थसारूप्य का कारण अर्थ है। चूंकि अर्थ में शब्द नहीं होते, न ही शब्द

---

१२. मायाप्रमातृतापरिग्रहे तु नियतिरस्य विजृम्भमाणा प्रमुखे तावदिन्द्रियोपयोगं करणभावेन आदर्शयति; परतस्तु तदिन्द्रियज्ञानानुप्राणकविमर्शशक्तिविस्फाररूपेण विकल्पशब्दवाच्येन प्रमातृव्यापाररूपेण भावान् व्यवस्थापयति। – तदेव, ३, पृ. १३६

१३. तदेव, पृ. ११३

१४. योगिसंवेदनस्य च नैर्मल्यातिशयेन अप्रतिहतप्रसरत्वात्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ४५

१५. साक्षात्कारो हि असन्निहितेन विषयेण अयोगिनां न जन्यते। – तदेव, पृ. ३१३

१६. मन्त्रमहेश्वरादियोगिपर्यन्तप्रमात्रपेक्षया विनापि इन्द्रियव्यापारेण दृष्टः साक्षात्कारः। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ७१

१७. उल्लेखस्य सुखादेश्च प्रकाशो बहिरात्मना।
इच्छातो भर्तुरध्यक्षरूपोऽक्षादिभुवां यथा। – ई.प्र.का. १/८/९
हमारे कलागत अनुभवों की साक्षात्कारकल्पता भी साक्षात्कारित्व की इसी अवधारणा का यौक्तिक विस्तार है।

१८. 'अर्थस्य सामर्थ्येन समुद्भवात्' (प्र.वि. १/४; प्र.वा. ३/१९४) इति अप्रयोजको हेतुः। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २२४

अर्थात्मक होते हैं, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान में अर्थ ही प्रतिभासित होता है, शब्द, अभिलाप या तज्जन्य कल्पना नहीं।[१९] अभिनवगुप्त धर्मकीर्ति से यहाँ तक सहमत हैं। धर्मकीर्ति की इस बात से उनका विरोध है कि प्रत्यक्ष में या अनुभव में अभिलापवत्ता या शब्दात्मकता नहीं होती। धर्मकीर्ति की भांति अर्थसामर्थ्य का अर्थ वे ये नहीं लेते कि अनुभव की अभिलापात्मकता अर्थ के स्वभाव से जन्य नहीं है, क्योंकि अनुभव के विषयांश में अभिलापांश का स्फुरण नहीं होता, बल्कि उनका मानना है कि अनुभद में अभिलापवत्ता का उदय मनस्कार के कारण होता है।[२०] जहाँ तक अनुभवात्मक शब्दयोजना का संबंध है, वह प्रत्यक्ष की कारण–सामग्री से उद्गत होती है, संकेतस्मरण से नहीं। मनस्कार प्रत्यक्ष की कारण सामग्री का अनिवार्य घटक है, उसी से अभिलापवत्ता या शब्दयोजना उदित होती है। प्रत्यक्ष से मनस्कार (मनोयोग या मनोवधान) का संबंध बौद्ध भी स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त अभिधर्म को उद्धृत करते हैं, जहाँ मनस्कार को चित्त का आभोग –विकास/विस्तार– कहा गया है : और समनन्तर प्रत्यय के रूप में उससे बोधरूपता का उदय माना गया है।[२१] अभिनव के अनुसार प्रत्यक्ष की कारणसामग्री में चक्षु इन्द्रिय की निर्दोषता, प्रकाश की अमन्दता, विषय की उचित दूरी पर अवस्थिति के साथ–साथ मन के अवहितत्व की गणना भी अवश्य करनी होगी। क्योंकि, जैसे अनुभव के विषय का प्रतिभास अर्थ से जन्म लेता है, वैसे ही ज्ञान की विमर्शरूपता, बोधरूपता, मनस्कार से जन्म लेती है। मनस्कार की व्याख्या अभिनव दो प्रकार से करते हैं। एक तो विमर्शोन्मुखता की शब्दावली में।[२२] विमर्शन का अर्थ मतीलाल व्यावर्तन, विशिष्टीकरण, विभेदन (distinguishing) से लेते हैं।[२३] प्रत्यक्ष के दो अंश हैं प्रकाशन (प्रतिभासन) और विमर्शन (निर्धारण, व्यवस्थापन, निश्चयन)। दूसरी व्याख्या, जो पहले का एक प्रकार से विस्तार हैं, में मन के अवहितत्व का अर्थ है दर्शनेच्छा की वस्तु के वाचक शब्द के संस्कार को जगाना या उत्थापित करना।[२४] अर्थात् मनस्कार प्रत्यक्ष को सूक्ष्म शब्दभावना, जिसे 'प्रतिसंहृतरूपशब्दभावना'

---

१९. तद्धि अर्थसामर्थ्येनोत्पद्यमानं तद्रूपमेवानुकुर्यात् न ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा। – प्र.वि. १/४ पर स्वोपज्ञ वृत्ति, पृ. ७

२०. नहि अर्थगतात् स्वभावादभिलापवत्तामनुभवस्य आचक्ष्महे विषयपक्षे अभिलापभागस्य अस्फुरणात् [.....] अपितु मनस्कारमाहात्म्याद् इति आकूतशेषः। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २२४–२२५

२१. तथापि आभिधार्मिकैरेव उक्तं 'मनस्कारश्चित्ताभोग' इति। [.....] 'बोधरूपता समनन्तरप्रत्ययात्' इति वदद्भिः। – तदेव, पृ. २२५

२२. आभोगश्च विमर्शोन्मुखत्वमेव उच्यते। – तदेव

२३. "On Bhartṛhari's Linguistic Insight", पृ. ९

२४. अवधानं च इदमेव उच्यते यत् किल दिदृक्षितवस्तुवाचकशब्दसंस्कारप्रबोधकत्वम्।–ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २२५

(अपने में ही सिमटे शब्दों के द्वारा या शब्द रूप में सूक्ष्म निश्चय) कहा गया है, से अनुविद्ध कर देता है।[२५] प्रत्यक्ष के इन दोनों अंशों (सविषयता और बोधरूपता) में विरोध नहीं है, क्योंकि एक ही कारण सामग्री में दोनों अंशों के पृथक् प्रबोधक अंश विद्यमान हैं।[२६] अतः अभिनवगुप्त का निष्कृष्टार्थ है कि प्रत्यक्ष में जो अर्थ व्यापृत होता है वह शुद्ध अर्थ नहीं होता, वह मनस्कारसहकृत होता है। फलतः अर्थसामर्थ्य का तात्पर्य है मनस्कार से सहकृत अर्थ का सामर्थ्य। उससे जन्मने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। युक्तिशय्या इस प्रकार है : अर्थ प्रकाशमय है और विमर्श प्रकाश का प्राण है, अतः अर्थ भी विमर्शात्मक सिद्ध होता है। अर्थ के विमर्शात्मक होने पर भी अनियत शब्दों के मेलन से घटित होने वाले शब्दनात्मक विमर्श विशेष को जगाने में संकेतग्रहण में पटुता वाले मनस्कार के संस्कार से युक्त अर्थ ही व्यापारशील होता है, शुद्ध या मात्र अर्थ नहीं।[२७]

साक्षात्कारिता निर्विकल्प और सविकल्प दोनों का अपने में समाहार करती है। सामान्यतः निर्विकल्प प्रत्यक्ष को साक्षात्कारी स्वीकार किया ही जाता है।[२८] परन्तु निर्विकल्पकता से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि वहाँ अर्थ की चेतना का अभाव है। वस्तुतः वहाँ भी अर्थ का सूक्ष्मतया प्रत्यवमर्शन होता है।[२९] अभिनव इसे अपने संप्रदाय का वैशिष्ट्य मानते हैं कि साक्षात्कार का पर्यवसान वस्तुतः 'देख रहा हूँ' इस विकल्पात्मक व्यापार तक होता है।[३०] अर्थात् न केवल निर्विकल्प अपितु सविकल्प प्रत्यक्ष तक साक्षात्कार का फैलाव है।[३१] शैवों को लगता है कि बौद्ध भी विकल्प को प्रत्यक्ष का व्यापार मानते

२५. "On Bhartṛhari's Linguistic Insight", पृ. १०

२६. ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २२५

२७. तथाहि प्रकाशमयत्वादर्थस्य, प्रकाशस्य च विमर्शजीवितत्वात्, विमर्शात्मकत्वेऽपि अर्थस्य अप्रति-नियतशब्दमेलनपरिघटितशब्दनात्मकविमर्शविशेषप्रबोधे संकेतग्रहणपटीयः स्वाहितमनस्कारसंस्कार-सहितः सोऽर्थो व्याप्रियते, न शुद्धः। – तदेव, पृ. २३६

२८. भवतु वा क्षणमात्रस्वभावः साक्षात्कारः। – तदेव, पृ. २९०–२९१

२९. साक्षात्कारलक्षणे ज्ञानेऽपि चितोऽर्थप्रत्यवमर्शोऽस्ति सूक्ष्मः। – वृत्ति (१/५/६)

३०. इह साक्षात्कारो वस्तुतः 'पश्यामि' इत्येवंभूतविकल्पनव्यापारपर्यन्त एव। – ई.प्र.वि., १, पृ. २९०

३१. शैवों की इस दृष्टि के पीछे से बौद्धों से उनकी सोच का वैलक्षण्य स्पष्ट झलकता है। बौद्धों के यहाँ निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही एक मात्र वास्तविक (अविसंवादी) ज्ञान है जो सफल प्रवृत्ति से अनुगत होता है। परन्तु वस्तुस्थित्या निर्विकल्प प्रत्यक्ष से किसी भी क्रिया की प्रवृत्ति संभव नहीं है, अतः निर्विकल्प से प्रवृत्ति मानने में अंतर्विरोध है। इस आपत्ति से बचने के लिए धर्मोत्तर कहते हैं कि निर्विकल्प ज्ञान सविकल्प के रथ में बैठकर चलता है (निर्विकल्पज्ञानं सविकल्परथारूढं प्रयाति)। अभिनव इसमें भी दोष देखते हैं, क्योंकि निर्विकल्प का सविकल्प से संबंध भी अव्यवहित नहीं है। निर्विकल्प ज्ञान के अनन्तर अपोहन (इदमस्माद् भिद्यते) होता है, तदनन्तर परामर्श या

हैं।[३२] वस्तुतः अध्यवसायापेक्ष ही प्रत्यक्ष का प्रामाण्य उनके यहाँ स्वीकृत किया गया है। अतः अर्थ के प्रत्यक्ष की दृष्टि से प्रत्यक्षपृष्ठपाती अध्यवसाय को अनुमान, विकल्प, आदि से भिन्न माना जाता है। अभिनव बौद्धों के इस तर्क को स्वीकार करते हैं और इस आधार पर साक्षात्कार की विकल्पपर्यन्तता में आस्था प्रकट करते हैं। प्रत्यक्ष के दोनों सीमान्तों की एकता के लिए अभिनव अपने उपर्युक्त तर्क से ज्यादा आधारभूत युक्ति देते हैं। यह वही युक्ति है जो उन्होनें प्रमाण और प्रमाणफल की एकता में दी है। अध्यवसाय, जिसे वह विकल्प कहते हैं, प्रत्यक्ष का व्यापार है, इस दृष्टि से प्रत्यक्ष व्यापारवान् हुआ। व्यापार और व्यापारवान् की एकता शैव दर्शन के मौलिक विश्वासों में से एक है, इसलिए साक्षात्कार का प्रसार निर्विकल्प से सविकल्प तक माना गया है।[३३] चूंकि प्रत्यक्ष अर्थ की सामर्थ्य से है, यह तथ्य साक्षात्कार की विकल्पपर्यवसायिता में भी अनूदित होता है। साक्षात्कार का दृश्य विषय ही अध्यवसाय(विकल्प) का विकल्प्य होता है, अतः साक्षात्कार की विकल्प्य के साथ एकता साक्षात्कार की सविकल्पकता का हेतु बनती है।[३४]

वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक की इस मूलगामी युक्ति में प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रंत्यक्ष प्रमा का अभेदन और एक ही ज्ञान के दो अंशों में व्यवस्थापक-व्यवस्थाप्य भाव रूप भेदन अंतर्निहित है। वस्तु-व्यवस्थापन का नाम है प्रमा, बिना सविकल्पक हुए वह वस्तु-व्यवस्थापनात्मक नहीं हो सकती। वस्तु-व्यवस्थापक का नाम है प्रमाण, वह प्रमातृगत प्रकाश से एकरूप है। अतः वह निर्विकल्पक है और इस नाते प्रमा कहें या सविकल्पक बोध, उसका करण अर्थात् असाधारण कारण है।

अध्यवसाय, उससे सविकल्प उत्पन्न होता है। अतः यह कहना किं निर्विकल्प ज्ञान ही सविकल्प के पलंग पर लेटकर अर्थक्रिया उत्पन्न करता है, टिक नहीं पाता (निर्विकल्पज्ञानमेव सविकल्पतल्पशायि अर्थक्रियां जनयति)। यह पुत्र या पितामह की नहीं बल्कि प्रपितामह की अर्थक्रियाकारिता है (ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २२४)। यही बात स्मृति के प्रसंग में दिखाई पड़ती है। बिना अध्यवसाय के निर्विकल्प से स्मृति भी संभव नहीं है (अविकल्पिते स्मरणासंभवात् - ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ५४)। जहाँ तक शैवों का संबंध है निर्विकल्पक में भी विकल्प (विमर्श) है। सारी क्रिया सविमर्श है। साक्षात्कार-ज्ञान भी अंततः क्रिया, व्यापार रूप है, इसलिए साक्षात्क्रिया में भी विमर्श है। दूसरे सविकल्प ज्ञान (judgements)भी सत्य होते हैं, अतः उनके द्वारा जो प्रदर्शित होता है वह भी सत्य होता है। इसलिए अध्यवसायावलंबिता को माने बिना बौद्धों के पास कोई चारा नहीं है। इस टिप्पणी के विचारों के लिए मैं अरिंदम चक्रवर्ती का ऋणी हूँ।

३२. विकल्पो हि प्रत्यक्षस्य व्यापार इति परोऽपि मन्यते। - ई.प्र.वि., १, पृ. २९०-२९१

३३. प्रत्यक्षस्य व्यापारोऽध्यवसायः, व्यापारेण च तद्वतो भिन्नेन न स्थीयते, अध्यवसायबलात् वा ऐक्यम्। - ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २१९

३४. यत् विकल्प्येन सह ऐक्यं साक्षात्कारस्य स निर्विकल्पत्वाभावे हेतुः। - तदेव, पृ. २२०

अभिनव इसे अनुमान का आकार देते हैं :

'मुझे (वस्तु) अवभासित हो रही है' यह प्रमातृलग्न प्रकाश करण है (= हेतु)।

(इस हेतु से) 'यह नील (मुझसे बाह्य) है' यह अध्यवसाय प्रमा है।

(फलतः) नील प्रमेय है।

अभिनव के लिए वस्तुतः यह साक्षात्कारी ज्ञान का तो लक्षण है ही, प्रमाणलक्षण का भी मानक प्रतिदर्श है।[३५] साथ ही निर्विकल्प और सविकल्पक : प्रमाण और प्रमा : प्रकाश और विमर्श (सूक्ष्म–स्थूल भेद से) की केन्द्रीय परिनिष्ठा अर्थ में है, इस तथ्य की भी सघोष प्रतिपत्ति है। संभवतः अभिनव को अर्थ–सामर्थ्य से यही अभिप्रेत है।

इन्द्रिय–व्यापार की दृष्टि से कहना होगा कि इन्द्रिय व्यापार द्वारा 'यह नील है' ऐसी व्यवस्था नहीं होती जिससे यह शङ्का की जाए कि चूंकि नीलस्वरूप–व्यवस्थापन रूप प्रमा का वह करण है इसलिए वह प्रमाण है, बल्कि यह व्यवस्थापन–कर्म निर्विकल्पक द्वारा ही संपादित किया जाता है।[३६]

प्रत्यक्ष का विषय

प्रत्यक्ष का विषय सर्वदा एक ही होगा। वह 'एक' एकात्मक अर्थात् एकाभासात्मक भी हो सकता है और अनेकात्मक अर्थात् अखिलाभासात्मक भी।[३७] इस प्रकार **'प्रत्याभासं प्रमाणस्य प्रवृत्तिः'** प्रमाण के इस मौलिक स्वभाव की प्रत्यक्ष में भी अनुवृत्ति होती है। सविकल्पक प्रत्यक्ष की दृष्टि से यह एक (स्वलक्षण) अनेकात्मक ही होगा। 'अनेकात्मक एकता' में साक्षाद् अनुभव द्वारा योजना तो हो ही सकती है, स्मृति द्वारा भी अनुभव की योजना संभव है। इस योजना का उपयोग अभिनव 'अनेकात्मक की एकता' के अंर्थविस्तारण से भी करते हैं– देश और काल के फैलाव में वस्तु–व्यवस्थापन को संभावित करते हुए। मुहूर्त से लेकर महाकल्प आदि रूपों से वितत काल में, कोस, योजन, वन

---

३५. मम अवभासमानमिति प्रमातृलग्नः प्रकाशः करणम् ततो हेतोः। नीलमेतद् बाह्यमिति अध्यवसायः प्रमा। नीलं प्रमेयम्। एतच्च 'इदमेतादृग् इत्येवम्' (२/३/१) इत्यत्र उपपादयिष्यते। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ७४

३६. यदि वा इन्द्रियव्यापारापेक्षया इदमुच्यते न इन्द्रियव्यापारेण नीलमिदम् इति व्यवस्थापयिष्यते, येन तद्व्यवस्थापनात्मिकां प्रमां कुर्वतस्तस्य प्रामाण्यं शङ्क्येत, किन्तु एतत् निर्विकल्पकेन व्यवस्थापयिष्यते। – तदेव

३७. अनेकात्मकैकसाक्षात्कारात्मकं प्रत्यक्षम्। न केवलं साक्षादनुभवयोजनात्मिकैव युक्तिः, यावत् स्मृतिद्वारेण अपि अनुभवयोजनात्मिका सेति दर्शयता विततस्वभाववस्तुव्यवस्थापनमिव विततकालव्यवस्थापनमपि इत्थं युज्यते। – तदेव, ३, पृ. १४२

आदि रूपों से वितत देश में यह योजना संभव है और इससे सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रमेय की परिधि भी वितत हो जाती है। इस प्रकार के प्रमेय के लिए अभिनव एक नए शब्द का आविष्करण करते हैं, निरन्तरपरिपाट्याभासात्मक वस्तु।[३८] इस प्रकल्पन के द्वारा अभिनव सारे विश्व को उसकी विविधता में प्रत्यक्ष के अंतर्गत ले आते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचते हैं कि प्रायः अन्यत्र प्रत्यक्ष के दो स्वतन्त्र भेदों के रूप में गृहीत निर्विकल्पक और सविकल्पक के प्रत्यय शैव योजना में वस्तुतः एक ही प्रत्यक्ष–ज्ञान के प्रमाण–प्रमा भेद से दो आयाम हैं। इनमें से सविकल्पक के प्रत्यय पर पीछे अभी–अभी विचार कर आए हैं; फिर भी सुविधा की दृष्टि से सविकल्पक की मुख्य विशेषताओं का संग्रह हम एक बार पुनः कर लेते हैं। प्रत्यक्ष प्रमारूपता सविकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूपलक्षण है। इसका विषय अनेकात्मक स्वलक्षण है, जिसमें मुख्य घटक के ग्रहण में अनुभव और अवान्तर घटकों में स्मृति द्वारा प्रत्यक्ष या अनुभव की योजना होती है। प्रमाण के विषय को लेकर स्वलक्षणाभास की चर्चा के समय घटक सामान्याभासों तथा स्वलक्षणाभासों में गृहीतग्रहण की बात हम देख चुके हैं। यह स्मृति द्वारा ही संभव है। इसमें 'इदम्' का ही नहीं 'एतादृक्' का भी, अर्थात् स्वरूप का ही नहीं उसके धर्मों का भी, ग्रहण होता है और इस कारण स्वरूप–घटकों का परस्परान्वयन विशेषण–विशेष्यभाव रूप योजनापूर्वक होता है। सविकल्पक का विषय दृश्य और विकल्प्य का वास्तविक एकीकरण है, इसलिए बौद्ध नैयायिकों के नामराशि प्रत्यय से यह भिन्न है।

निर्विकल्प–सविकल्प प्रत्यक्ष : गतिशील प्रत्यय

शैवों के निर्विकल्प प्रत्यक्ष की अवधारणा अत्यन्त विलक्षण है। रोचक और उल्लेखनीय बात यह है कि वह निर्विकल्प ज्ञान की ही नहीं, 'निर्विकल्प ज्ञानों की परम्परा' की अवधारणा का प्रवर्तन करते हैं।[३९] निर्विकल्पक ज्ञान में परम्परा की बात आपाततः निर्विकल्पक की पारिभाषिक अवधारणा के ही विरुद्ध प्रतीत होती है। निर्विकल्पक के स्वरूप–विचार के प्रसङ्ग से हम इस पर दृष्टि डालेंगे। निर्विकल्प का प्रश्न अभिनव वाक्–विचार, विशेषतः पश्यन्ती, के संदर्भ में उठाते हैं और उसे दैनन्दिन वाग्व्यवहार तक ले आते हैं। ध्यान देने की बात है कि इस विश्लेषण को वह प्रमाण चिन्तन से जोड़ते है। प्रमाण की मौलिक प्रकृति ग्रहणाकारा है जो बिना ग्राहक और ग्राह्य, विषयी और विषय,

---

३८. तदेव

३९. निर्विकल्पकज्ञानपरंपरया (हि तं शब्द श्रृणोति)। – ई.प्र.वि., १, पृ. २८५

अहम् और इदम्, के संभव नहीं है। इसलिए निर्विकल्पकता का अतिक्रामी रूप, जो मात्र विषयिता है, अहंविमर्श मात्र है, परा का स्वभाव है, वह यहाँ अप्रासंगिक है।[४०] यहाँ निर्विकल्प का वह रूप अभिप्रेत है, जिसमें विषयिता और विषय दोनों की चेतना का स्पर्श है। अभिनव को यह रूप पश्यन्ती में मिलता है।[४१] आत्म–चेतना के संकोच के साथ, विषयिता के संकोच के साथ प्रमाणचेतना का उदय होता है। पश्यन्ती शुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान का प्रतीक है, यहाँ 'अहमिदम्' बोध में 'इदम्' अहंभावच्छुरित है। यहाँ संकोच का एक ही प्रकार है प्रमात्रन्तरपरिहार। पश्यन्ती दशा में सदाशिव, ईश्वर के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रमाता नहीं है और वहाँ भासित इदंता (विषयता) अहंता से आच्छादित है।[४२] मायीय प्रमाता में संकोच के दो प्रकार हैं, प्रमात्रन्तर–परिहार और प्रमेयान्तर–परिहार। अत: साधारण प्रमाता के शरीर, बुद्धि आदि की वासना से विषयिता भी संकुचित होती है अर्थात् प्रमाता भिन्न–भिन्न होते हैं और हर प्रमाता की अपेक्षा से और परस्पर भी प्रमेय भिन्न–भिन्न होते हैं। अत: आनुभविक प्रमाता का निर्विकल्प ज्ञान इन दोनों संकोचों से संकुचित होता है। इस प्रकार निर्विकल्प त्रिदलीय है : प्रथम जो अतिक्रामी है, दूसरा जो शुद्ध विषयिता है और संकोचस्पर्श के कारण जहाँ भिन्नीकृत विषयता विषयिता में क्रोडीकृत है, और तीसरा जो मायिक है जहाँ विषयिता और विषयता दोनों परस्पर परिहार से स्थित हैं।[४३] शैवों की इस अंतर्दृष्टि को ध्यान में रखना हमारे आगे के अध्ययन के लिए उपयोगी होगा।

पश्यन्ती को अभिनव ऐन्द्रियक निर्विकल्प, योग की निर्वितर्क और निर्विचार समापत्ति से अभिन्न देखते हैं और इसको संदर्शनात्मक, दूसरे शब्दों में प्रत्यक्षानुभूति रूप,

---

४०. सोमानन्द इस निर्विकल्पक की दो विशेषताएँ मानते हैं (१) इयत्तया अनवधारण और (२) अक्रमेण सर्वावधारण। यहाँ का सारा अवभासन पूर्णाहंभाव रूप में होता है। शिवदृष्टि ३/८५ ब–८६अ (शिवतत्त्वे सानुभवे पश्यन्त्या न समानता।। यतो गान्धिकसौगन्ध्यवत्पश्यन्नविकल्पक:।) की व्याख्या करते हुए उत्पल की पदसंगति (पृ. १३४–१३५) है : यतो यथा गान्धिकोऽनन्त-गन्धद्रव्यसौगन्ध्यम् इयत्तया अनवधारयन्नक्रमेण सर्वमवधारयन्नास्ते, तथा [.....] पश्यन्नविकल्प: शिवो भवति अहमित्येव पूर्णाहंभावेन एषां प्रकाशनात्।

४१. ननु निर्विकल्पदशारूपा पश्यन्ती। तत्र यदिदन्तात्मकं वपु: तदहम्भावाच्छुरितमेव भाति– अहमिदम् इति। – तदेव, २, पृ. १९४; तत्त्वों में सदाशिव, शुद्ध प्रमाताओं में मन्त्रमहेश्वर और शिव की शक्तियों में ज्ञानशक्ति को पश्यन्ती के समकक्ष माना गया है।

४२. तस्यामीश्वरव्यतिरिक्तं प्रमात्रन्तरं नास्ति यदपेक्षया ते भावा अवस्थान्तरेण भासेरन्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १९४

४३. मायीयानां तु अहन्ता अपि देहादिवासनया संकुचिता, इदन्ता अपि प्रमेयान्तरपरिहारेण [.....]। एवमुभयत: संकुचितं वर्तते मायाप्रमातॄणामहमिदमिति निर्विकल्परूपम्। – तदेव, पृ. १९४–१९५

आदिम प्रमातृव्यापार से एकाकार पाते हैं। **अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा** (वाक्य.वृत्ति १/१३४) भर्तृहरि की इस अवधारणा में संहृतक्रमा का अर्थ अभिनवगुप्त विषयगत क्रम के सर्वथा अभाव से नहीं लेते। विषयगत क्रम वहाँ केवल संवृतमात्र है, ढंका हुआ है। यदि वहाँ सर्वथा अभाव मानेंगे तो मध्यमा आदि वाक् की परवर्ती भूमियों में विषयगत भिन्न विकल्पों का परामर्श असंभव हो जाएगा। उदाहरण के लिए प्रमाता जब पहली बार निर्विकल्प प्रत्यक्ष से 'सरः' और 'रसः' (तालाब और जल) को देखता है और यदि वहाँ तद्गत ('सरः' और 'रसः') दोनों आलोचनों में विषय भिन्न होने के कारण उनके विषयगत क्रम (सरः में स–र और रसः में र–स) को स्वीकार नहीं करता तो बाद के सरः और रसः के रूप में स्फुट रूप से भिन्न दोनों ज्ञानात्मक विकल्पों का उदय कैसे होगा।[४४] ऊपर इस प्रसंग में ऐन्द्रिय निर्विकल्प के संदर्भण द्वारा मायिक प्रमाता के निर्विकल्प प्रत्यक्ष को भी समेट लिया गया है, इसका कारण वे पश्यन्ती की निर्विकल्पकता को भी चिन्तनमय अर्थात् प्रमाणक्षेत्रीय मानते हैं और सोमानन्द के पश्यन्ती को परा न मानने के पीछे उसकी प्रमाणक्षेत्रीयता को ही बाधा मानते हैं।[४५]

अभिनव के उपर्युक्त उपस्थापन में ही उनकी निर्विकल्पता की अवधारणा का सूत्र छिपा है। विषयगत क्रम के संवृतत्व को वे दो उपप्रत्ययों द्वारा विकसित करते हुए निर्विकल्पकता की धारणा को धार देते हैं। वे हैं : प्रमाता के पक्ष में संवरण और अपावरण तथा प्रमेय के पक्ष में संवर्तन और विवर्तन की उपधारणाएँ, जो अंततः अभिन्न सिद्ध होती हैं। निर्विकल्प माया प्रमाता की संवृत अवस्था है। प्रमेय के प्रति इन्द्रियों की प्रवृत्ति होने पर जब तक मन का प्रमातृ–प्रमेय भेद का उत्थापक अनुव्यवसाय उदित भी नहीं होता, उस समय तक वह विकल्प व्यापार के अभाव की स्थिति होती है। इस स्थिति में प्रमाता का प्रमातृभाव संवृत, ढँका हुआ, ही होता है। जैसे ही विकल्पन व्यापार अर्थात् मानस अनुव्यवसाय का उदय होता है, प्रमातृभाव अपावृत–अनावृत–होने लगता है।[४६] इस अनावरण की प्रक्रिया का फल यह होता है कि प्रमाता और प्रमेय को बांटने वाली प्रमेयनिष्ठ विषयता

४४. अभिन्नसन्धानम् अभिसन्धिर्निर्विकल्पकम् ऐन्द्रियं विज्ञानं निर्वितर्कनिर्विचारसमापत्तिः संदर्शनात्मा च प्रथमः प्रमातृव्यापारः। तत्र यदा प्रत्यक्षेण अविकल्पकेन सरश्च पश्यति रसं च तद्गतं तदा तदालोचनद्वयं यदि न भिन्नविषयतया विषयगतं क्रमं स्वीकुर्यात् स्वविमर्शावसरे तत् स्फुटभिन्नौ कथं समनन्तरौ विकल्पौ स्याताम्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १९२

४५. यतः पश्यन्त्यां प्रमाणोपपन्नं चिन्तामयत्वं, ततः पश्यन्त्याः परत्वं शिवदृष्टिशास्त्रे निवारितम्। – तदेव

४६. तदा च मायाप्रमातृभावस्य संवृतस्यैव अवस्थानम्, उदिते तु विकल्पनव्यापारे सोऽपावृतो वर्तते। इति तत्कृतात् द्वैतारम्भात् प्रमातृप्रमेययोर्भेदकः प्रमेयविश्रान्तः इदमिति निर्देशो भवन् पूर्वापेक्षया प्रसारितरूपः स्वयं विकल्पनात्मा स्वापेक्षया पूर्वत्र निर्विकल्पकतां व्यवहारयति। – तदेव, पृ. २४०

भी, जो अब तक संवर्तित–लपेटी हुई–थी, की तहें खुलने लगती हैं, वह विवर्तित होने लगती है। इदं–शब्दवाच्य विषयता यहाँ शब्दनात्मक है, शब्दभावना रूप है, जो प्रमातृभाव की संवृतावस्था में संवर्तित रहती है और प्रमातृभाव की अपावृतावस्था में फैलती हुई खुलती चली जाती है – विवर्तित होती जाती है।[४७] फलतः 'इदम्' के रूप में संवर्तित शब्दभावना क्रमशः घट, शुक्ल, और फिर उसका पृथुबुध्नोदराकार (मोटे गोल पेट की शक्ल वाला) होना, शुक्लत्वजातियुक्तगुण (सफेदीपन की जाति से युक्त सफेद गुण) का समवायी होना आदि रूपों में विवर्तित होती हुई स्थूल से स्थूलतर विकल्पों में परिणत होती जाती है। निर्विकल्प में पश्चाद्भावी स्थूलविकल्पों की कल्पना का संवेदन नहीं होता, जबकि सविकल्प में होता है।[४८] यहाँ यह याद दिलाना सामयिक होगा कि प्रमेय की परिभाषा में 'एकाभिधानविषयता' और तथात्वविमर्श रूप प्रमा की 'शब्दनात्मकता' उत्पल के प्रमाणलक्षण की अंतरंग विशेषता है।[४९]

निर्विकल्पकता ओर सविकल्पकता के प्रत्यय सापेक्षिक और गतिशील हैं, इस बात पर शैवों का विशेष आग्रह है। संवर्तन और विवर्तन, संवरण और अपावरण के द्वारा वे बताना चाहते हैं कि हर पूर्वावस्था में परवर्ती अवस्था की अपेक्षा प्रमातृभाव संवृत और प्रमेयभाव संवर्तित है और हर परवर्ती अवस्था में प्रमातृभाव अपावृत और प्रमेयभाव विवर्तित है। इसका सीधा निष्कर्ष यह है कि हर परवर्ती अवस्था अधिक फैली होने के कारण विकल्पात्मकता को धारण करती हुई अपनी अपेक्षा से पूर्वावस्था का ग्रहण निर्विकल्पक रूप से कराती है। यह सिद्धान्त निर्विकल्पकज्ञान परम्परा की मान्यता का बीज है। विमर्शविशेष के रूप में विकल्पात्मक होते हुए भी हर पूर्ववर्ती निर्विकल्प है और हर परवर्ती सविकल्प।[५०] इसीलिए निर्विकल्पक ज्ञान परम्परा से देखे गए व्यवहार के बल से प्रमाता शब्द से संकेतित अर्थ का निश्चय कर पाता है, विषय की व्यवस्था कर पाता है और विशेष से भी विशेषतर या अतिविशेष रूप में प्रमेय का तथात्वनिर्णय कर पाता है।

---

४७. संवृता हि शब्दभावना प्रसारितां शब्दभावनां विविधकल्पनारूपामपेक्ष्य तथाभूतवैविध्यकल्पनवैकल्यात् निर्विकल्पा इति। – ई.प्र.वि.वि.,२, पृ. २४०

४८. अत्र च यतः पश्चाद्भाविस्थूलविकल्पकल्पना न संवेद्यते [.....] संवर्तिता हि शब्दभावना प्रसारणेन विवर्त्यमाना स्थूलो विकल्पः, यथा इदमित्यस्य प्रसारणा घटः शुक्ल इत्यादिः, तस्यापि पृथुबुध्नोदराकारः शुक्लत्वजातियुक्तगुणसमवायी इत्यादि। – ई.प्र.वि., १, पृ. २९३

४९. और भी मिलाइए : अत्र तु दर्शने विषयस्यापि विमर्शमयत्वात् अभिलापमयत्वमेव वस्तुतः। – तदेव, पृ. २८८–२८९

५०. उत्तरोत्तरापेक्षया च पूर्वपूर्वस्य संवर्तितशब्दभावनारूपत्वाद् अविकल्पकत्वमुच्यते सत्यपि विमर्शविशेषात्मकविकल्परूपत्वे। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २२६

प्रसङ्गवशात् एक भ्रम को दूर कर लेना चाहिए। मायिक प्रमाता को **'योऽहं बाल: स एवाद्य युवा'** (जो मैं बालक था वही आज युवा हूँ) आदि स्थलों में जो प्रत्यभिज्ञा होती है, उसे उत्पल प्रमातृव्यापार रूप कल्पना कहते हैं।[५१] विमर्शिनी में, वर्तमान में किसी भी आगन्तुक आभास (विषय) में पूर्वाभासों की योजना को अभिनव अशुद्ध अनुसंधान मानते हैं। परन्तु विवृतिविमर्शिनी में इसे एक नया नाम देते हैं छायामयी प्रत्यभिज्ञा।[५२] छायामयी का तात्पर्य है जो न शुद्ध विकल्प है और न शुद्ध साक्षात्कारी ज्ञान, क्योंकि वर्तमान में भिन्न दिखनेवाला और पूर्व अवस्था में अभिन्न देह या पदार्थ इसका विषय होता है। परन्तु प्रत्यक्ष के निर्विकल्प या सविकल्प रूप की भांति यह कोई तीसरी छायामयी नामक विधा नहीं है और न इसका उपर्युक्त दोनों में अंतर्भाव किया जा सकता है। यह अशुद्ध अनुसंधान रूप सविकल्पक ही है।[५३]

प्रत्यक्ष के भेद

अभिनव से पूर्व प्रत्यक्ष के प्रकार निर्णय का एकत्र प्रयत्न उनकी परम्परा में दिखाई नहीं देता। यद्यपि सोमानंद को प्रत्यक्ष के तीन भेदों – इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष – की चेतना रही है, यह बिखरे उद्धरणों से स्पष्ट होता है। सोमानंद की चाक्षुष प्रत्यक्ष (शि.दृ. ५/३१ब–३२अ) और अक्षसंबंध (शि.दृ. ६/८३ अ) की चर्चा से इन्द्रियप्रत्यक्ष और **पश्य युक्तित:** (शि.दृ. २/६३) पद की पदसंगतिगत व्याख्या (**युक्तितो योगात् समाधेरवधानात् पश्येति**) के आधार पर योगिप्रत्यक्ष में उनके विश्वास का पता चलता है। उत्पल अपनी कारिका और वृत्ति में अलग–अलग स्थलों पर इन तीनों का संकेतन करते हैं।[५४] किन्तु व्यवस्थित प्रमाणविवेचन में त्रिप्रकारता के प्रतिपादन का श्रेय अभिनव को ही देना होगा।[५५] प्रश्न है कि बौद्धों की भांति क्या प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक भी

---

५१. कादाचित्कावभासे या पूर्वाभासादियोजना।
संस्कारात् कल्पना प्रोक्ता सापि भिन्नावभासिनि।। – ई.प्र.का. १/६/६

५२. भिन्नं तात्कालिकम् अभिन्नं पूर्वावस्थया एकीकृतं देहादि यतोऽस्या विषयस्तत इयं न शुद्धो विकल्पो, नापि शुद्ध: साक्षात्कार: अपितु च्छायामयी प्रत्यभिज्ञा इत्युच्यते। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ३१४

५३. अशुद्धेऽपि तु अनुसंधानात्मकतया अभेदस्य प्रस्फुरणात् कश्चिदविकल्पकत्वं शङ्केत तस्य व्यामोहं व्यपोहितुमाह। – ई.प्र.वि., १, पृ. ३२४

५४. इन्द्रियवेद्यता (ई.प्र.का. २/२/२), उभयेन्द्रियवेद्यता (२/२/२), बाह्यान्त:करणद्वयीवेद्यता (२/४/४ की वृत्ति) सर्वाक्षगोचरता (३/२/१७), बाह्यान्त:करणद्वयीवेद्यता तथा एकान्त:करणवेद्यता (१/८/८ की वृत्ति), योगिप्रत्यक्ष (१/४/५)

५५. तच्च ऐन्द्रियके बोधे सुखादिसंवेदने योगिज्ञाने च, मुख्यतयैव प्रमेयरूपे आभासे साक्षात् विश्रान्ते:। – ई.प्र.वि., २, पृ. ८३; अभिनव विवृतिविमर्शिनी में अपने मन्तव्य को दुहराते है : प्रत्यक्षेण हि

स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष का एक स्वतन्त्र भेद मानते हैं, यदि ऐसा है तो फिर चार भेद स्वीकार करने होंगे।[५६] इस धारणा को बल मिलता है उत्पल के अनेक कथनों से। ज्ञानाधिकार के एकाश्रयनिरूपण नामक सातवें आह्निक की दो कारिकाओं में[५७] स्वसंवेदन का आपाततः प्रमाणतया वे उल्लेख करते हैं। वृत्ति में भी वे अनेकशः प्रथमदृष्ट्या प्रमाणभाव से ही स्वसंवेदन का आश्रय लेते हैं।[५८] किन्तु अभिनव इस संदेह को प्रश्रय नहीं देते। उनके अनुसार स्वसंवेदन को प्रमाण का, प्रकृत में प्रत्यक्ष का, भेद नहीं माना जा सकता।[५९] मूल तर्क है कि संवेदन प्रमाता का, और आत्मा और महेश्वर के ऐक्य के कारण ईश्वर का, स्वभाव है, इसलिए प्रमाता स्वरूपतः ज्ञान या चेतना है। समग्र ज्ञान स्वयंप्रकाश माना गया है, अतः वह किसी अन्य ज्ञान से प्रकाश्य नहीं है। स्वसंवेदन से सिद्ध का अर्थ है, अपने ज्ञानात्मक स्वरूप से सिद्ध होना या प्रकाशित होना। यह प्रमाणोत्तीर्णता की स्थिति है, अतः संवेदन को प्रमाण मानना और प्रमाणतया स्व-संवेदन से संवेदन का प्रकाशित होना, बौद्धों की यह मान्यता स्वीकार्य नहीं है।[६०] शैव बौद्धों से अपना अंतर भी बताते हैं। बौद्धों के लिए स्वसंवेदन विशुद्धज्ञान है, जो प्रमातृनिरपेक्षतया आत्मतंत्र है। इसके विपरीत शैवों की दृष्टि में यह परम प्रमाता/महेश्वर का ही स्वरूपगत प्रकाश नहीं है, बल्कि महेश्वरता प्राप्ति

तावदिन्द्रियजेन स्वसंवेदनेन योगाभ्यासजेन च नीलसुखब्रह्मलोकादिरर्थः साक्षादेव अवभासते। (ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८५-८६) यहाँ मुद्रित पाठ में 'स्वसंवेदनेन' पाठ त्रुटित है। 'स्वसंवेदन' को शैव प्रत्यक्ष के भेद या प्रमाण के भेद के रूप में स्वीकार नहीं करते, यह प्रवर्तमान विश्लेषण से स्पष्ट हो जाएगा। विमर्शिनी के पाठ से मिलान करने पर यहाँ 'सुखादिसंवेदनेन' पाठ या इसी का तुल्यार्थी पाठ होना चाहिए। आगे दिए गए दृष्टान्त की आनुपूर्व्यता से भी यही ठीक लगता है- नील (इन्द्रियज प्रत्यक्ष), सुख (अंतःकरण प्रत्यक्ष) और ब्रह्मादिलोक (योगिप्रत्यक्ष)। काश्मीर शैव दर्शन से संबंधित मूल ग्रन्थों के मुद्रित पाठों के संपादन की यह कमी बार-बार आड़े आती है।

५६. "Utpalaeva's Īśvarapratyabhijñā-vivṛti, pt.V : self-awareness and yogic perception", र. टोरेला, पृ.३, पा.टि .७

५७. (अ) स्मृतौ यैव स्वसंवित्तिः प्रमाणं स्वात्मसंभवे।
पूर्वानुभवसद्भावे साधनं सैव नापरम्।। - ई.प्र.का. १/७/५
(आ) धर्म्यसिद्धेरपि भवेद्बाधा नैवानुमानतः।
स्वसंवेदनसिद्धा तु युक्ता सैव प्रमातृजा।। - तदेव, १/७/१३

५८. स्वसंवेदनसिद्धम् एवैश्वर्यम् (वृत्ति १/१/२), स्वसंवेदनसिद्धस्य अपि ईश्वरस्य (तदेव १/१/३), सिद्ध एव स्वसंवेदनसंवेद्यतया स्वपरयोरीश्वरः अहंप्रत्येय आत्मा (तदेव १/१/५)

५९. संवेदनम् अनुपयुज्यमानानुपपद्यमानम् अप्रमाणमिति उच्यते। तदियमस्मद्दृष्टिः। तथा च चतुर्विधं प्रत्यक्षम् इति स्वसंवेदनस्य प्रमाणभेदगणनानुपपत्तिः। - ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ६३

६०. ततश्च स्वसंवेदनेन प्रमाणेन संवेदनं भातीति यत् परेण उक्तं तदपसारितमेव भवति। - तदेव, पृ. ६१

पर्यन्त माया प्रमाता का भी स्वरूपगत प्रकाश है।[६१] जो स्वसंवेदन है, वही प्रमातृतत्त्व है।[६२] बौद्धों में स्वसंवेदन स्वतन्त्र है, शैवों में प्रमातृ–तंत्र संवेदन के प्रमाणतया अस्वीकृत हो जाने पर अंततः तीन ही प्रत्यक्ष के भेद बचते हैं, जिनकी हम आगे चर्चा करेंगे।

ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष के तीन भेदों में से दो का आधार इन्द्रिय है। उपलब्धि की साधनभूत इन्द्रियों को दो विभागों में बांटा गया है – बाह्य और आंतरिक। पंच ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य हैं और मन, बुद्धि, अहंकार –जिनकी समवेत संज्ञा है अंतःकरण– आंतरिक। इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सामान्यतः अर्थ बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष से लिया जाता है,[६३] उनमें भी चाक्षुष प्रत्यक्ष इन्द्रिय प्रत्यक्ष के मानक प्रत्यक्ष के रूप में व्यवहार में प्रयुक्त होता है। अक्ष शब्द के दोनों अर्थ (चक्षु तथा इन्द्रिय) इसमें घटित होते हैं।[६४] अंतःकरण जन्य प्रत्यक्ष को सामान्यतः मानस या आंतर प्रत्यक्ष कहा जाता है।[६५] अर्थसामर्थ्य को साक्षात्कारिता के मूल में देखे जाने के बाद भी प्रत्यक्ष के आकार–निर्धारण में करणता इन्द्रिय की रहती है। इसलिए भास्करकण्ठ प्रकाश की प्रधान प्रमाणता और इन्द्रियों की गौणी प्रमेयता की बात करते हैं।[६६] यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि जहाँ बाह्य विषय है, वहाँ उभयेन्द्रियवेद्यता होती है बहिरिन्द्रिय और अंतःकरण दोनों की; पर मानस प्रत्यक्ष में बाह्य इन्द्रिय की भूमिका नही होती, अतः वहाँ एकेन्द्रियवेद्यता मानते हैं।[६७] इन्द्रिय प्रत्यक्ष, चाहे वह बाह्य हो या आन्तर, के विषय भी प्रत्यक्ष शब्द से कहे जाते हैं।[६८] अंतःकरण के प्रत्यक्ष का विषय आभासमात्र या सामान्याभास होता है और उभयेन्द्रिय ज्ञान (अर्थात् अंतःकरणसहकृत

---

६१. ननु स्वसंवेदनं न बौद्धवद् इह स्वतन्त्रम् अपितु महाबोधपर्यन्तपशुप्रमातृलग्नम्। – तदेव, ३, पृ. ७५

६२. यत्स्वसंवेदनं तदेव प्रमातृतत्त्वम्। – ई.प्र.वि., १, पृ. ३६३

६३. अक्षसामक्ष्यं बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वं नाम। – ई.प्र.वि., १, पृ. ४०२

६४. चक्षुरादिविषयभूतानां प्रत्यक्षज्ञानशब्दवाच्यो बहिरात्मना प्रकाशो नीलादीनाम्। – तदेव, पृ. ४१०

६५. अन्तरितिमनःकृते सुखादिज्ञाने। – भा., २, पृ. ८३

६६. प्रकाशस्य स्फुटं मानभावो, नात्रास्ति संशयः।
इन्द्रियादेः प्रमाणत्वं गौणं न मुख्यमीरितम्।। – चि.अ.शा. १/२३२

६७. (अ) आभासान्तरामिश्रतायाम् अन्तःकरणैकवेद्यत्वे [.....] आभासान्तरमिश्रतायाम् उभयकरणवेद्यत्वे। – ई.प्र.वि., २, पृ. ३४
(ब) सुखादीनामन्तःकरणैकवेद्यतापादनमेव। – तदेव, पृ. ५७

६८. आभासा निजनिजेन वपुषा साक्षादेव आभासमाना नवनवरूपाश्च यथायथं प्रत्यक्षा एव। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ४२२

बाह्येन्द्रिय ज्ञान) का सामान्य से विशिष्ट विशेष या, तकनीकी तौर पर, सामान्यों का समूहन रूप विशेष।[६९]

यह उचित समय है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में जो प्रक्रिया निहित है, उसका आकलन कर लिया जाए। यह जानना मनोरंजक होगा कि इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया पर अभिनव प्रमाणाह्निक (मानतत्फलमेयनिरूपण शीर्षक) में विचार नहीं करते, अपितु आगमाधिकार के तत्त्वनिरूपणाह्निक में तत्त्वों के माध्यम से सृष्टि–प्रक्रिया का समापन करते हुए आभास–जगत् की परमार्थ–प्रमाता में पुनर्विश्रान्ति की प्रक्रिया का संग्रह करते हैं।[७०] उनके इस कथन में कर्मेन्द्रियों और परमार्थप्रमाता की विश्रान्ति वाले अंश को छोड़ दिया जाए तो प्रमाण–प्रक्रिया अपनी समग्रता में प्रमेय से लेकर प्रमातृविश्रान्ति तक प्रक्रियागत विशदता में एकत्र उपलब्ध होती है।[७१] उत्पल के तत्त्वनिरूपण का सार, अभिनव के अनुसार, यह है : धरा आदि आभास (सामान्य) ही मिश्रित होकर घट आदि विशेष (स्वलक्षण) के रूप में परिघटित होकर [कर्मेन्द्रियों द्वारा जनित और (उनके द्वारा) पास पहुंचने पर (उपसर्पित)] ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आलोचित होकर, अन्तःकरण (मन–बुद्धि–अहंकार) द्वारा संकल्पन, अभिमनन और निश्चयन की समाप्ति–सीमा तक पहुंचाए जाकर, अशुद्ध विद्या द्वारा विवेचित होकर, प्रमाता को उपहित करते हुए कलादि (कञ्चुकों) से रंगे (अनुरञ्जित) जाकर, माया प्रमाता में विश्रान्त होते हैं।[७२] यहाँ ज्ञान प्रक्रिया का कोई भी अंश छूटा नहीं है। इसमें प्रमेय संबंधी विचार हम पहले ही देख चुके हैं, अतः आगे प्रक्रिया पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित करेंगे।

ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष–प्रक्रिया

जहाँ प्रमाण की संकल्पना पर बौद्धों का रचनात्मक (formative) प्रभाव पड़ा है,

---

६९. देखिए पा.टि. ६७ (अ)।

७०. इसका संकेत 'अध्याय एक' में तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि के उपसंहारतया हम पहले भी कर चुके हैं।

७१. यह ध्यान देने की बात है कि ज्ञान की प्रक्रिया सृष्टि–प्रक्रिया की ठीक विलोम है। सृष्टि अंदर से बाहर आने की, और ज्ञान बाहर से भीतर जाने की प्रक्रिया है।

७२. इयत्तु इह तात्पर्यम् धराद्याभासा एव मिश्रीभूय घटादिस्वलक्षणीभूताः कर्मेन्द्रियैर्जनिताश्च उपसर्पिताश्च, बुद्धीन्द्रियैरालोचिताः, अन्तःकरणेन सङ्कल्पनाभिमनननिश्चयनपर्यन्ततां नीताः, अशुद्धविद्याविवेचिताः कलादिभिः प्रमातारम् उपदधद्भिरनुरञ्जिताः, मायाप्रमातरि विश्रान्तिद्वारेण अभिन्ना अपि सन्तो [.....] सत्यप्रमातरि एव भेदविगलनतारतम्येन विगलितस्वकभेदाः प्रकाशविमर्शपरमार्थतया एव विश्राम्यन्तीति]। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ३०४

वहीं उसकी प्रक्रिया का सांचा सांख्य से लिया गया है : बुद्धिवृत्ति में विषय प्रतिबिम्बित होता है और उसमें पुरुष (यहाँ पर मायिक प्रमाता) की छाया पड़ती है, इस मौलिक अंतर के साथ कि बुद्धि की जगह यहाँ पुरुष (सीमित प्रमाता) का प्रकाश ही प्रत्यक्षज्ञान का रूप धारण करता है। शैव यहाँ पर रूपक की भाषा में कहते हैं कि ज्ञान का उदय वैश्विक चेतना के समुद्र में उठने वाली दो धाराओं – विषयि–धारा और विषय–धारा – के मेलन से होता है। पहली का स्वरूप है नैर्मल्य, प्रतिबिम्ब ग्रहण का सामर्थ्य, जिससे विषय के सामने आने पर जब यह उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है तो ज्ञान का उदय होता है।[७३] प्रमाण की सारी विधाओं में प्रमाता और प्रमेय सर्वनिष्ठ घटक हैं। इन दो के अतिरिक्त प्रत्यक्ष की साधारण जनक सामग्री है रूप, आलोक, मन और इन्द्रिय।[७४] इन्द्रिय का अर्थ यहाँ बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से है, जिनकी प्रचलित संज्ञा बुद्धीन्द्रिय है। सामग्री विषयक यह कथन हमें मालिनीविजयवार्तिक में मिलता है। विवृत्तिविमर्शिनी में अभिनव अपने मंतव्य को लेकर अधिक प्रगल्भ हैं। इन्द्रिय का दोष से रहित होना अर्थात् सद्गुणता, आलोक की अमन्दता अर्थात् पर्याप्तता, विषय का योग्यदेश में अवस्थित होना और मनस्कार शब्द से कहा जाने वाला मनोऽवधान, इन सभी की प्रत्यक्ष की कारण–सामग्री के घटक रूप में अपेक्षा होती है।[७५]

संक्षेप में प्रक्रिया इस प्रकार है। प्रमाण की विवेचना में मोटे तौर पर हमने देखा था कि विषय के सामने आने पर प्रमाता अपना प्रकाश विषय पर डालता है, जैसे ही विषय पर प्रकाश पड़ता है वह विषय से उपरंजित होकर प्रमाता की ओर वापस आता है। इस उपरंजित प्रकाश का तथात्व–विमर्शन ही प्रमा है।[७६] प्रत्यक्ष प्रमाण में इसका अनुवाद किया जाए तो इन्द्रिय के माध्यम (प्रणाली) से बुद्धि में प्रतिबिम्बित नील या सुख आदि

---

७३. उन्मग्राभासभिन्नं च चित्स्वरूपं बहिर्मुखत्वात् तच्छायानुरागात् नवं नवं ज्ञानमुक्तम्। – ई.प्र.वि., १, पृ. १४१; द्रष्टव्य अभि., पृ. ३८९

७४. तथाहि मानसामग्री रूपालोकमनोक्षजा।
साकं प्रमातृप्रमेयाभ्यां, तद्वर्जं वाप्यनेकशः।। – मा.वि.वा. १/६३६
'तद्वर्जं वाप्यनेकशः' का तात्पर्य है कि मानस प्रत्यक्ष में बाह्य इन्द्रिय नहीं होती और योगिप्रत्यक्ष में कोई भी सामग्री अनपेक्षित है।

७५. इन्द्रियस्य साद्गुण्यमिव, आलोकस्य अमन्दता इव, विषयस्य योग्यदेशत्वमिव, मनसोऽपि अवहितत्वं नाम यत् कारशब्देन अधिकेन उक्तं, तदपेक्षणीयम्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २२५

७६. प्रमाता के सामान्य लक्षण में 'नीलोन्मुखः नीलोपरक्तः' और 'यावत्प्रमेयोन्मुखतास्वभावः तावत्प्रमेयस्य देशकालाकारसंभेदवत्त्वात्' (ई.प्र.वि., २, पृ. ७० और ७२ क्रमशः) में प्रकाश की प्रवृत्ति और प्रत्यावृत्ति अंतर्निहित है।

विषय को प्रमाता(पुरुष) विद्या[७७] के द्वारा अलग-अलग करके जानता है।[७८] यहाँ पर विषय का तात्पर्य है ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि में प्रतिबिम्बित या पलटकर आए हुए विषय से है, जिसे हम ऐन्द्रिय प्रतिमा (sensory image) कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन प्रत्यक्ष में अन्तर्निहित शारीरिक और मनोवैज्ञानिक क्रियाओं में अंतर करता है।[७९] प्रत्यभिज्ञा का मानना है कि न केवल दृष्टि इन्द्रिय अपितु अन्य सभी ज्ञानेन्द्रियां अपने-अपने विषयों का प्रतिबिम्ब ग्रहण करती हैं।[८०] चक्षु गोलक (eye-balls) और चक्षु इन्द्रिय में अंतर है। वस्तु की आंख पर पड़ने वाली प्रतिबिम्बन-प्रक्रिया के तीन स्तर हैं – दृष्टिपटल (retina); दर्शनेन्द्रिय और बुद्धि। तीनों पर विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है। तीनों प्रतिबिम्ब भिन्न हैं। प्रत्येक पहले वाला बाद वाले का कारण है। इनमें से पहले दोनों जहाँ शारीरिक और भौतिक हैं, तीसरा मानसिक या मनोवैज्ञानिक है। अतः प्रमाता के प्रकाश द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले विषय का तात्पर्य इसी चाक्षुष या ऐन्द्रिय प्रतिमा से होता है।

होता यह है कि विषय के सामने आने पर अर्थात् विषय से संपर्क होने पर अंतःकरण (मन-बुद्धि-अहंकार का समन्वित रूप जिसका संबंध सभी इन्द्रियों से है) संबंधित बुद्धीन्द्रिय को प्रेरित या सक्रिय कर देता है। स्वकीय विषय को लेकर इन्द्रियाँ व्यवस्था के नियम से परिचालित होती हैं, इसे उत्पल इन्द्रिय-नियम कहते हैं।[८१] अंतःकरण

७७. विद्या और कला सकल प्रमाता (साधारण प्रमाता) की किञ्चित्-ज्ञातृता और किञ्चित्-कर्तृता के उपोद्‌वलक तत्त्व हैं, इसलिए वे प्रमाता के करण कहे जाते हैं। विषय इन्द्रिय की नाली द्वारा बुद्धि में अपनी छाप छोड़ता है ओर प्रमाता विद्या द्वारा बुद्धि में। बुद्धि जड़ मानी गयी है, अतः विषय का पारस्परिक विविक्तता के साथ बोध इसी का काम माना जाता है। प्रकृत तथा संबंधित बिन्दुओं पर विस्तृत चर्चा के लिए देखिए *"Manas and Jñāendriyas in Kashmir Śaivism"* शीर्षक परिशिष्ट

७८. अयं पुमान् इन्द्रियप्रणालिकया बुद्धौ प्रतिसंक्रान्तं सुखदुःखाद्यात्मकं विषयं विद्यया परस्परवैविक्त्येन जानाति। – तं.वि., ४, पृ. १७९०; द्रष्टव्य अभि., पृ. ४०२-४०३

७९. अभि., पृ. ४०४

८०. [.....] प्रतिबिम्बनमर्हति।
शब्दो नभसि सानन्दे स्पर्शधामनि सुन्दरः।।
स्पर्शोऽन्योऽपि दृढाघातशूलकुन्तादिकोद्‌भवः।।
परस्थः प्रतिबिम्बत्वात् स्वदेहोद्‌धूलनाकरः।। [.....]
एवं घ्राणान्तरे गन्धो रसो दन्तोदके स्फुटः। – तं. ३/३५-३८; द्र. अभि., पृ. ४०४

८१. अन्योन्यवेदनेऽन्योन्यविषयवेदनमपि स्यात् ततश्च इन्द्रियनियमाभावः। – वृत्ति (१/३/२) इसके कारणरूप में अभिनव विषय-नियम की चर्चा करते हैं (तं.वि., ४, पृ. १८२८)। देखिए परिशिष्ट

से प्रेरित बुद्धीन्द्रिय विषय के संपर्क में आती है। यह संपर्क है इन्द्रिय का विषयाकार परिणाम। इस संपर्क को अभिनव अक्षवृत्ति या इन्द्रियवृत्ति कहते हैं, पर इसे सन्निकर्ष कहने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं है।[८२]

जब तक मन से इन्द्रिय प्रेरित नहीं होती या अंत:करण का सहयोग नहीं होता, तब तक बाह्येन्द्रिय (प्रकृत में दृष्टि–पटल) में प्रतिबिम्बित होने पर भी विषय किसी प्रकार का संवेदन या संवेदनात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करता।[८३] इस प्रकार विषय का अर्थ है, इन्द्रिय में पड़ने वाला विषय का प्रतिबिम्ब।[८४] दूसरे शब्दों में, अभिनव उसे वस्तु का ऐसा अवभासन मानते हैं, जो उस विषय की ग्राहक इन्द्रिय के प्रेरक अंत:करणरूप अधिष्ठान के अधीन होता है।[८५] इन्द्रिय के द्वारा विषय का यह ग्रहण आलोचन(sensation) कहलाता है। इन्द्रिय द्वारा अपनी विषयाकारतामात्र का भासन ही आलोचन है, इसलिए यह निर्विकल्प है।[८६]

बुद्धीन्द्रिय द्वारा गृहीत यह भौतिक प्रतिमा(physical image) स्वप्रकाश चेतना के माध्यम से बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित इस प्रतिमा को विद्या के माध्यम से पुरुष, अर्थात् प्रमाता, प्रकाशित करता है। यही पुरुष या व्यक्ति प्रमाता द्वारा

---

८२. विषयश्च इन्द्रियेण सन्निकृष्टो वा, इन्द्रियवृत्तिनिपतितो वा, तथा कुर्यात्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ७४ अभिनव का सम्प्रदाय वृत्तिवादी है, बौद्धों की भांति प्रतिभासवादी या नैयायिकों की भांति सन्निकर्षवादी नहीं है। वृत्ति की अवधारणा में उसकी परिणामिता को लेकर वह सांख्य से प्रभावित हैं। देखिए, परिशिष्ट

८३. अतोऽन्तिकस्थस्वकतादृगिन्द्रियप्रयोजनान्त:करणैर्यदा कृता।
तदा तदात्तं प्रतिबिम्बमिन्द्रिये स्वकां क्रियां सूयत एव तादृशीम्। – तं. ३/४१; और भी ई.प्र.वि.वि., १, पृ. १६८ : न च अन्त:करणप्रेरितस्वेन्द्रियव्यापारमन्तरेण तन्निर्भासनम् युक्तम्।

८४. तथा च रूपं प्रतिबिम्बितं दृशोर्न चक्षुषाऽन्येन विना हि लक्ष्यते।
तथा रसस्पर्शनसौरभादिकं न लक्ष्यतेऽक्षेण विना स्थितं त्वपि।। – तं. ३/३९

८५. इह अवभासनमात्रसारमेव प्रतिबिम्बसतत्त्वमित्युक्तं बहुश:। अवभासनञ्च तत्तद्विषयग्राहकेन्द्रियानुग्राहकान्त:करणाधिष्ठानायत्तम्। – तं. वि., २, पृ. ३९९; यह वाक्य भी अभिनव का ही है, जिसे जयरथ ने ई.प्र.वि.वि., १, पृ. १६८ से लेकर विवेक में आत्मसात् किया है।

८६. तथाहि बाह्यवृत्तीनामक्षाणां वृत्तिभासने।।
आलोचने शक्ति: [.....]। – तं. ९/२७७–७८
इस पर जयरथ की वृत्ति है : एषा चाविकल्पविजवृत्तिभासनात्मनि आलोचनमात्र एव सामर्थ्यम् इत्युक्तं 'वृत्तिभासने आलोचने शक्ति:।' वस्त्विति पाठे तु तदधिगमात्मनि इत्यर्थ:। – तं.वि., ४, पृ. १८५७

वस्तु–बोध है, ज्ञान है। यह मनोवैज्ञानिक स्तर है। भौतिक प्रतिमा अब मानसिक घटना में पर्यवसित हो जाती है। यह निर्विकल्प प्रत्यक्ष है, यहाँ प्रमातृचैतन्य सामान्य रूप से उपरक्त होता है।

प्रत्यक्ष–लक्षण की चर्चा के समय हमने देखा था कि साक्षात्कारिता का अर्थ है, वस्तुस्वरूप–विकल्पन पर्यन्त प्रत्यक्ष का होना। इसे ही सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। इस सविकल्पक प्रत्यक्ष की प्रक्रिया बुद्धि में प्रतिबिम्बित प्रतिमाओं में से मन द्वारा कुछ के चयन के साथ प्रारंभ होती है। यह एक बड़े शिलाखण्ड में प्रतिमा को तराशने जैसी प्रक्रिया है। आलोचनों या ऐन्द्रिय संवेदनों के ठीक अनन्तर अतीत में देखी गयी सदृश वस्तु की स्मृति जागती है और संसर्गनियम से एक संबंधी के ज्ञान से संबद्ध अन्य प्रतिमाओं और उनसे जुड़ी भावनाओं का पुनर्जागरण होता है। तदनुसार पारस्परिक तुलना से कुछ का ग्रहण और कुछ का त्याग करते हुए वस्तु के नाम, जाति, गुणपूर्वक एकानेक का संयोजन करते हुए मन विषय के एक निश्चित रूप को संकल्पित करता है, जिसे अनुव्यवसाय कहते हैं। अनुव्यवसाय इसलिए क्योंकि यह इन्द्रियों के आलोचन रूप व्यवसाय या निर्विकल्प प्रत्यक्ष के बाद होता है और बुद्धि द्वारा किए जाने वाले अध्यवसाय या निर्णय का कारक है।[८७] विकल्प का पारिभाषिक अर्थ ही है, वस्तु के शंकित विविध परिकल्पों में से अन्य की व्यावृत्तिपूर्वक एक का चुनाव।[८८] इसलिए सविकल्पक प्रत्यक्ष की प्रक्रिया मन की 'प्रतिक्रिया' है, 'दर्शन' नहीं, जो बुद्धि में प्रतिबिम्बित अनन्त वस्तु–प्रतिमाओं या संवेदनों में से एक को चुनकर उसको स्मृति के कोश से लाई हुई सूचनाओं से समृद्ध करती हुई नाम, रूप से विशेषित करती है।[८९] प्रक्रिया का यह उत्तरांश ही वस्तु स्वरूप के निर्णयात्मक बोध (जिसे प्रमा कहा गया है) के लिए उत्तरदायी है, जिसके बिना –अभिनव के शब्दों में 'विमर्शविशेष' के बिना– निर्विकल्पक द्वारा 'दृष्ट' वस्तु का बाद में कभी भी स्मरण संभव नहीं है।[९०]

---

८७. मन एव हि कल्पनानन्तरं चक्षुरादिव्यवसितमपि अर्थम्, अनुव्यवस्यन् निश्चयदशामधिशाययत्। – तं.वि., ४, पृ. १८५९; मिलाइए : पश्चाद्भाविनं व्यवसायं निश्चयात्मकम्, विकल्पकम् अनुव्यवसाय–शब्दवाच्यं विदधदन्तःकरणम्। – ई.प्र.वि., २, पृ. ४३

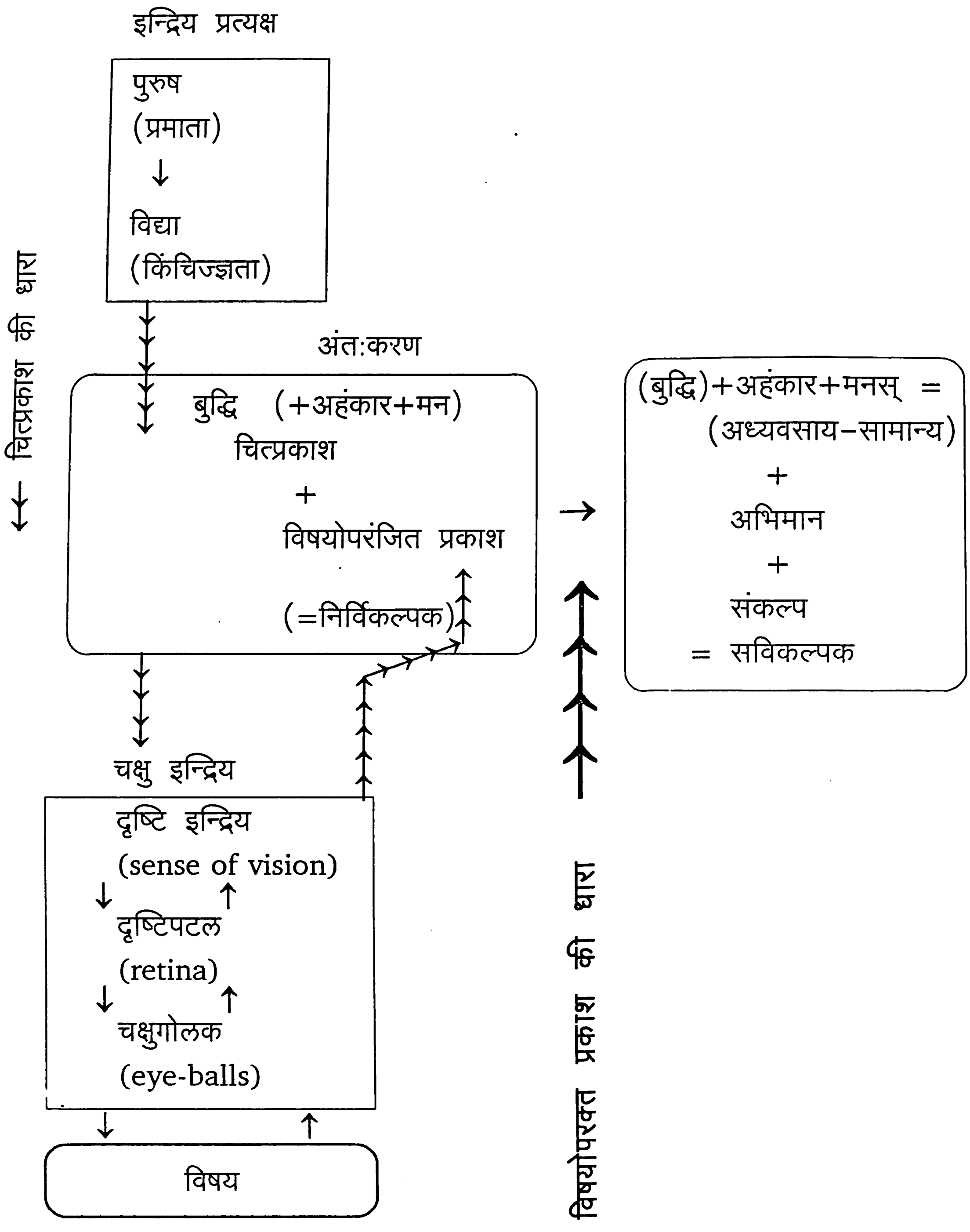
८८. विविधत्वेन च शंकितस्य कल्पः अन्यव्यवच्छेदनं विकल्पः। – तदेव, १, पृ. २४०; द्र. अभि., पृ. ४०८

८९. तेषामपि आभासानां यथोचितं यत् अन्योन्यनान्तरीयकत्वं तदेकेन संवेदनरूपेण तदनेकप्रमिता–भासविषयपूर्वप्रवृत्तसंवेदनकलापानुप्राणकान्तर्मुखरूपेण निश्चीयते। – तदेव, २, पृ. ११२; द्र.अभि., पृ. ४०९

९०. दृष्टमपि निर्विकल्पकेन, यावन्न परामृष्टं विमर्शविशेषविश्रान्त्या, तावन्न स्मर्यते मार्गदृष्टमपि तृणपर्णादिविशेषरूपेण। – तदेव, १, पृ. १४१–४२; द्र. अभि, पृ. ४०९; प्रत्यक्ष–प्रक्रिया के प्रतिपादन में मेरी समझ मुख्यतः मेरे गुरु कां.च. पांडेय से प्रभावित रही है।

प्रत्यक्ष प्रक्रिया के समझने में निम्नांकित सारणी–चित्र से सहायता मिलेगी

[सारणी चित्र–५]



मानस प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष का दूसरा भेद है मानस प्रत्यक्ष।[९१] अंत:करण द्वारा साक्षात् ज्ञान मानस प्रत्यक्ष है जो मन के व्यापार की प्रधानता के कारण इस नाम से ख्यात है।[९२] मन का अर्थ हमें अंत:करण से लेना चाहिए, इसलिए और भी कि उन तीनों का व्यापार समवेत होता है।[९३] स्वप्न, कल्पना, भ्रम आदि के विषय भी मानस होते हैं, पर वे प्रत्यक्ष नहीं कहे जाते, क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष का साक्षात्कारित्व व्यापार नहीं होता।[९४] इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर विषयों का भी विभाजन किया जाता है। बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के विषय नीलादि बाह्य कहलाते हैं। एक प्रकार से ये उभयेन्द्रियवेद्य होते हैं, पर अन्त:करण का व्यापार इन्द्रियव्यापार का सहकारी या उपसर्जनीभूत होता है। बाह्यप्रत्यक्षता के कारण ये बाह्य कहे जाते हैं।[९५] जबकि अंतरिन्द्रिय के विषय एकेन्द्रियवेद्य होते हैं और इस अंत:करणैकवेद्यता के कारण आंतर कहलाते हैं।[९६]

यद्यपि साक्षात्कारित्व को प्रत्यक्ष का लक्षण माना गया है, पर जहाँ तक ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का प्रश्न है, वहाँ इन्द्रियसंन्निधान उसका मुख्य उपादान है। प्रश्न है कि यदि अंत:करण भी इन्द्रिय है तो वहाँ अक्षसामक्ष्य या इन्द्रियसंन्निधान की क्या स्थिति होगी। अभिनव का पहला उत्तर तो यह है कि सुख, दु:ख केवल मनोविषय ही नहीं हैं, वे मनोनिष्ठ

---

९१. बौद्धों के मनोविज्ञान या मानस प्रत्यक्ष से शैव अवधारणा नितान्त भिन्न है। वहाँ इन्द्रियज्ञान के विषय–क्षण से उत्पन्न द्वितीय क्षण (उपादेय क्षण) को मनोविज्ञान का विषय कहा गया है। यह मनोविज्ञान आंख का व्यापार समाप्त हो जाने पर ही प्रमाण माना जाता है : एतच्च मनोविज्ञानमुपरतव्यापारे चक्षुषि प्रत्यक्षमिष्यते। (न्या.बि.टी. १/९) धर्मोत्तर के कथन से लगता है कि इसकी मान्यता को लेकर विवाद था : एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धं मानसं प्रत्यक्षम्। न त्वस्य प्रसाधकमस्ति प्रमाणम्। (तदेव) मानस प्रत्यक्ष का समकक्ष उनका स्वसंवेदन या आत्मसंवेदन नाम प्रमाण कहा जा सकता है। क्योंकि सुख दु:ख आदि मनोभावों का आत्मसंवेदन माना गया है। परन्तु आत्मसंवेदन का अर्थ है, मन:स्थितियों का स्वयं आत्म–संवेदन – उसमें अंत:करण की करणतया कोई उपयोगिता नहीं है : सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्। (न्या.बि. १/१०)

९२. सुखादिसंवेदने अन्तरिन्द्रियमन:कृते सुखादिज्ञाने। – भा., २, पृ. ८३

९३. अन्त:करणेन (एकवचन पर ध्यान दें) संकल्पिताभिमतनिश्चितरूपा:। – ई.प्र.वि., २, पृ. २४२

९४. प्रत्यक्षव्यापारमनुपजीवन्। – ई.प्र.वि., १, पृ. ३३८

९५. नीलादीनामवभासानाम् आन्तरत्वमप्यस्ति अंत:करणमध्ये भवत्वात्, [.....] बाह्यत्वं च केवलं बाह्यप्रत्यक्षता। – तदेव, पृ. ४१०

९६. नीलाद्याभासा: बाह्यकरणगोचरीभूता: सुखदु:खप्रायास्तु [.....] अन्त:करणैकगोचरीभूता:। – ई.प्र.वि., १, पृ. ४१९–२०; आन्तरं तु सुखादि स्यान्मनोविषयभावत:। – चि.अ.शा., १/१७३

भी हैं, उनका अवस्थान भी मन में है। अत: अंतरिन्द्रिय का मनोविज्ञान से सामक्ष्य या संन्निधान मनोभूमि में होने में कोई कठिनाई नहीं है। वहाँ प्रत्यक्ष के विषय बाह्यात्मना प्रकाशित न होकर अंतरात्मना प्रकाशित होंगे।[९७] फिर भी ग्राह्यतया प्रमाता से विच्छिन्नतया भासन के कारण उनकी तात्त्विक बाह्यता बनी रहेगी। उत्पल और अभिनव का दूसरा उत्तर न केवल मौलिक है, बल्कि क्रान्तिकारी भी है। गाढोल्लेख अर्थात् बार–बार आवृत्ति और गहरे मनोऽभिनिवेश के कारण सुख, दु:ख आदि हों या उसके बाह्यविषय हों, बाह्यतया अनुपस्थित रहने पर भी, उनका प्रत्यक्षतया स्फुट बोध होता है अर्थात् विषय के मानसिक निर्माण से उनका संन्निधान या सामक्ष्य भी उसी प्रकार निर्मित होता है।[९८] अभिनव कार्यकारणभाव के प्रसंग में भी सुखादि की सृष्टि (निर्माण) को अंत:करणैकवेद्यता के अर्थ में ही लेते हैं।[९९]

उत्पल अपनी इस उपस्थापना को आगे बढ़ाते हैं। प्रगाढ़ अविच्छिन्न अन्तर्विकल्पन में स्फुरित होने वाले सुख आदि का बाह्य प्रकाशन ऐसे होता है जैसे हम साक्षात् अपनी आंखों से उसे देख रहे हों। इसे वह प्रमाता के स्वातन्त्र्य से घटमान सांकल्पिकी सृष्टि कहते हैं।[१००] अपनी वृत्ति में सुख, दु:ख आदि की सूची में वह लज्जा आदि चित्तवृत्तियों को भी जोड़ लेते हैं। चाक्षुष रूप आदि की भांति इनके बाह्य प्रकाश को वह बौद्ध प्रकाश के शब्दों में अस्तित्व के कोटिगत रूपान्तरण के द्वारा व्यक्त करते हैं और बौद्ध प्रकाश का अर्थ साक्षात्कारित्व–रूप लेते हैं।[१०१] कारिका और वृत्ति को साथ–साथ पढ़ने पर उत्पल

९७. यह उत्तर शैवों में अभी तक मुझे शब्दश: नहीं मिला है, परन्तु तंत्रालोक में अन्तिकस्थस्वकतादृगिन्द्रिय (३/४१) और स्पर्श आदि की देह के आभ्यन्तर स्पर्शस्थान (तदेव ३/४०) में स्थिति के संज्ञान–क्षेत्र का अतिदेशन करते हुए यह निष्कर्ष निकालना असाध्य नहीं होना चाहिए।

९८. यदा तु विकल्पेन तानि वस्तूनि गाढम् उल्लिखति तदा पौन:पुन्यविशिष्टसुखतद्धेतूल्लेखना–भिधानकारणाभासानुप्रवेशात् [.....] सुखी अहम् इत्यादिकेन स्थिति: भवति इति संभाव्यम्। – ई.प्र.वि., १, पृ.४०७; ध्यान में रखना है कि विकल्प ('विकल्पेन') मन का व्यापार है।

९९. सुखादीनाम् अन्त:करणैकवेद्यतापादनमेव निर्माणम्। – तदेव, २, पृ. १५७

१००. उल्लेखस्य सुखादेश्च प्रकाशो बहिरात्मना।
इच्छातो भर्तुरध्यक्षरूपोऽक्षादिभुवां यथा।। – ई.प्र.का. १/८/९ ('ऽक्ष्यादिभुवां' पाठान्तर भी मिलता है, पर अर्थ में परिवर्तन नहीं होता।)

१०१. उल्लेखसुखलज्जादीनां, चाक्षुषरूपादीनामिव, ईश्वरस्य शक्त्या साक्षात्करणरूपो बौद्ध: प्रकाश:। – वृत्ति (१/८/९) यहाँ पर शंका संभव है कि सुख आदि का ग्रहण मन करता है और निश्चय बुद्धि, अत: मानस प्रकाश के स्थान पर बौद्ध प्रकाश कहना विचित्र है। शैवों के लिए प्रकाश या ज्ञान निश्चयपर्यन्त होता है, अत: बुद्धिगत निश्चय में विश्रान्त प्रकाश को बौद्ध प्रकाश कहने में कोई

का एक और चामत्कारिक विन्यास देखने को मिलता है। 'यथा' शब्द के द्वारा वह बाह्य प्रत्यक्षविषयों के प्रत्यक्ष और गाढसंकल्पोल्लिखित विषयों के साक्षात्कार में दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव का आसूत्रण करते हैं। अभिनव उत्पल के इस संकेत को पकड़ने में चूकते नहीं। दोनों प्रत्यक्षों, बाह्यप्रत्यक्ष और बौद्ध प्रकाश, में बाह्यता उनकी 'ग्राह्यता' में, अर्थात् ग्राहक (प्रमाता) से विषय के भिन्नतया(विच्छिन्नतया) भासित होने में, है। इस उपपत्ति के साथ अभिनव के लिए भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित दु:खसुखात्मक रति, निर्वेद आदि स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव सभी अन्त:करणैकवेद्य बनकर बाह्यरूप से प्रकाशित होते हैं। नाट्य के आस्वाद्य पक्ष का निर्माण इसी से होता है।[१०२] अभिनव यह भी इंगित करने से नहीं चूकते कि मायिक प्रमाता का व्यापार भी वस्तुत: उसकी देह तक व्यापने वाली ईश्वर की इच्छा ही है, जो प्रमाता के कल्पित होने के कारण इतनी शुद्धता से अनुभूत नहीं होती, परन्तु चित्परमार्थता का परमार्थत: तिरस्कार संभव न होने के कारण रहती उसी की है।[१०३] इसीलिए रसानुभव को पारमार्थिक अनुभव का सहोदर माना जाता है। केवल इतना ही नहीं, सारा रसानुभव या नाट्यानुभव साक्षात्कारकल्प मानस अध्यवसाय या अनुव्यवसाय के रूप में गृहीत होता है। अभिनवभारती में अभिनव इसका खुलकर विशदन करते हैं।[१०४]

बौद्ध प्रकाश के इस परिकल्पन में उसकी प्रमाणरूपता का अपलाप नहीं होता, अभिनव इसे यत्नपूर्वक बताते हैं। गाढ़े संकल्प के भीतर भासित विषय में एक प्रकार से बाह्य वस्तु की अपेक्षा करते हुए प्रमाता बोधगत आकार का ही मुख्य रूप से विमर्शन करता है। विमर्शन का आकार होता है:मेरी इस समय इस प्रकार की प्रकाशात्मक स्थिति है। उस समय बोधरूपी दर्पण में प्रतिबिम्ब का अर्पक होकर भी आभास बोध से अभिन्न ही

विसंगति नहीं होती : निश्चयपर्यन्तो हि प्रकाश: तत् निश्चये बौद्धे तद्विश्रान्तशरीर: प्रकाशो बौद्ध इत्युक्तोऽपि न विशेषम् अन्यथाभावं प्रसञ्जयति।- ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ४३०-४३१

१०२. सुखदु:खप्रायास्तु भरताद्युक्तरूपा: स्थायिव्यभिचारिरूपा रतिनिर्वेदादयोऽन्त:करणैकगोचरीभूता बहिरात्मना भान्ति। - ई.प्र.वि.,१ , पृ. ४१९-४२०

१०३. सङ्कल्पेषु यद्यपि क्षेत्रज्ञस्यैव स्वातन्त्र्यम् तथापि चित्परमार्थताया न्यग्भावयितुम् अशक्यत्वात् ईश्वरस्य तत् वस्तुत: [.....] तस्मात् साङ्कल्पिकानामपि बहिर्भावे परमेश्वरेच्छैव हेतुरिति सिद्धान्त:। - तदेव, पृ. ४२०-४२१

१०४. (अ) स च साक्षात्कारस्वभावो मानसोऽध्यवसायो वा सङ्कल्पो वा [.....]। - अभि.भा, १, पृ. २८७

(ब) परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्प: काव्यार्थ: स्फुरति। - तदेव, पृ. २८७

(स) काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय:। - तदेव, पृ. २९१

यहाँ (ब) (स) दोनों स्थलों पर 'कल्प' शब्द में उत्पल की 'यथा' की छवि स्पष्ट है।

रहता है। ऐसे आभास विषयक बोध में स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष ही होता है। पहले तो प्रत्यक्ष से 'विषय जाना' यह विमर्श हुआ था, अब उस अर्थ का जो होना हो, हो 'मैं इस प्रकार आभासमय होकर प्रकाशित हो रहा हूँ', यह विमर्श अपूर्वतया, अनधिगतपूर्वतया ही होता है।[१०५] इसी बात को प्रकारान्तर से बताने के लिए उत्पल से संकेत लेते हुए अभिनव बोधलग्न बोधप्रतिबिम्बित आभासों को उपचारत: विषयी कहते है। उनका यह विषयिभाव प्रमाणतया नहीं है (इसीलिए हमने 'उपचारत:' का प्रयोग किया है) अपितु प्रमाता की अहंता से एकरस होने के कारण है, अन्यथा तो वे विषय ही हैं। विशेष ध्यान की बात है कि यहाँ उन विषयों की अर्थक्रिया को प्रकाशमात्ररूपा कहा गया है।[१०६]

मानस प्रत्यक्ष के भी दो आयाम हैं निर्विकल्पक और सविकल्पक। बुभुक्षा आदि इच्छात्मक चित्तवृत्तियों का पहले अविकल्प मानस प्रत्यक्ष होता है और फिर 'बुभुक्षेयम्' (यह भूख है)[१०७] इस प्रकार का सविकल्पक मानस प्रत्यक्ष होता है। यहाँ तक कि शिव का भी मानस प्रत्यक्ष माना गया है, किन्तु वहाँ यह मानसगोचरता वृत्तिजन्मा नहीं है, शक्तिजन्मा है। अत: शिव का मानस बोध में उपलब्ध होना प्रमाणक्षेत्रीय व्यापार नहीं है। बुभुक्षा यहाँ सारी चित्तवृत्तियों का उपलक्षण है। मानस विकल्प को शैव निर्विषय वस्त्वसंस्पर्शी नहीं मानते। क्षुधा आदि का प्रथम बोध अनुभवात्मक या निर्विकल्पक होता है और सविकल्पक वस्तुनिष्ठितात्मक होता है।[१०८]

योगिप्रत्यक्ष

योगिज्ञान की स्वीकृति यद्यपि भारतीय दर्शन का सार्वत्रिक स्वभाव है (चार्वाक अपवाद है), प्रत्यभिज्ञा दर्शन में इसका कुछ विलक्षण महत्त्व है। शिव की तुलना योगी

---

१०५. पूर्वं हि अर्थ: प्रत्यक्षेण गृहीत: इति विमृष्टम्, अधुना तु अर्थस्य यत् वर्ततां तत् वर्तताम् अहमित्थमाभासमय: प्रकाशे इति अपूर्वतयैव विमर्श:। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ४३१

१०६. सुखादीनां च प्रकाशमात्ररूपैव अर्थक्रिया। [.....] ते हि बोधलग्ना: बोधप्रतिबिम्बिता आकारा: [.....] न बोधात् तत्त्वतोऽन्ये इति प्रमाणतया विषयित्वम् एषां न उचितम् [.....] संस्कारचित्ते प्रमातरि तु अहन्तैकरसा: सन्तु सर्वत्र सर्वे विषयिण:। – तदेव, पृ. ४१४–४१५

१०७. बुभुक्षादीनां प्रथमविकल्पकमानसप्रत्यक्षविषयत्वमप्यस्ति अन्यथा तत्पृष्ठपातिनो 'बुभुक्षेयम्' इति विकल्पस्य उदयो न स्यात्। [.....] एवं शिवोऽपि मानसप्रत्यक्षगोचरो भवत्येव, किन्तु शक्तिद्वारेण इति विशेष:। – तं.वि., २, पृ. ११८–११९

१०८. क्षुधाद्यनुभवो यत्र विकल्पस्तत्र नो भवेत्।
वस्त्वाश्रयो विकल्पोऽपि तद्वस्तु घटवन्न च।।
विकल्पो मानस: सूक्ष्म: [.....]। – जयरथ द्वारा किरणागम से उद्धृत : तं.वि., २, पृ. ११९; यहाँ पर विकल्प से तात्पर्य निर्विकल्पपृष्ठभावी विकल्प से है। – तं.वि., २, पृ. १२०

से की गई है, फलतः कारणता के क्षेत्र में योगिसृष्टि और ज्ञान के संदर्भ में योगिप्रत्यक्ष का इस दर्शन में पारमार्थिक ऐश्वर्य और पारमार्थिक बोध की इसी जीवन में प्राप्ति के लिए अप्रत्याख्येय और सर्वजनसंवेद्य युक्ति के रूप में विनियोग हुआ है। शुद्ध प्रमाताओं और योगिज्ञान को समकक्ष्यतया देखा जाता है। इस दृष्टि से योगिप्रत्यक्ष का महत्त्व यहाँ काफी बढ़ जाता है।

साक्षात्कारित्व = स्फुटाभासमानता

योगिप्रत्यक्ष इन्द्रियव्यापार निरपेक्ष ज्ञान है। इसका अर्थ है कि विषय-सन्निधान को योगी को होने वाले साक्षात्कार का नियामक नहीं माना जाता है। अतीत, अनागत, सूक्ष्म विषय, ब्रह्मलोक, परचित्त आदि योगिज्ञान के विषय हैं।[१०९] एक शब्द में कहा जाए तो परोक्ष विषय में योगिप्रत्यक्ष की प्रमाणता मानी गयी है।[११०] योगी का ज्ञान सामान्य प्रत्यक्ष से मौलिक रूप से भिन्न होता है, इसकी चेतना शैवों को बहुत पहले से रही है। विज्ञानभैरव इस ज्ञान को 'ग्राह्यग्राहक के संबंध-ग्रहण में सावधानता' कहकर निरूपित करता है।[१११] इस सावधानता के प्रत्यय को स्पन्दकारिका 'सावधान चित्त में होने वाले बोध की स्फुटता या स्फुटतरता' की भाषा में प्रकट करती है।[११२] इससे प्रेरणा लेते हुए साक्षात्कारित्व लक्षण को अभिनव स्फुटाभता या स्फुटभासमानता के प्रत्यय में परिघटित करते हैं। स्फुटाभ ज्ञान से अभिप्राय समाधि एवं चित्त की एकाग्रता से होने वाले उस ज्ञान से है जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य का स्फुट अर्थात् आंखों-देखे जैसा ज्ञान होता है। वस्तुतः कालोत्तीर्ण योगिज्ञान में कालगत विभाग नहीं होता। अतः अतीत और अनागत वस्तु के साक्षात्कारी ज्ञान का अर्थ उनकी अतीतवस्तुतया या अनागतवस्तुतया वर्तमान में संभावना से नहीं है, उनका केवल वस्तुतया स्फुट बोध होता है।[११३] ऐसी स्थिति में, जहाँ योगी का देह से संबंध

१०९. अतीतानागतसूक्ष्मादि यथा योगिज्ञाने विषयीभवति इति अभ्युपगतम्, तथा परचित्तमपि। – ई.प्र.वि., १, पृ. १७२

११०. उपर्युक्त उद्धरण में 'अतीतानागतसूक्ष्मादि' में 'आदि' का अर्थ भास्कर लेते हैं विप्रकृष्ट : आदिशब्देन विप्रकृष्टादेर्ग्रहणम्। – भा.,१, पृ. १७२

१११. ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं संबंधे सावधानता।। – वि.भै. १०६

११२. यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि।
भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः।। – स्प.का. ३/४

११३. यद्यपि योगी का ज्ञान कालोत्तीर्ण होता है, फिर भी यदि योगी में कालस्पर्श माना जाए तो उसकी प्रमातृता के अपरिमित और असंकुचित होने के कारण अशेष प्रमेयगत ज्ञान में कालस्पर्श मानना होगा, परन्तु तब इस काल का रूप नित्यप्रवृत्त वर्तमानता के उद्रेक जैसा होगा और योगिज्ञान को

छूटा नहीं है, वहाँ भी उस समय 'अतीत वस्तु' 'अनागत वस्तु' के रूप में भी साक्षात्कारी बोध संभव है।[११४] स्मृति के प्रसंग में उत्पल ने इस प्रश्न को उठाया है। आगमवित् स्मृति को मन्त्रों का प्राण और ध्यान आदि का मूल मानते हैं।[११५] इसी दृष्टि से उत्पल अतिशय और निरन्तर अवहित चित्त वालों के लिए स्मृति में भी 'देखे गए' अर्थ का प्रत्यक्षीकरण मानते हैं।[११६] प्रश्न है कि क्या 'देखे गए अर्थ' का यह प्रत्यक्ष साक्षात्कारी योगिप्रत्यक्ष माना जाएगा, क्योंकि यहाँ 'संवेदनांश' में प्रत्यक्षता है ही, भले ही विषयांश में 'दृष्टता' (अतीतवस्तु) हो। अभिनव इसे प्रत्यक्ष नहीं मानते, प्रत्यक्ष यह तभी होता जब 'देखे गए' (दृष्ट) के स्थान पर 'दिख रहे' (दृश्यमान) का अवधानात्मक प्रत्यक्षीकरण होता। मित योगी की दृष्टि से, जैसा अभी ऊपर देखा है, भले ही इसे प्रत्यक्ष कह लें, किन्तु वास्तविक योगी की दृष्टि से, अभिनव का स्पष्ट मानना है, कि इसे प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। वस्तुतया या दृश्यमानतया ही प्रत्यक्ष योगी का साक्षात्कारी ज्ञान माना जाएगा। यहाँ अभिनव एक बात और कहते हैं कि स्फुटाभासता का विषय वस्तुत: प्रमेय है, वस्तु है, क्योंकि उसका सर्वसाधारण्य से भासन होता है।[११७] इस अर्थ में स्फुटाभासमानता रूप योगी का साक्षात्कारी ज्ञान प्रामाणिक ज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है।

परचित्त–ज्ञान का द्वार परात्मतापत्ति

यहाँ तक कोई समस्या नहीं है, किन्तु योगी को जो दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है, उसमें दो कठिनाइयाँ उठती हैं। एक तो, योगिज्ञान से दूसरे व्यक्ति के ज्ञान का ज्ञान (परचित्तज्ञान) ज्ञानान्तरावेद्यता के सिद्धान्त का अपलाप करता है और दूसरे, अन्य व्यक्ति

इसी काल के संदर्भ में समझना होगा : सर्वज्ञानामपि कालस्पर्शे तत्प्रमातृतासङ्कोचादशेषप्रमेय–निष्ठमपि ज्ञानं कालस्पृष्टमेव, यदि परं नित्यप्रवृत्तवर्तमानतोद्रेकेणैव तेषां ज्ञानं व्यवह्रियते। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १०६

११४. इस प्रतिपत्ति का आधार अभिनव द्वारा उपस्थापित 'विवृत्ति' के 'योगिनां' पद (ई.प्र.का. २/१/४ पर) की व्याख्या है। अभिनव का निष्कर्ष है : एतदुक्तं भवति योगिनोऽपि सर्वदा परित्यक्तमायाप्रमातृपदस्य को नाम अतीतादिभेद:। [.....] तदपरित्यागे च देहाभासेन समाधानकालभाविना सह तस्य ग्राह्याभासस्य उक्तस्थित्या संभवत एव आभासानाभासौ इति कथं वर्तमानता। [.....] अतीतग्रहणं भाविनोऽपि उपलक्षणम्। – ई.प्र.वि.वि.,३, पृ. १९

११५. आगमिका: स्मरणमेव मन्त्रादिप्राणितं मन्यन्ते। तथा च "ध्यानादिभावं स्मृतिरेव लब्ध्वा चिन्तामणिस्तद्विभवं व्यनक्ति"। – ई.प्र.वि., १, पृ. १५४

११६. तथैव अतिशयनिरन्तरावहितचेतसस्तु दृष्टार्थप्रत्यक्षीकार एव। – वृत्ति १/४/२

११७. अत्यन्तस्फुटीभावेऽपि तदानीन्तनकालता न त्रुट्यति अन्यसाधारण्यानवभासात्, तथावभासे तु योगिनस्तन्निर्माणमेव। – तदेव, पृ. १६०

के चित्त और तद्गत वस्तुओं का बोध स्फुटाभ कैसे होगा। (इससे एक तीसरी विप्रतिपत्ति भी उठ खड़ी होगी कि साक्षात्कारिता के अभाव में योगिज्ञान की निर्विकल्पकता कैसे सधेगी?) उत्पल इसका समाधान यह ढूंढते हैं कि योगी अपने स्वाभाविक सामर्थ्य से दूसरे के साथ तादात्म्य कर लेता है। इस परात्मतापत्ति के द्वारा अर्थात् परचित के साथ अभेदन द्वारा दूसरे चित्त के विषय योगी के अपने वेद्य बनकर – स्वात्मारूढ होकर – ही भासित होते हैं[११८], अत: स्वसंवेदनवेद्य होने के कारण न तो ज्ञान से ज्ञानान्तर के वेदन की समस्या खड़ी होती है और न ही स्फुटाभता भङ्ग होती है।[११९] अभिनव इसे योगिगत अपने विभाजन का आश्रय लेकर कुछ अधिक विस्तार में जाते हैं। दो प्रकार के योगी हैं : एक, जिनका स्व–परविभागबोध विगलित नहीं हुआ है और दूसरे, पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए प्राप्तप्रकर्ष सबको अपने से अभिन्न देखने वाले। पहली स्थिति में योगी के स्फुटाभ प्रत्यक्ष के आकार में परनिष्ठता भी संवेदनाङ्गतया भासित होती है 'इस देहप्रकाश के साथ होने वाला यह घटप्रकाश है, वह सुखादिप्रकाश है'। घट, सुख आदि विषय इदन्तया और इनका ज्ञान स्वप्रकाशतया भासित होता है। दूसरी स्थिति में समस्त वेद्यजगत् आत्मसृष्ट ही प्रतीत होता है।[१२०]

भावनाप्रकर्ष की बौद्ध धारणा का प्रभाव

ऐसा लगता है कि साक्षात्कारिता का स्फुटभासमानता या स्फुटाभ ज्ञान के रूप में परिकल्पन अभिनव बौद्धों से, विशेषत: धर्मकीर्ति से, लेते हैं यहाँ तक कि शब्दावली

---

११८. सर्वज्ञानामपि प्रमात्रन्तरगतोपलम्भा: स्वसंविन्मात्रवेद्यस्वभावा: स्वात्मारूढा एव भासरेन्, अतश्च तेषां योगिनां परात्मतापत्तिरेव तत्त्वम्। – वृत्ति १/४/३

११९. कथं परचित्तज्ञानं स्फुटाभं प्रकाशते [.....] 'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानं संयमात्' (यो.सू..३/१९ : यहाँ 'संयमात्' व्यासभाष्य का अङ्ग है) इति न्यायेन धारणाध्यानसमाधिबलात् परचित्तेन सह अभेदं यदा भावयति, तदा वस्त्वनुसारेण सा भावना, तथा वस्तुता ऐक्यात् [.....] स्फुटाभं परचित्तं प्रकाशते। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. २२७; यहाँ पर पंतजलि के जिस सूत्र को अभिनव उद्धृत करते हैं, उसके अनुसार यह ज्ञान भी साक्षात्कारकरण रूप है : प्रत्यये संयमात् साक्षात्करणात् तत: परचित्तज्ञानम्। (यो.सू. ३/२० पर व्या.भा.)। अभिनव से अंतर यह है कि यहाँ परचित्त योगी के ज्ञान का विषय है अर्थात् ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य है और दूसरे परचित्त के विषय योगिप्रत्यक्ष के विषय नहीं बनते : परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद् योगिचित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रन्तु योगिचित्तस्य आलम्बनीभूतम् इति। – व्यासभाष्य (यो.सू. ३/२०)

१२०. प्रमात्रीकृतपरदेहप्राणादिसमवभाससंस्कारात् तु तन्निष्ठाम् इदन्ताम् एव प्रकाशभागेऽपि मन्यमान इदं परज्ञानम् इति अभिमन्यते अविगलितस्वपरविभागो योगी। प्राप्तप्रकर्षस्तु सर्वम् आत्मत्वेन पश्यन् स्वसृष्टमेव स्वपरविभागं मन्यते इति ज्ञानस्य न योगिज्ञानेन प्रकाश्यता।–ई.प्र.वि.,१, पृ. १७५–१७६

तक धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर से ली गयी है। भावना- प्रकर्ष से योगी के ज्ञान को स्फुटाभ कहा गया है : विद्यमान वस्तु की भांति भाव्यमानविषय के स्फुटतर आकार को ग्रहण करने वाला ज्ञान योगी का प्रत्यक्ष है। यहाँ वस्तु हाथ में रखे आंवले की तरह प्रत्यक्ष दिखाई देती है। यहाँ साक्षात्कार विषय से उत्पन्न नहीं होता, अपितु स्फुटाभता का कारण भावना का प्रकर्ष है। और, यही स्फुटाभता उसकी निर्विकल्पकता का कारण है।[१२१] इसकी तुलना में सविकल्प को अस्फुटाभ कहा गया है क्योंकि वह असन्निहित या अविद्यमान वस्तु का ग्रहण करता है। स्फुटता के प्रत्यय का उपयोग इन्द्रिय व्यापार के अभाव को बताता है। शैवों से अंतर यह है कि यहाँ योगिज्ञान निर्विषय नहीं है और प्रमाण द्वारा निश्चित अर्थ का ग्रहण कराने के कारण अभ्रान्त या संवादक है।[१२२] भूत अर्थ से धर्मोत्तर यही अर्थ लेते हैं – सद्भूत अर्थात् विद्यमान अर्थात् प्रमाण से परीक्षित (दृष्ट) अर्थ। दो प्रकार के विग्रह **(प्रमाणेन शुद्धम् अर्थम्; प्रमाणेन, शुद्धम् अर्थम्)** से क्रमशः आर्यसत्य और स्वलक्षण को सद्भूत विद्यमान अर्थ माना गया है। शैवों में विद्यमान अर्थ के स्थान पर परोक्ष विषयों को योगिप्रत्यक्ष का विषय माना गया है, विद्यमान या वर्तमान को नहीं, अन्यथा वह साधारण प्रत्यक्ष का विषय बनेगा। प्राप्तप्रकर्ष योगी में सब कुछ आत्मत्वेन गृहीत होता है, वेद्य का अस्तित्व वेत्ता से अतिरिक्त नहीं होता। वस्तुतः देखा जाए तो स्फुटाभता के रूप में योगिप्रत्यक्ष योगिसंवित् की अतिशय निर्मलता, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं, का ही प्रसार है।

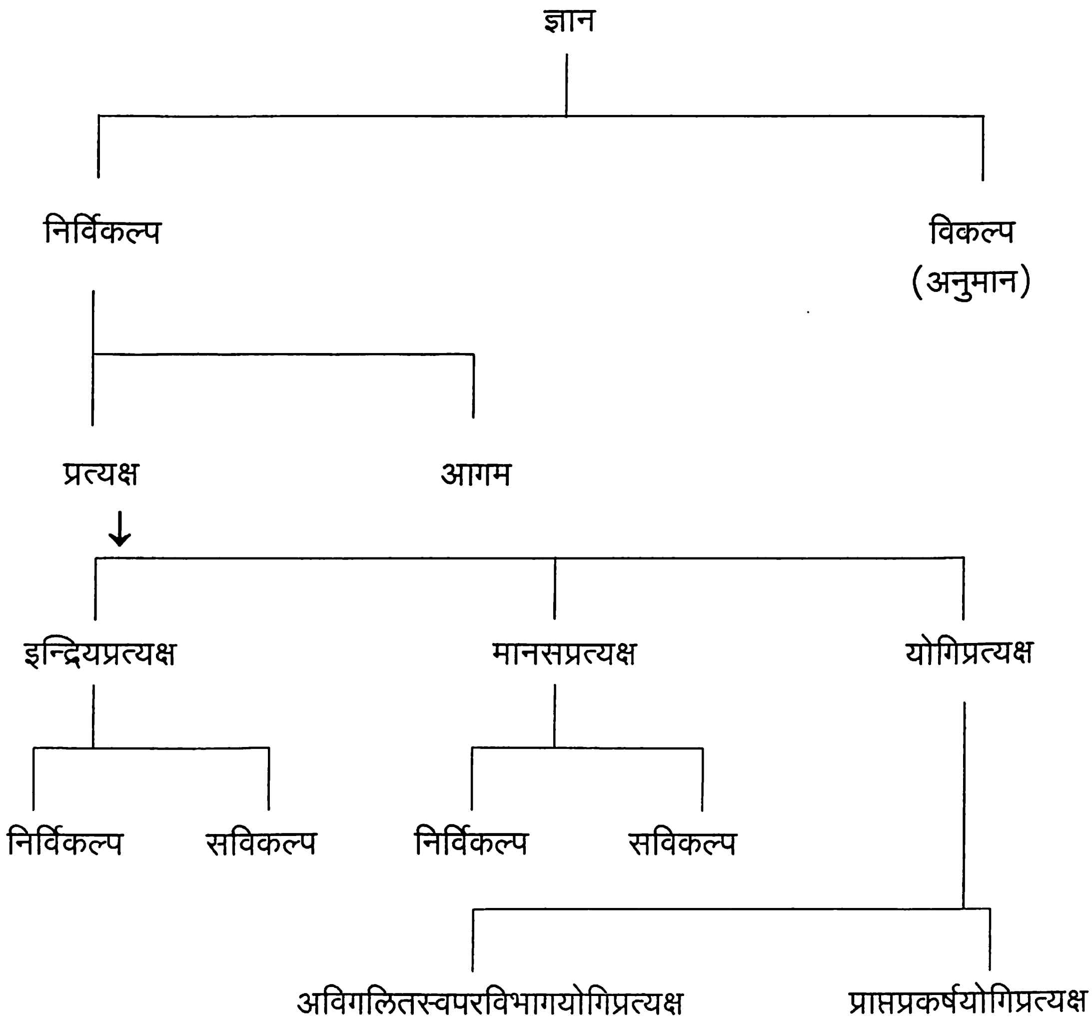
इस प्रकार अग्र पृष्ठांकित सारणी में हम प्रत्यक्ष प्रमाण के भेदों का विहंगम अवलोकन कर सकते हैं :

---

१२१. भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति। – न्या.वि. १/११
उस पर धर्मोत्तर की टिप्पणी है : करतलामलकवत् भाव्यमानस्य अर्थस्य यद्दर्शनं तद् योगिनः प्रत्यक्षम्। तद्धि स्फुटाभम्। स्फुटाभत्वादेव च निर्विकल्पम्। – (न्या.बि.टी. १/११)

१२२. अस्फुटाभत्वादेव च सविकल्पकम्। ततः स्फुटाभत्वान्निर्विकल्पकम्। प्रमाणशुद्धार्थग्राहित्वाच्च संवादकम्। – न्या.बि.टी. (१/११) । श्रीनिवास शास्त्री की टिप्पणियां द्रष्टव्य, न्या.बि.टी., पृ. ६५-६८

[सारणी - ६]


ज्ञान
निर्विकल्प
विकल्प
(अनुमान)
प्रत्यक्ष
आगम
इन्द्रियप्रत्यक्ष
मानसप्रत्यक्ष
योगिप्रत्यक्ष
निर्विकल्प
सविकल्प
निर्विकल्प
सविकल्प
अविगलितस्वपरविभागयोगिप्रत्यक्ष
प्राप्तप्रकर्षयोगिप्रत्यक्ष

अध्याय ६

अनुमान

प्रत्यभिज्ञा दार्शनिकों के प्रमाणचिन्तन की विशेषता है कि वे निरन्तर मौलिक अंतर्दृष्टियों की उद्भावना करते हैं। ज्ञान–व्यापार को त्रि–आयामी मानते हुए वे प्रमाणों का विभाजन भी उसी आधार पर करते हैं। वे तीन व्यापार हैं – साक्षात्करण, विकल्पन और शब्दन[1] और इन्हें क्रम से प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के स्वतन्त्र स्वभावों का निर्णायक माना जा सकता है। अभिनव अनुमान की इस विकल्पस्वभावता का सघोष उद्घोष करते हैं।[2] हमारे आगामी विवेचन के यह केन्द्र में रहेगा। कट्टर चिदद्वयवादी होने के नाते सारे प्रमाण–व्यापार को व्यवहार–साधन मानने पर भी यहाँ अनुमान का व्यवहार–साधनतया कुछ विशेष महत्त्व है। उत्पल के आदिश्लोक की व्याख्या में अभिनवगुप्त का सारा उद्यम इस बात पर केन्द्रित रहा है कि सारी ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका की परिकल्पना परार्थानुमान के रूप में हुई है।[3] वस्तुत: वे शास्त्र मात्र को, आगम को छोड़कर, परार्थानुमानरूप ही मानते हैं और इसमें वह गौतम के न्याय दर्शन को अपना मार्गदर्शक मानते हैं।[4]

---

१. यद्यपि इनकी अंतिम विश्रान्ति प्रकाश और विमर्श में होती है। साक्षात्करण प्रकाश में प्रकाशन के रूप में, और विकल्पन तथा शब्दन विमर्श में विमर्शन की ही विधा के रूप में। और भी गहरे विश्लेषण में शब्दन विकल्पन के मूल में पाया जाएगा। संभवत: यही कारण है कि ज्ञानाधिकार में जहाँ साक्षात्करण/प्रकाशन और विकल्पन/अपोहन का स्वतंत्र आह्निकों में निरूपण किया गया है, शब्दन की चर्चा उसे प्रकाशन का स्वभाव और विकल्प का मूल बताने के लिए ज्ञानशक्त्याह्निक में हुई है, अलग से नहीं। परन्तु इससे हमारी प्रकृत स्थापना अप्रभावित रहती है।

२. तत्र अनुमानं विकल्पः। – ई.प्र.वि.,१, पृ. २३१; तत्र अनुमानम् अनुमितिव्यापारो विकल्पात्मा। – तत्रैव

३. एवं विततविततपरार्थानुमानस्वभावे शास्त्रे। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. २०

४. परार्थानुमानात्मकं हि शास्त्रम्। तत्र च प्रमाणादिषोडशपदार्थमयत्वमेव परमार्थः। ...... – ई.प्र.वि., २, पृ. १४०

अनुमान : सापेक्ष और परोक्ष ज्ञान

अनुमान शब्द के दो घटक हैं, अनु और मान। सामान्यत: अनु को आनन्तर्यवाची या पश्चतावाची मानकर प्रत्यक्ष के बाद होने वाला ज्ञान माना जाता है। पर अभिनव अनु का अर्थ सादृश्य से लेते हैं – **'अनुगतं मानम्'** का अर्थ है = **प्रत्यक्षेण सदृशम्** (प्रत्यक्ष के सदृश)। यह सादृश्य व्यवहारप्रवर्तनात्मक प्रवृत्ति को लेकर है।[५] पंडित बलजिन्नाथ इस व्याख्या का अनुमोदन करते हैं।[६] मुझे लगता है कि सादृश्य की व्यंजना इससे कुछ अधिक होनी चाहिए, क्योंकि व्यवहार-साधन तो प्रमाण-मात्र का काम है। सादृश्य यह है कि जैसे प्रत्यक्ष प्रत्यक् स्थित पदार्थ का व्यवस्थापक है, उसी प्रकार अनुमान परोक्ष अर्थ का व्यवस्थापक है।[७] याद करें प्रत्यक्ष को अभिनव ने अर्थसामर्थ्य से घटित ज्ञान माना था। पर अनुमान में अर्थ का सामर्थ्य नहीं है, अर्थान्तर का सामर्थ्य है।[८] इस बिन्दु पर हम आगे चर्चा करेंगे। अर्थ की यह परोक्षता इन्द्रियासंनिधानजन्य है – चाहे देश की दूरी हो, इन्द्रियों का असामर्थ्य हो या सहकारी कारणसामग्री की अपूर्णता हो।[९] आगम भी परोक्ष अर्थ के विषय में होता है। पर वह परोक्षता अदृष्ट पदार्थ के विषय में होती है, जबकि प्रत्यक्ष और अनुमान की दृष्टविषयता होती है।[१०] प्रत्यक्ष के साक्षात्करण और अनुमान के विकल्पन व्यापार का यही प्रयोजक है। अनुमान प्रमाण की प्रत्यक्ष प्रमाण से सदृशता को उत्पल देव एक अन्य प्रकार से भी समझाते हैं। हमने देखा था कि प्रत्यक्ष व्यापार की कृतार्थता होती है एकात्मतापत्ति पर्यन्त अवभासन में – प्रमेय के प्रमात्मक अंत:विमर्श के माध्यम से प्रमाता के साथ ऐकात्म्य। अनुमान में भी अर्थ का प्रतिभास विमर्शमय ही होता है। विमर्श है : जैसे धूम में अग्नि का विमर्श होता है, वैसे ही इस ज्ञान के संस्कार से युक्त प्रमाता का भी विमर्श होता है कि इस धूम का अग्नि कारण है और धूम इसका कार्य है। इस प्रकार अर्थ को लेकर ज्ञानों का प्रकाशन-व्यापार प्रमाता और प्रमेय की एकात्मता के आपादन पर्यन्त चलता है, प्रकाशन का काम उनको पृथक्-पृथक् भासित करने से ही समाप्त नहीं हो जाता।[११]

---

५. अत एव हि मुख्यस्य मानस्य सदृशत्वत:।।
अनुमानमिति प्रोक्तं व्यवहारप्रवर्तनम्। – मा.वि.वा. १/७७१-७२

६. कोश, १, पृ. ४१६

७. 'व्यवतिष्ठते' इति परोक्षेऽर्थे ज्ञानमिति सिद्धान्त:। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८५

८. तदेव

९. दूरदेशविगुणेन्द्रियास्पष्टालोकादौ सति। – तदेव

१०. तदेव, पृ. ८३

११. एवं च विमर्शमय एवार्थप्रतिभास उपपन्न:। विमर्शश्च यथाऽग्निर्धूमे भवति, तथा संस्कृतस्य प्रमातुरस्य

अन्यनिरपेक्ष, स्वतन्त्र और अव्यवहित होने के कारण प्रत्यक्ष मुख्या वृत्ति से प्रमाण है, उसकी तुलना में अनुमान को सापेक्ष और परतंत्र कहा गया है।[१२] सापेक्षता और परतंत्रता को व्याप्ति-निर्माण में इसकी प्रत्यक्ष पर होने वाली निर्भरता का कारण माना जाता है[१३] – प्रत्यक्षमूलता अनुमान का प्राणधर्म है।[१४] अभिनव इस सापेक्षता को आगम तक ले जाते हैं। पदार्थों के पारस्परिक संबंध, अनुमान के संदर्भ में हेतु और साध्य का संबंध, न केवल प्रत्यक्ष से अपितु आगम की स्वरूपभूता प्रसिद्धि की पर्याय नियति से नियमित होते हैं, अतः वे ही अनुमान प्रमाण होते हैं जो नियति में मूलित हों। इस बिन्दु पर हमें यथाप्रसंग चर्चा का अवसर आगे मिलेगा। इससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सापेक्षता या परतन्त्रता अनुमान की प्रामाणिकता को चुनौती नहीं देती, वह केवल प्रमाणन-पद्धति की प्रक्रियागत पराश्रितता का उन्मीलन करती है और उसके स्वतन्त्र प्रामाण्य के क्षेत्र को परिभाषित करती है।[१५]

अनुमान की युक्तिरूपता

संप्रदाय में अनुमान के लिए अधिक प्रचलित शब्द युक्ति है। ऐसा लगता है कि अंग्रेजी के रीजनिंग (reasoning) या न्याय/तर्क (logic) शब्द के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। शैवों की प्रमाण परम्परा की 'तर्कस्य कर्तारः' विरुद से प्रसिद्धि को हम देख चुके हैं। अभिनव ने पर्यायभेद (स्वसंवित्, सत्तर्क, शास्त्र) से तंत्रालोक में जहां तीनों प्रमाणों का उल्लेख किया है,[१६] वहाँ जयरथ सत्तर्क का अर्थ युक्ति से लेते हैं।[१७] जयरथ से अभिनव

धूमस्य अग्निः कारणम् अस्य धूमः कार्यम् इत्यपि भवति इत्येवम् एकात्मतापत्तिपर्यन्तोऽवभासन-व्यापारोऽर्थेषु ज्ञानानां, न तु परस्परासंलग्नता प्रकाशमात्रात् परिसमाप्यते। – संबंधसिद्धि (का.ग्र.), पृ. ८

१२. सापेक्षं परतन्त्रं च पाशवं मानमुच्यते। – मा.वि.वा. १/७७६

१३. तत्प्रत्यक्षपरिच्छिन्नप्रतिबन्धनिबन्धनम्।........
तदावेशवशादेषा व्याप्तिर्बोधेऽवकल्पते।। – मा.वि.वा. १/७६९-७७१

१४. अनुमानं विकल्पः, सर्वश्च अयं विकल्पोऽनुभवमूल इति प्रसिद्धम्। – ई.प्र.वि., १, पृ. २३१

१५. (कार्यहेतुना तु अपूर्वं साध्यते इति) तत्रैव अनुमानस्य स्वतंत्रं प्रामाण्यम्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १६१-१६२

१६. स्वसंवित्सत्तर्कपतिशास्त्रत्रिकक्रमात्। – तं. १/१०६

१७. सत्तर्को: युक्तिः।–तं., २, १५०; जयरथ इसके ठीक बाद इसे दुहराते है : इह सर्वं स्वानुभवेन, युक्त्या, सामान्यागमेन, विशेषागमेन च, सिद्धमुपदिश्यते। – तत्रैव; तंत्रालोक में सत्तर्क (सन् तर्कः सत्तर्कः) को योग के सर्वोत्कृष्ट अङ्ग के रूप में विकसित किया गया है, फलतः सत्तर्क को युक्तितया प्रस्तुत करने से भ्रम हो सकता है। अतएव प्रसङ्गवशात् यह इंगित करना समीचीन

की ओर आने पर हम देखते हैं कि अभिनव युक्ति को अंततः अनुमान में पर्यवसित करते हैं – यह निष्कर्षण उन्हें युक्ति की मौलिक संरचना के अन्वीक्षण से मिलता है। दो अवयवों से युक्ति की संरचना होती है : औचित्य और योजना (जोड़ना)। संशय में 'ऐसा निश्चय उचित है', इस अर्थ में युक्ति का प्रयोग होता है। अर्थात् युक्ति में होने वाली योजना औचित्य प्रयुक्त है। प्रत्यक्ष से अर्थ साक्षात् अवभासित होता है वहां संशय नहीं है, अतः 'यह ठीक लगता है', 'यह उचित है' ऐसा कहना उचित नहीं होता। किन्तु जहाँ भी परोक्षता है – अनुमान की प्रवृत्ति परोक्ष अर्थ में होती है, यह हम देख चुके हैं उसी कारण से संशय की गुंजायश है – इसलिए वहां जो अर्थ का निश्चय या विषय भाव में ग्रहण है, वह 'युज्यते' कहा जाता है। जिस सामग्री से अर्थ के विषय–भाव की योजना होती है, उस युक्ति (अर्थात् योजना) को अनुमान का ही नाम देना होगा।[१८]

इससे अनायास ही हम इस प्रतिपत्ति पर पहुंचते है कि यहाँ अभिनव प्रत्यक्ष और अनुमान व्यापारों की मौलिक प्रकृति की भिन्नता को व्यक्त करना चाहते हैं। प्रत्यक्ष की प्रकृति है साक्षात्कारात्मक, जबकि युक्ति अर्थात् अनुमान की योजनात्मक जिसकी विकल्पन व्यापार से अंतरंगता या सोदरता स्पष्ट है। इस योजना का स्वरूप है एक विषय को लेकर अनेक प्रमाणों की योजना का।[१९] सविकल्पक प्रत्यक्ष की सविकल्पता का अध्ययन करते हुए हमने विकल्प के इस पक्ष की झलक देखी थी। वस्तुतः व्यवहार या प्रवृत्ति इस प्रमाण योजना के बिना संभव नहीं है, एक ही प्रमाण से प्रवृत्ति नहीं होती बल्कि प्रमाणसमूह से होती है। उदाहरण के लिए गन्ध से मिठाई की मिठास या स्वाद का आकलन कर हम उसे पाने में प्रवृत्त होते हैं।[२०] यह तो युक्ति का लौकिक पक्ष है। प्रमाण की दृष्टि

होगा कि सत्तर्क का विकास वहाँ शुद्ध, या कहें उत्कृष्टतम संस्कृत, विकल्प के रूप में होता है अर्थात् विकल्प शोधित होकर सत् बन जाता है। यही सत्तर्क में सत् विशेषण का अभिप्राय है। हमें याद रखना चाहिए कि अनुमान स्वभावतः विकल्पात्मा है।

१८. प्रत्यक्षेण हि [.....] अर्थः साक्षादवभासते। तत्र संशयाभावात् युज्यते इति न युज्यते वक्तुम्। यत्र हि परोक्षत्वं तत एव च संशयास्पदत्वम्, तत्र यो निश्चयो विषयभावोऽर्थस्य स युज्यते इति व्यपदिश्यते। [.....] अतो युज्यते यया सामग्र्या अर्थः सा युक्तिरनुमानमेव उच्यते। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ.८५–८६

१९. प्रमाणयोजनात्मिका समस्तव्यवहारोपयोगिनी युक्तिरुच्यते। तद्व्यापारविरहे प्रमाणान्यपि अकिंचित्कराणि। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ३६५

२०. (अ) नैकैकतः प्रमाणात् सा प्रवृत्तिः अपितु प्रमाणसमूहादेव। [.....] इयमेव सा प्रमाणानां योजना, योजिका च युक्तिरित्युच्यते। गन्धद्रव्ययुक्तिवत्। – ई.प्र.वि., २, पृ. ११५

(आ) तेन प्रमाणसमूहमयी एव युक्तिः प्रवृत्तौ प्रयोजिका इति स्थितमेतत्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १४८

से यदि हम अनुमान में देखें तो प्रत्यक्ष (हेतु) और अनुमान (साध्य) दोनों की योजना के बिना अनुमान की कल्पना नहीं की जा सकती। हेतु के स्वरूपनिर्णय में प्रसिद्धिरूप आगम का भी अपरिहार्य योगदान इसमें होता है। न केवल साक्षात् अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्राप्त प्रदत्तों की ही योजना होती है [अग्नि और धूम के पृथक् प्रत्यक्ष और उनके अन्वय सम्बन्ध तथा अनुपलम्भ से व्यतिरेक संबंध द्वारा (व्याप्ति-निर्माण)], अपितु स्मृति के द्वार से भी अनुभव की योजना (व्याप्ति-स्मरण) होती है। इस योजना की त्वरित सार्थकता वे अनुभव के फलक का देश और काल के वैतत्य में विस्तार के रूप में देखते हैं। इसके द्वारा अनुमान-व्यवस्थाप्य वस्तु देशकालसंकुचित ही नहीं होती, वह विततस्वभाववस्तु और विततकालवस्तु भी हो सकती है।[२१] इस प्रकार युक्ति का सामान्यीकरण करते हुए प्रमाणयोजनात्मक प्रमातृस्वातन्त्र्य के रूप में अभिनव उसका अपोद्धार (abstraction) करते हैं।[२२] प्रमातृस्वातन्त्र्य के रूप में यह अपोद्धरण उनकी साम्प्रदायिक चिन्तना के अनुगुण है। लोकजीवन में भी लोगों द्वारा युक्ति शब्द से वाच्य स्वातन्त्र्यपूर्वक उपाय योजना में इसे मुखरित पाते हैं, जैसे जब हम किसी से कहते हैं कि 'युक्ति से काम लो', 'युक्ति से मैं इस संकट से उबर गया हूँ'।[२३]

प्रश्न है कि यदि युक्ति अनुमान है तो इसे मुख्य प्रमाण क्यों नहीं माना जाता, यह अमुख्य क्यों है।[२४] इसका उत्तर अभिनव फिर से संरचनात्मक शब्दावली में देते हैं। अनुमान की अमुख्यता का कारण उसकी प्रामाणिकता को लेकर नहीं है, बल्कि हेतु को लेकर है। अनुमान का आधार लिङ्ग है। जिसे हम लिङ्ग के रूप में ग्रहण करते हैं, उसके स्वभाव का अवधारण बहुत कठिन है। कार्यरूप हेतु दो प्रकार का है – कार्य और स्वभाव। साथ ही इसका कारण पाँच प्रकार का है – कारण, संयोगी, समवायी, विरोधी और लैङ्गिक।[२५] यह कार्य है, यह इसका स्वभाव है, यह इसका कारण है, यह इसका संयोगी

---

२१. न केवलं साक्षादनुभवयोजनात्मिकैव युक्तिः, यावत् स्मृतिद्वारेण अपि अनुभवयोजनात्मिका सेति दर्शयता विततस्वभाववस्तु-व्यवस्थापनमिव विततकालवस्तुव्यवस्थापनमपि इत्थं युज्यते। – तदेव, पृ. १४२

२२. प्रमाणयोजनात्मकं प्रमातृस्वातन्त्र्यमेव युक्तिरिति प्रत्यभिज्ञाततत्त्ववित्। – तदेव, २, पृ. २०१

२३. यत्किञ्चिदपि अङ्गीकुर्वता अवश्यमेव पर्यन्ते प्रमातृस्वातन्त्र्यमेव ज्ञानक्रियाशक्तियोजनात्मकम् अङ्गीकर्तव्यम् इति असकृदुक्तम्। लोकेऽपि च उपाययोजनामेव स्वातन्त्र्योत्थापितं युक्तिरिति प्रसिद्धम् युक्त्या कुरु, युक्त्या संकटादुत्तीर्णोऽस्मि। – तदेव

२४. ननु युक्तिरनुमानं यदि, तथापि कथमियममुख्या। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८६

२५. 'कार्यादि' इति कार्यस्वभावद्वयरूपं कार्यं, कारणं संयोगि समवायि विरोधि चेति लैङ्गिकमिति वा पञ्चकरूपम्।-तदेव; इन शब्दों का अर्थ पूर्णतः स्पष्ट नहीं है और पञ्चक का गणना क्रम भी प्रतिपादन की भाषा से बहुत समंजस नही बैठता, पर इससे अभिनव के मुख्य मन्तव्य पर आंच नहीं आती।

है, यह इसका नियमतः विरोधी है और फिर यह योगीच्छा से जन्य है या योगिनिर्माण से भिन्न है या लौकिक है, ये सारी बातें दुर्लक्ष्य होने के कारण कार्य आदि लिङ्ग के स्वरूप का यथातथ्य निर्धारण लगभग अशक्य है।[२६] हेतुगत सीमाओं के कारण तर्क को, अनुमान को, प्रत्यक्ष और आगम की तुलना में अप्रतिष्ठित कहा जाता है, पर उससे प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अनुमान की प्रमाणता खंडित नहीं होती। क्योंकि आभास को ही वस्तुसत् मानने वाली इस विचारधारा में परमेश्वर की इच्छा, जिसे सामान्यतः नियति कहा जाता है, से इन आभासों की कार्य और कारण इत्यादि रूपों में नियमवत् प्रतीति प्रमातृगत विविधता के अनुसार आभासों के संयोजन वियोजन से होती रहती है। इस प्रतीति को नकारा नहीं जा सकता और न उसकी वस्तुता को। आभासनियम की इसी सीमा में अनुमान की प्रमाणता है। अनुमान की सीमा है कि वह वस्तुता का बोध कराता है, पर इसकी पूरी गहराई तक नहीं पहुंचता। अतः अनुमान पर हम सर्वथा भरोसा नहीं कर सकते, जितना आगम और प्रत्यक्ष पर कर सकते हैं।[२७] इसी अर्थ में यह अमुख्य है।

अनुमान-लक्षण

अनुमान की शास्त्रीय परिभाषा उत्पल सौत्रान्तिकों के बाह्यार्थानुमेयवाद को पूर्वपक्षतया उपस्थापित करते समय अपनी वृत्ति में देते हैं। अभिनव की टिप्पणी से लगता है कि वे इसे अनुमान की प्रामाणिक परिभाषा मानते हैं।[२८] उत्पल की परिभाषा है : पहले अवभात (और इस कारण प्रमातृ-चेतना में) अन्तःस्थित अर्थ के विषय में उससे नान्तरीयक अर्थ (अविनाभूत सहचारी अर्थान्तर के इस समय) के दर्शन की सामर्थ्य से उस-उस देशकाल आदि की योजनापूर्वक विमर्शन अनुमान है।[२९] सरल शब्दों में अनुमान विमर्शन है, उसका विषय है चेतना में अंतःस्थित वह अर्थ, जो चेतना को पहले अवभात

---

२६. इत्येवंभूतो यः कार्यादिभावः, स दुर्लक्षः सन्नपि अवधारयितुमशक्यो यस्य, तथाभूतं लिङ्गम्। [.....] योगिनिर्मितं वा इदं स्यात्, इतरत् वा लौकिकमित्यपि न अवधारयितुं शक्यम्।-तदेव, पृ. ८६-८७

२७. अप्रतिष्ठितत्वेऽपि तु तर्कस्य न अस्मद्दर्शनस्य खण्डना काचित्। आभासमानवस्तुवादे हि परमेश्वरेच्छया अयमाभासनियमः। सा च वैचित्र्येण आभासानुत्थापयन्ती तत्संयोजनवियोजनवैचित्र्येण च प्रमातॄन् विचित्रीकुर्वाणा अपर्यनुयोज्या, इत्येतावदेव न्यायमवतिष्ठते। तदयम् अलब्धगाध एव तर्कः शोभते। [.....] सर्वथा अनुमाने न आश्वसितव्यम्, अपितु आगम एव। - तदेव, ३, पृ. ९६; इस बिन्दु पर हमने आगम-प्रकरण में भी विचार किया है।

२८. प्रथमं सूत्रभागं (अनुमानम् इति 'अनुमानमनाभातपूर्वे' [ई.प्र.का. १/५/८] इत्यत्र) गम्यमानार्थनिरूपणेन स्फुटयति 'पूर्वविभात' इत्यादिना 'अनुमानम्' इत्यन्तेन। - ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १५५

२९. पूर्वविभातान्तःस्थित एव अर्थे नान्तरीयकार्थदर्शनवशाद् तत्तद्देशकालादियोजनया विमर्शनम् अनुमानम्। - वृत्ति (१/५/८)

हो चुका है। उसके साथ नियमतः अविनाभूत(नान्तरीयक) दूसरे *अर्थ के प्रत्यक्ष* के बल से (उस पूर्वविभात अंतःस्थ अर्थ का) तत्तत् काल और तत्तत् देश की योजना करते हुए विमर्शन अनुमान है। इस लक्षण में प्रमाण और प्रमिति दोनों समवेत हैं। देश–काल आदि की योजना तक प्रमाणांश है, और विमर्शन प्रमाणफल या प्रमांश है। अभिनव का स्पष्टीकरण इस लक्षण को पूर्ण बनाता है और एक अर्थ में परिष्कार भी करता है। उनके तीन बिन्दु हैं।[30] एक, अनुमान विशुद्ध विमर्शन न होकर विकल्पनविशेष है। दूसरे, पूर्व शब्द के ग्रहण के बावजूद भी अंतःस्थ अर्थ की अपरकालीन स्थिति से यहाँ हमारा संबंध है। तीसरे, विमर्शनमात्र अनुमान नहीं है अपितु प्राप्ति और प्रवृत्ति के योग्य यह वस्तु (पूर्वविभात अंतःस्थ अर्थ की पश्चात्तनी अनुमानकालीन वृत्ति) है, इस प्रकार का निश्चयात्मक विमर्शन है। इस प्रकार विकल्पनविशेष के रूप में अनुमान का एकमात्र आग्रह ऐसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध करना है जो देश और काल आदि की योजना के सहारे किसी अर्थक्रिया की प्राप्ति या प्रवृत्ति के योग्य है। अनुमान के इस स्वरूपाङ्कन में बौद्धों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।[31] बौद्ध भी अनुमान का विषय सामान्य मानते हैं और यह कृतकार्य तभी होता है, जब इसे विशेषित या विकल्पित या व्यष्टीकृत किया जा सके। नान्तरीयक अर्थ और देश, काल की योजना से ही यह संभव हो पाता है। शैव बौद्धों से सहमत जान पड़ते हैं, पर दो अन्तरों के साथ। एक तो, बौद्धों की भांति यहां सामान्य, देश और काल बुद्धिनिर्माण नहीं हैं, वस्तुसत् हैं और दूसरे, शैवों की दृष्टि को केवल सामान्य के विशिष्टविकल्पन के शब्दों में पूरी तरह नहीं समझा जा सकता।

संबंधन की पूरी प्रक्रिया, चाहे वह ज्ञानक्षेत्रीय हो या कारणक्षेत्रीय, अंततः अन्तः के बहिष्करण के प्रतिमानक से ही घटित होती है। पूर्वविभात अर्थ, जो संस्कारशेषतया अन्तःस्थ है, की शारीरिक व्यापार पर्यन्त प्रवृत्ति का जन्म बाह्यतया विच्छिन्न रूप में भासित अनुमान के द्वारा तभी हो सकता है, जब वह देश–काल से विशिष्ट हो। अतः सामान्य के विशेषीकरण की अपेक्षा यह अन्तः के बहिष्करण की प्रक्रिया अधिक है।[32] इसलिए अभिनव इस विकल्पन को पुनर्परिभाषित करते हुए कहते हैं विशिष्ट देश और काल से

३०. विकल्पनविशेष एव च अनुमानम्। [.....] पूर्वशब्दोपादानेऽपि अन्तःस्थितत्वस्य अवरकालतावृत्ति–व्यंङ्ग्या। न च विमर्शनमात्रमनुमानम्, अपितु प्राप्तिप्रवृत्तियोग्यवस्तुनिश्चयरूपम्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १५६

३१. अनुमानं तु लिङ्गदर्शनान् निश्चिन्वत् प्रवृत्तिविषयं दर्शयति। – न्या.बि.टी. (१/१)

३२. तस्य अनुमानविकल्परूपतायामपि प्रामाण्यं साधयितुमाह [.....] अन्तःस्थितसंस्कारशेषस्य बहीरूपतावभासनलक्षणेन विचछेदमात्रेण आभासितेन अपि विशिष्टौ देशकालौ विना कायीयव्यापारप्रवृत्तिपर्यन्तप्रवृत्तिजननम् अनुमानेन न कृतं भवेत्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १६

आलिङ्गित प्रवृत्तियोग्य अर्थ के विषय में होने वाला विकल्पन अविसंवादक होने के नाते अनुमान प्रमाण कहलाता है।[३३]

इस अवसर पर अभिनव हमें सतर्क करना चाहते हैं। प्रवृत्तियोग्यतया विशेषीकरण विकल्पनव्यापार का अङ्ग है, अनुमेय अर्थात् अनुमान के विषय का स्वरूप नहीं है। यहाँ शङ्का हो सकती है कि दिखाई पड़नेवाला धूम (हेतु) विशेष है, उसी से विशिष्ट अग्नि की सिद्धि की जा रही है, अतः विशेष का ही अनुमान होना चाहिए, जबकि व्याप्ति सामान्यों में ही होती है। अतः अनुमान का विषय सामान्य है **('सामान्य–विषयम् अनुमानम्')**, यह सिद्धान्त खंडित हो जाता है। अभिनव के अनुसार उत्पल इस शंका को खारिज करते हैं कि अनुमान का अनुमेय विशेष है, सामान्य नहीं। कारण, अनुमान के तीन अङ्ग हैं – (१) अन्वय, (२) व्यतिरेक और (३) पक्षधर्मता। पक्षधर्मता (हेतु का पक्ष में होना – पर्वत पक्ष में धूम हेतु का होना अर्थात् धूम में पक्षधर्मता है) तो सद्यःप्रत्यक्ष से प्राप्त है। प्रत्यक्ष से अनुगृहीत व्याप्ति विशेष को अनुमान का विषय बनने नहीं देती, क्योंकि विशेषांश (धूम का वह रूप जिससे अग्नि का अनुमान किया जा रहा है) तो वर्तमान प्रत्यक्ष से सिद्ध है और व्याप्ति में आधाराधेयता का स्फुरण 'जहाँ–जहाँ' इस प्रकार सामान्यभाव से ही होता है। अतः सामान्य ही अनुमेय होता है।[३४] उसकी प्रवृत्ति योग्यता का निर्धारण देशकाल आदि की योजना द्वारा होता है। अतः विमर्शिनी में अभिनवगुप्त अनुमान की नई परिभाषा देते हैं : जब पक्ष और हेतु दोनों सुनिश्चित हों (उनके विषय में कोई संदेह न हो) और हेतु तथा साध्य की व्याप्ति का स्मरण हो रहा हो, तो अनुमान का व्यापार केवल यह सिद्ध करना है कि साध्य वस्तुतः पक्ष में विद्यमान है।[३५]

अनुमान के स्वरूप प्रतिपादन में अभिनव एक नई संरचनात्मक भङ्गिमा का आश्रय

---

३३. विशिष्टदेशकालालिङ्गितेऽर्थे प्रवृत्तियोग्ये यत् विकल्पनं तत् प्रमाणरूपम् अविसंवादकतया अनुमानम् उच्यते। – तदेव, २, पृ.१६२

३४. तत्रेति धर्म्यंशेन च विशेषेण तद्विशिष्टोऽग्निः साध्यते इति विशेषोऽनुमेयः स्यात्। इत्याशङ्क्याह 'धर्मप्रत्यक्ष' इति। अन्वयव्यतिरेकवत् पक्षधर्मता अपि नाम तृतीयमङ्गमनुमानस्य। सा च प्रत्यक्षेण अधुनातनेन गृहीता इति प्रत्यक्षविकल्पानुगृहीतो व्याप्तिविकल्पोऽनुमानस्य न विशेषविषयतामानयति विशेषांशस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् आधाराधेयतायाश्च व्याप्तौ सामान्येन स्फुरणात्। – तदेव, पृ. १६३

३५. इह धर्मिणि सिद्धे सिद्धेन हेतुना स्मर्यमाणव्याप्तिकेन साध्यधर्मायोगव्यवच्छेदोऽनुमानव्यापारः। – ई.प्र.वि., १, पृ. ३८६। शब्दशः इसका हिन्दी रूपान्तर है : सिद्ध धर्मी (पक्ष) में व्याप्तिस्मरणविशिष्ट सिद्ध हेतु द्वारा साध्यधर्म की अन्य से संबंध की व्यावृत्ति कराना (अर्थात् पक्ष की साध्यधर्मवत्ता का बोधन) अनुमान का व्यापार है। 'साध्यधर्मायोगव्यवच्छेदः' की भास्करकृत व्याख्या है : साध्यधर्मान्यसंबंधव्यावृत्तौ अयोगः असंबंधः, साध्यधर्मेण तद्वत्त्वम्। – भा., १, पृ. ३८६

लेते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान में भेद का मुख्य आधार उनके स्रोत को लेकर है। प्रत्यक्ष अर्थ की सामर्थ्य से उत्पन्न होता है और अनुमान अर्थान्तर की सामर्थ्य से।[३६] इस ओर से प्रसङ्गान्तर से पहले भी इंगित किया जा चुका है। यह अर्थान्तर है – कार्यरूप या स्वभावरूप हेतु। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि प्रतिफलित प्रतीति या बोध भी अर्थविषयक न होकर अर्थान्तरविषयक होता है। उदाहरण के लिए आभासान्तर शिंशपा (शीशम) और धूम से क्रमशः आभासान्तर वृक्षत्व और अग्नि का ज्ञान।[३७] अनुमान को व्यवहित ज्ञान कहे जाने का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। प्रत्यक्ष और आगम में ज्ञान का विषय अर्थ है, अतः वहाँ ज्ञान व्यवधानरहित है। अनुमान में ज्ञान का विषय अर्थान्तर है, अतः वह एक अतिरिक्त अर्थ से अंतरित है। सामर्थ्य का अभिप्राय है अर्थान्तर (हेतु) की अर्थान्तर (साध्य) की नान्तरीयकता से जन्य सामर्थ्य से, जो व्याप्ति में उपलक्षित होती है।

व्याप्ति का आधार नियत्युपजीवी कार्यकारणभाव : हेतु की पुनर्परिभाषा

अनुमान का आधार व्याप्ति है। व्याप्ति एक पारिभाषिक शब्द है, जो एक अर्थान्तर के दूसरे अर्थान्तर के साथ, साध्य के हेतु के साथ, संबंध को परिभाषित करता है : जहाँ साध्य अर्थान्तर व्यापक है और हेतु अर्थान्तर उसका व्याप्य। इस संबंध का निर्धारण और ग्रहण सार्वभौमिक नियम पर आश्रित है। ये सार्वभौमिक नियम दो हैं – कार्यकारणभाव और सामानाधिकरण्य, जिन्हें शैव बौद्धों से ले लेते हैं और उन्हीं की भांति उन्हें क्रमशः तदुत्पत्तिनियम और तादात्म्य-नियम के नाम से भी पुकारने में संकोच नहीं करते।[३८]

---

३६. प्रत्यक्षमर्थसामर्थ्यात्, अनुमानम् अर्थान्तरसामर्थ्यात्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८२

३७. अनुमानजा तु प्रतीतिः आभासान्तरात् कार्यरूपात् स्वभावभूतात् वा आभासान्तरे प्रतिपत्तिः। – ई.प्र.वि., २, पृ. ८४

३८. "सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार 'तादात्म्य और तदुत्पत्ति का सिद्धान्त' धर्मकीर्ति की नवीन उद्भावना है। और यह धर्मकीर्ति की बौद्धदर्शन को एक नवीन देन है। इसके अनुसार अविनाभावनियम ही अनुमान का अंग है। यह अविनाभावनियम दो प्रकार से गृहीत होता है। एक तो कार्य-कारण-भाव से; जैसे धूम अग्नि का कार्य है, वह अग्नि के बिना नहीं हो सकता। इस कार्य-कारण-भाव से यह निश्चय किया जाता है कि धूम का अग्नि के साथ अविनाभावनियम है। दूसरे तादात्म्य से अविनाभाव-नियम का निश्चय किया जाता है, जैसे 'शिंशपा होने से यह वृक्ष है।' शिंशपा एक वृक्ष है इसलिए शिंशपा का स्वभाव है – वृक्ष होना, अथवा शिंशपा का वृक्ष विशेष से तादात्म्य है, शिंशपात्व वृक्ष के बिना नहीं रह सकता। इसी से शिंशपात्व का वृक्षत्व के साथ अविनाभाव का नियम है (शिंशपात्वं हि वृक्षत्वं विना न भवतीति नियमः)। इस प्रकार कार्य-कारण-भाव या तादात्म्य से होने वाला ही अविनाभावनियम होता है: स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य।

तादात्म्यनियम को स्वभावनियम और तदुत्पत्ति को हेतुहेतुमद्भाव की संज्ञा से भी कहा जाता है। 'यह वृक्ष है क्योंकि यह शीशम है' (वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्) यहाँ हमें तादात्म्य-नियम और 'पर्वतो वह्निमान् धूमत्वात्' जैसे स्थलों में तदुत्पत्ति-नियम दिखाई देता है। नियम शब्द इस अर्थ में अन्वर्थ है कि इनका निर्धारण एक व्यवस्था से अनुशासित और नियमित है जिसे इस संप्रदाय में नियति या नियतिशक्ति कहा गया है।[३९] मालिनीविजयवार्तिक में अभिनव लोलट नामक गुरु (संभवतः लोल्लट नामक आलंकारिक और स्पन्दकारिकाओं के वृत्तिकार के रूप से स्मृत आचार्य से अभिन्न?) का उल्लेख करते हैं, जो अनुमान के प्रामाण्य का एकमात्र निबन्धन उसका ईश्वरापेक्ष होना मानते है।[४०] नियति का यह नियमन् जितने देश और काल में प्रभावी रहता है उतने ही देश-काल में अनुमान प्रमाण होता है।[४१] वस्तुद्वय का होना ही कार्यकारणभाव नहीं है, बल्कि उनका नियम से विशिष्ट होना कार्यकारणभाव है। उस नियम में दूसरे की अपेक्षा अंतर्निहित है।[४२] नियम या नियतता का एकमात्र स्वरूप है कारण और कार्य रूप पदार्थों की एक दूसरे से नियत अवियोग रूप अपेक्षा।[४३]

नियति के अधीन कहने की सीधी सी व्यंजना यही है कि शैवों के समक्ष कोई ऐसी व्यवस्था, कार्यकारणभाव, सार्वभौम नियम ऐसा भी है जो नियति के अधीन नहीं है। हम देख आए हैं कि योगी की इच्छा में ऐश्वरी सृष्टि की अर्थक्रिया के तुल्ययोगक्षेम वाली

वस्तुतस्तादात्म्यात् साध्यार्थादुत्पत्तेश्च। (न्या.बि.२/२१-२२) यही बौद्ध दर्शन में प्रतिबन्ध या स्वभाव-प्रतिबन्ध कहा जाता है। [.....] इस स्वभाव-प्रतिबन्ध के कारण ही एक वस्तु दूसरी की बोधक या गमक होती है: 'स्वभावप्रतिबन्धे सत्यर्थोऽर्थ गमयेत्।'...(न्या.बि.टी. २/२०)।" - बौ.द.वि., पृ. १५३-५४

३९. वस्त्वन्तरस्य (=हेतोः) च तेन (=वस्त्वन्तरेण साध्येन) साकं कार्यकारणभावनियमः सामानाधिकरण्यनियमश्च ईश्वरनियतिशक्त्युपजीवन एव अवधार्यो भवति नान्यथा। - ई.प्र.वि., २, पृ. ८४

४०. एवमीश्वरसापेक्षानुमानैकप्रमाणता।।
निर्णीता लोलटाख्येन गुरुणा लोकसंमता। - मा.वि.वा. १/७७७-७८

४१. येन यावति नियतिर्ज्ञाता तावति देशे काले वा अनुमानं प्रमाणम्। - ई.प्र.वि., १, पृ. ८४

४२. ननु वस्तुद्वयमात्रं न कार्यकारणभावः, अपितु नियमविशिष्टं तत्, स नियमश्च परापेक्षामपि आपादयति। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २२१

४३. नियततामेव स्पष्टयति 'यावत्' इति नियतो योऽन्योन्यमवियोगस्तदेव रूपं यस्या अपेक्षायास्तच्छरीरसाररूपं यस्याः कार्यकारणतायाः। -तदेव, ३, पृ. २२४

सृष्टि की पूरी सामर्थ्य है।[४४] इससे स्पष्ट है कि यहाँ दो प्रकार के कार्यकारणभाव मान्य हुए हैं, नियत्यनुवर्ती और नियत्युल्लंघी। लौकिक या अनुभवजगत् का कार्यकारण पहले प्रकार का कार्यकारणभाव है और लोकोत्तर अर्थात् योगी या ईश्वर का कार्यकारणभाव दूसरे प्रकार का कार्यकारणभाव है।[४५] शैवों के लिए दोनों में विरोध नहीं है, अपितु नियत्युल्लंघी नियत्यनुवर्ती स्वातन्त्र्य का घनीभाव है। कठिनाई यह है कि योगिसृष्टि उस नियमन और व्यवस्था के मूल पर ही कुठाराघात करती है, जिसकी अभिव्यक्ति कार्यकारणभाव द्वारा होती है। यदि प्रसिद्ध कारण को छोड़कर दूसरे कारण से तज्जन्य कार्य के तुल्य कुलशील वाले कार्य उत्पन्न हो सकते हैं, तो अनुमान के द्वारा किसी भी निर्णय पर निश्चयपूर्वक पहुंचने का हमारा आधार ही खतरे में पड़ जाएगा।[४६]

दो वस्तुओं के मध्य संबंध के नियामक तादात्म्य और तदुत्पत्ति नाम दो नियमों का उल्लेख ऊपर हुआ है। क्रमशः इन्हें स्वभाव–कारणता और जनक–कारणता भी कहा जा सकता है। शीशम होने के कारण ही शीशम का पेड़, पेड़ कहलाता है और धुएँ को जन्म दे सकने के कारण अग्नि, अग्नि। अनुमान का प्राण व्याप्ति, हेतु और साध्य का अव्यभिचरित नान्तरीयक संबंध, इसी पर आश्रित है। परन्तु नियत्युल्लंघी कार्यकारणभाव में योगीच्छा से शीशम अपने वृक्षस्वभाव से वंचित हो जाएगी और अग्नि या तो धूम को पैदा ही नहीं करेगी या आग के बिना ही धूम उत्पन्न होने लगेगा। ऐसी स्थिति में अनुमानजन्य व्यवस्थापनात्मक प्रमाणमर्यादा के भङ्ग होने का अनिष्ट प्रसंग उठ खड़ा होगा।[४७]

एक क्षण के लिए यहां रुकना उचित होगा। शैवों के सामने तीन चुनौतियां थीं जिनसे उन्हें सफलतापूर्वक जूझना था। एक तो, योगिसृष्टि जो शैवों की तत्त्वमीमांसा का जीवनदायी सूत्र थी को सुरक्षित रखते हुए अनुमान की शक्यता तथा प्रामाणिकता का उपपादन करना। दूसरे, स्वभाव–कारणता (तादात्म्य) मानने पर हेतु और साध्य की स्वरूपगत एकता से उठने वाले प्रमाणतया अनुमान के मौलिक व्यापार –अज्ञात का ज्ञापन–

४४. योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन तत्।
घटादि जायते तत्तत्स्थिरस्वार्थक्रियाकरम्।। – ई.प्र.का. २/४/१०

४५. स चायं द्वितीयः कार्यकारणभावो लौकिकान्वयव्यतिरेकसिद्धप्रसिद्धकार्यकारणभावविलक्षणत्वात्। – ई.प्र.वि., १, पृ. २६

४६. ननु यदि प्रसिद्धकारणोल्लङ्घनेनापि तत्कार्यतुल्यवृत्तान्येव कार्याणि जायन्ते, भग्नास्तर्हि अनुमानकथाः। – तदेव, २, पृ. १७३

४७. ई.प्र.वि., २, पृ. १७५

के विखण्डन की अनिष्टापत्ति से बचना। और तीसरे, व्यवहार में भी (प्रमाण भी व्यवहारसाधन है) वस्तु की सत्ता और नियत्यनुवर्तिता को बनाए रखना, ताकि अनुमान वस्तुनिष्ठ ज्ञान दे सके।

इन तीनों चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए प्रत्यभिज्ञा नैयायिक प्रतिपक्षी बौद्ध नैयायिकों की शंकाओं का और उन्हीं की युक्ति–शय्या का अनुकूलन अपने पक्ष में करने का प्रयास करते हैं। ये तीनों ही काम वे एक ही प्रयत्न – केवल हेतु की पुनर्परिभाषा – द्वारा करते हैं। धर्मकीर्ति द्वारा उपस्थापित कार्य (धूम आदि) या स्वभाव (शिंशपात्व आदि) को वे भी हेतु मानते हैं, शर्त यह है कि प्रमाणान्तर से (अभिनव इसका अर्थ लेते हैं लोकप्रसिद्धि से) यह निश्चय हो कि यह हेतु योगीच्छाजन्य निर्माण या सृष्टि नहीं है।[४८] ऐसे निश्चय के अभाव में यह हेतु न होकर हेत्वाभास होगा।[४९] इसका स्पष्ट निहितार्थ यह है कि नियत्यनुजीवी सृष्टि में ही कार्य या स्वभाव हेतु हो सकता है, इसके लिए आवश्यक पूर्वदशा है यह निश्चित कर लेना कि नियत्युल्लंघी सृष्टि का कार्य या स्वभाव नहीं है।[५०] ऐसा होने पर अनुमान अक्षुण्ण रहेगा।

शैव यह मानते हैं कि व्याप्ति संबंध, फलतः तज्जन्मा अनुमान, मूलतः कार्यकारणभाव पर निर्भर है। ऊपर उल्लिखित दोनों हेतुओं में से कार्य हेतु को लेकर उसके कारणता–संबंध पर शंका नहीं होती क्योंकि कार्य परिभाषया कारण की अपेक्षा करता है, पर समस्या आती है स्वभाव हेतु को लेकर। वहाँ कार्यकारणभाव को कैसे प्रवेश मिलेगा। इनके अनुसार स्वभावहेतु को दो वर्गों में बांटा जा सकता है : (१) एक, वह जिसमें कार्यकारणभाव

---

४८. योगिनिर्माणताऽभावे प्रमाणान्तरनिश्चिते।
कार्यं हेतुः स्वभावो वाऽतएवोत्पत्तिमूलजः।। – ई.प्र.का. २/४/११

४९. अत एव कार्यं स्वभावो वा तदुत्पत्तिगर्भो योगिनिर्मितत्वाभावनिश्चयाभावे हेत्वाभासः।–वृत्ति (२/४/११)

५०. अभिनव यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि योगिसृष्टि के अभाव के निर्णय का संबंध सिर्फ स्वभाव–हेतु की उत्पत्ति से है, स्वभाव से नहीं। योगिसृष्टि में उत्पत्ति में कारण का विपर्यासन संभव है, पर स्वभावताविपर्यय वदतो व्याघात है– क्या कभी नील रहता हुआ भी अनील हो सकता है : तद्योगिजन्यत्वम् अवह्निकस्य धूमस्य सह्यं नाम, स्वभावस्य तु कथं विपर्याससंभावना। नहि नीलं सदेवानीलं योगीच्छया भवति इति कश्चित् प्रामाणिकः प्रतीयात्। (ई.प्र.वि., २, पृ. १७८–७९) भास्कर अभिनव के इस संकेत को अच्छी तरह से पकड़ते हैं। उनका कथन है कि प्रायः वस्तु अपने प्रसिद्ध कारण से जन्म लेती है, अपवादतया ऐसा कभी ही होता है कि योगीच्छा से जन्म ले, प्रसिद्ध कारण से जन्म न ले। अतः स्वभावहेतु को लेकर केवल उत्पत्ति के समय योगिनिर्माणता के अभाव का निर्णय करना है, अपने साध्य को सिद्ध करने के समय नहीं : उत्पत्तिमात्रे एव निर्माणत्वाभासो निर्णयः न स्वसाध्यसाधने। – भा., २, पृ. १८२

स्फुटरूप से गर्भित है अर्थात् कार्यकारणभाव छिपा हुआ है, और (२) दूसरा, जो इससे विपरीत है।[५१] 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' यह पहले का उदाहरण है। धूमवान् (पर्वत) का अग्निमत्त्व (तत्र अग्निः) ऐसा स्वभाव तभी संभव है जब धूम अग्नि से ही सिद्ध हो।[५२] दूसरे का उदाहरण है 'यह पेड़ है, शिंशपा होने के कारण' (वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्)। यहाँ वृक्षत्व रूप जो साध्य है उसकी शिंशपामात्र के साथ जो अनुबंधिता है=उसके होने पर होना= 'शिंशपा के होने पर वृक्ष का होना' यह कार्यकारणभाव से ही सध पाती है। यहां एक स्वभाव दूसरे स्वभाव में नियत होकर उत्पन्न होता है।[५३] इस प्रकार दोनों हेतु कार्यकारणभाव के आयत्त होते हैं। पर स्वभावहेतु के दूसरे भेद में स्वभाव होने के नाते तादात्म्य माना जाए और कार्यकारणभाव न माना जाए, तो उसे युक्तितः अकिंचित्कर और निष्कर्षतः असिद्ध मानना होगा। क्योंकि हेतु की सिद्धि से ही साध्य की सिद्धि हो जाएगी, अतः अनुमान अप्रसक्त और अर्थहीन होगा।[५४] यदि दोनों को भिन्न माना जाए तो कार्यकारणभाव को लाना ही पड़ेगा।[५५] बौद्धों की बात को यदि मान भी लिया जाए कि स्वभाव हेतु से केवल व्यवहार की सिद्धि होती है जैसे 'तरुरयं वृक्षत्वात्' (यह पेड़ है, पेड़ के स्वभाव वाला होने के कारण) में, वस्तु की नहीं।[५६] तो प्रश्न है कि व्यवहार क्या है? व्यवहार भी ज्ञान और अभिधान, बोध और कथन, रूप कार्य ही है। शब्दव्यवहार में संकेतनियम की नियतता के कारण यहाँ नियतिशक्ति अर्थात् नियमन को स्वीकार करना बौद्ध नैयायिक की विवशता है, अन्यथा व्यवहार साङ्कर्य को बचाना असंभव हो जाएगा।[५७] इसलिए शिंशपा और वृक्ष में इसी स्वभावहेतु के आग्रह से सामानाधिकरण्य (दोनों का समान अधिकरण

---

५१. इह द्विविधः स्वभावहेतुः स्फुटगर्भितकार्यकारणभावो विपरीतो वा। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १९७; ई.प्र.वि., २, पृ. १७९ भी : इह द्विविधो हि स्वभावहेतुरन्तर्लीनकार्यकारणभावस्तद्विपरीतश्च।

५२. अभिनव साफ कहते हैं कि यहां उनके प्रतिपक्षी बौद्ध हैं क्योंकि वैशेषिक शिंशपात्व और वृक्षत्व को भिन्न सामान्य मानते हैं, स्वभावता नहीं : बौद्धानाम् इति काणादादयस्तु भिन्ने एते सामान्ये कथयन्तो न स्वभावतामनुमन्यन्ते। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १९८

५३. विमर्शिनी में अभिनव दूसरा दृष्टान्त भी लेते हैं 'अनित्योऽयं कृतकत्वात्' (यह अनित्य है, क्योंकि यह बनाया गया है) (२, पृ. १७९, १८१)। हमारा प्रयोजन एक से ही चल जाता है।

५४. अभेदे तु आभासस्य हेतुसिद्धावेव साध्यस्य सिद्धत्वात्। – ई.प्र.वि., २, पृ. १७९; भास्कर यहां आश्रयासिद्धि हेत्वाभास के साध्यसिद्धत्व नामक भेद की आशंका करते हैं। – भा., २, पृ. १७९

५५. स्वभावोऽपि स्वभावान्तरनियतो यो जातः तत्र उत्पत्तिरेव कार्यकारणभावात्मिका मूलम्। – तदेव, पृ. १९७

५६. मिलाइये : वृक्षव्यवहारयोग्योऽयं शिंशपाव्यवहारयोग्यत्वात्। – न्या.बि.टी. २/१६

५७. व्यवहारश्च ज्ञानाभिधानात्मा कार्य एव, तत्र च नियतिशक्तिरङ्गीकृता भवतापि। – ई.प्र.वि., २, पृ. १८०। भास्कर की टिप्पणी है : अन्यथा व्यवहारसांकर्यापत्तेरिति भावः। – भा., २, पृ. १८०

होना) को नियत – नियमायत्त – मानना होगा। सारी व्यावृत्तियों (विशेषों) और सारे सामान्यों में यही स्थिति निरपवाद रूप से मिलती है।[५८] वस्तुतः अभिनव शब्दव्यवहारसाधन, वस्तुव्यवहारसाधन और वस्तुसाधन में अंतर करते हैं। व्यवहार का अर्थ यहाँ शब्दव्यवहारमात्र है। 'तरुरयं वृक्षत्वात्' में 'वृक्षत्वात्' रूप स्वभाव-हेतु तरु-रूप शब्दव्यवहारात्मक कार्य का साधन है, न वह तरु-रूप वस्तु (कार्य) का साधन है और न तरु-वस्तु के व्यवहार रूप कार्य का।[५९]

इससे स्पष्ट है कि बौद्ध दार्शनिकों के यहाँ हेतु और साध्य में आभास-भेद अर्थात् वस्तु-भेद न होने के कारण स्वभावहेतु पर आश्रित अनुमान वास्तविक और नवीन ज्ञान नहीं दे पाता, अतः हेतु हेत्वाभास और साध्य साध्याभास बनकर रह जाता है।[६०] एक तरह से देखा जाए तो प्रत्यभिज्ञा नैयायिक विशुद्ध प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से बौद्धों से सहमत दिखाई देते हैं-स्वभावहेतु से सिद्धसाधनता को लेकर। परन्तु इसको वे अपनी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से जोड़ कर अपने को बौद्धों से अलग कर लेते हैं उनके यहाँ व्यवहारसाधन प्रमाण की कसौटी है मोहनिवारकता, न कि अपूर्वसाधनता। उनके यहाँ साध्य (महेश्वर) तो सिद्ध ही है, केवल स्वभाव हेतु (शक्तिमत्त्व) से तादात्म्य के नाते मोह-निवारण(शक्त्याविष्करण) द्वारा अव्यवहृत का लोगों से व्यवहार कराया जाता है। अपूर्व अर्थात् अनधिगत की सिद्धि तो कार्य हेतु द्वारा ही होती है। वे एक प्रकार से अनुमान के क्षेत्र को दो हिस्सों में बांट देते हैं- व्यवहारसाधन और अपूर्वसाधन। स्वभाव हेतु द्वारा व्यवहारसाधन रूप प्रमाण का मोहनिवारण में व्यापारण और कार्य हेतु द्वारा वास्तविक प्रमाण रूप अनुमान का व्यापारण, जहाँ प्रमाण का मौलिक कार्य अपूर्व का साधन है। अभिनव प्रमाणमीमांसा की दृष्टि से इसे ही अनुमान मानते हैं और इसी अर्थ में अनुमान का स्वतंत्र प्रामाण्य प्रतिपादित करते हैं। उत्पल की परिभाषा में आए कार्यहेतु शब्द की निहितार्थता इसी में मानते हैं।[६१]

---

५८. व्यावृत्तीनामेषैव वार्ता, सामान्यानामियमेव सरणिः। – ई.प्र.वि., २, पृ. १८०

५९. न इदं वस्तुनो, नापि वस्तुव्यवहारस्य साधनम् अपितु शब्दव्यवहारस्य, तदर्थं मात्रपदं, शब्दव्यवहारश्च नियत्यपेक्ष इति किमत्र चित्रं साङ्केतिकत्वेन अस्य प्रसिद्धिः। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २१३ ; न तत्र वस्तुसाधनता [.....] एतच्च पर्यायव्यवहारसाधनं, न तु वस्तुव्यवहारसाधनम्। – तदेव, पृ. २१०-२११

६०. तस्मात् सर्वेषु स्वभावहेतुषु आभासभेदं विना व्यवहारमात्रसाधनमेव, हेत्वाभासमयत्वादेव अनधिको हि तत्र साध्याभासः। – ई.प्र.वि., २, १८० ऊपर का अर्थ हमने भास्कर की महत्त्वपूर्ण टिप्पणी (अन्यथा इति शेषः। हेत्वाभासमयत्वात् साध्याभेदरूपाश्रयासिद्धरूपत्वाद् इत्यर्थः। – भा., २, पृ. १८०) के आलोक में किया है।

६१. ननु विकल्पमात्रमेव किमनुमानम्। नेत्याह 'अव्यभिचारी' इति। स्वभावहेतुना तादात्म्यादेव तत्प्रमाणरूपं साध्यं सिद्धमेव सत् व्यामोहव्यवहृतं व्यवहार्यते परं लोकः। कार्यहेतुना तु अपूर्वं साध्यते इति तत्रैव

हम प्रकृत की ओर लौटते हैं। बौद्धों के विपरीत शैव स्वभावहेतु से भी प्रमाण के मौलिक व्यापार – अपूर्व का साधन – की सिद्धि मानते हैं। वस्तु–संघटना की आधारभूत प्रक्रिया को लेकर शैवों और बौद्धों में आकाश–पाताल का अंतर है और इसका मूल शैवों के आभासवाद में निहित है। स्वभावहेतु में उनकी मान्यता का आधार 'आभासनिकुरुम्बात्मक स्वलक्षणवाद' है, जिसके अनुसार अर्थ आभाससामानाधिकरण्य या आभासमेलन रूप व्यष्टि या वस्तु है। अपने मत की विलक्षणता–ख्यापन के लिए वे बौद्धों के मत को निरंशस्वलक्षणवाद का नाम देते हुए यह उद्घोषणा करते हैं कि आभासनिकुरुम्बात्मक स्वलक्षणवाद के मूल में नियत्युपजीवी कार्यकारणभाव है।[६२] शैवों के

अनुमानस्य स्वतंत्रं प्रामाण्यम्। [.....] तत् कार्यहेतोरेव सर्वो प्रपञ्चः पल्लवप्रायः इत्याशयेन कार्यपदम्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १६१–६२। ऊपर लेख भाग में आए महेश्वर, शक्तिमत्त्व, शक्त्याविष्करण शब्द प्रस्तुत लेखक द्वारा प्रयुक्त हैं। अभिनव शब्दशः ऐसा कहते भी नहीं है, पर मुझे लगता है कि मोहजन्य अव्यवहार को लाकर प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के व्यवहारसाधनरूप परार्थानुमान की योजना का अङ्ग बना देते हैं।

६२. तत्र च नियत्युपजीवी कार्यकारणभाव एव मूलमिति आभासनिकुरुम्बात्मकस्वलक्षणवादेन स्वमतेन स्वभावहेतुः समर्थितः। अधुना निरंशस्वलक्षणवादेऽपि अभ्युपगमवादेन अङ्गीकृते स्वभावहेतौ अवश्यं कार्यकारणभाव उपजीवितव्य इति। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २०१। अभिनव का मानना है कि उनके मत में तो स्वभावहेतु का कार्यकारणभावमूलित रूप में समर्थन तो सिद्धान्ततः होता ही है, बौद्धों में भी अभ्युपगमवाद से इसे कार्यकारणभाव पर आश्रिततया ही उपपादित किया जा सकता है। उनके अनुसार विकल्पों का स्वभाव है, एक का भेदन करना और फिर इस प्रकार से भेदित का अध्यवसाय के सहारे एकीकरण करना। इस प्रकार से सारे व्यवहारों के अध्यवसाय पर ही निर्भर होने के कारण उनमें गम्यगमकभाव तथा तादात्म्य दोनों की उपपत्ति की जा सकती है : ततस्तथाविधविकल्पाध्यवसायबलेन गम्यगमकभावश्च तादात्म्यं च भविष्यति सर्वव्यवहाराणाम् अध्यवसायमुखप्रेक्षित्वात्। (तदेव, पृ. २०१–२०२) (अभिनव का मन्तव्य पूरी तरह से धर्मोत्तर का अनुवदन करता है : निश्चयापेक्षो हि गम्यगमकभावः [.....] ततो निश्चयारूढरूपापेक्ष एव तयोर्भेदो युक्तः, वास्तवस्त्वभेद इति। – न्या.बि.टी. २/२१–२२)। इसलिए धर्मकीर्ति का कार्यकारणभाव की प्रधानता न दिखाकर व्याप्ति (प्रतिबन्ध) में स्वभाव की नियामकता पर इतना जोर डालना अभिनव की समझ में नहीं आता : तेन यत् भट्टेन प्रतिबन्धसिद्धौ स्वभावप्रतिबन्धस्य प्रधानत्वं समर्थितं, न तत् न्यायमनुयायीति दर्शितम्। (ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २०२) लेकिन अभिनव चेताते हैं कि दोनों पक्षों में साम्य को इसके आगे खींचना ठीक नहीं होगा, क्योंकि बौद्धों में वस्तुतः स्वभाव तो है ही नहीं, केवल स्वभावत्व का अभिमान है जो गम्य और गमक के बीच शब्दप्रयोग के बल से आभासित सामानाधिकरण्य के अध्यवसाय से उत्पन्न हुआ है। समर्थन–प्रदर्शन के इस उपक्रम के पीछे अभिनव का उद्देश्य अपने तांत्रिक मत का पोषण रहा है, यह वह स्वयं स्वीकार करते है : तान्त्रिकहेतुलक्षणसमर्थनाय प्रयोगबलावभासितसामानाधिकरण्याध्यवसायवशाद् अयं स्वभावत्वाभिमानो, न तु वास्तवमत्र स्वभावत्वम्। (तदेव)

यहाँ स्वभावहेतु के अङ्गीकरण का आधार है उसकी वस्तुसाधनता और अपूर्व ज्ञान को उत्पन्न कर सकने की क्षमता। यहां वृक्षत्व और शिंशपात्व दो भिन्न स्वतंत्र आभास, साम्प्रदायिक शब्दकोश में वस्तु, हैं जो ईश्वर की नियतिशक्ति द्वारा अपने–अपने में सामानाधिकरण्य संबंध में नियत किए गए हैं।[६३] प्रस्तुत दृष्टान्त (वृक्षोऽयं शिंशपात्वात्) में फलतः मोहापसारी होने पर भी जहाँ वृक्ष का प्रत्यक्षप्रमाणदृष्टत्व हेतु के रूप में सामने नहीं लाया जाता, बल्कि शिंशपात्व ही आगे लाया जाता है, वहाँ वृक्षत्व अप्रमित (प्रमाण में अविषयीकृत) रहता है। अतः 'वृक्षत्व' का साधक स्वभाव–हेतु ('शिंशपात्व')मूलक अनुमान अपूर्व का साधक माना जाएगा।[६४] इस प्रकार स्वभावहेतु वाले अनुमान निश्चित रूप से वास्तविक और नवीन ज्ञान को जन्म देते है।

व्याप्ति–ग्रहण

इस प्रकार शैव योजना में कार्यकारणभाव अनुमान का मूलाधार बनता है। कार्य, जो कारण का उत्पाद है, कारण के अनुमान में लिङ्ग या हेतु (कार्यलिङ्ग) बनता है। आभासवाद, जो यह मानता है कि प्रकाशमानता या आभासरूपता ही वस्तु की सत्ता है, की दृष्टि से यहाँ एक तात्त्विक कठिनाई उठ खड़ी होती है। पर्वत पर जिस कारणभूत अग्नि का कार्यभूत धूम से अनुमान किया जा रहा है वह अग्नि तो परोक्षत्वेन 'अनाभात' है,[६५] फलतः वह 'अवस्तु' है। अतः इस बात का ही क्या प्रमाण कि अनुमान–क्षण में अनाभात अग्नि (कारण) से ही धूम (प्रत्यक्ष–दृष्ट कार्य) की उत्पत्ति हो रही है। ऐसी स्थिति में धूम से उसकी कारणभूत अग्नि का अनुमान कैसे होगा।[६६] इसका उत्तर उत्पल

---

६३. तस्मात् नियतः शिंशपाभासवृक्षाभासयोः पूर्वनीत्या सामानाधिकरण्याभासो हेतुबलात्। ततः स्वभावोऽयं हेतुहेतुमद्भावमूल एव। – ई.प्र.वि., २, पृ. १८०–१८१

६४. मोहनिवर्तनफलत्वेऽपि यत्र प्रत्यक्षप्रमाणदृष्टत्वं न पुरःसरीक्रियते हेतुतया अपितु शिंशपात्वमेव तत्र तद्वृक्षत्वम् अप्रमितमेव अभिप्रेतम् इति अपूर्वप्रसाधकं तत्र स्वभावहेत्वनुमानम्।–ई.प्र.वि.वि.,३, पृ. १७८

६५. सच पूछा जाए तो यही परोक्षता अनुमान व्यापार की प्रयोजक है, अन्यथा तो यह प्रत्यक्ष का विषय होता।

६६. नन्वाभासवस्तुत्ववादेऽनाभातस्य अग्नेरवस्तुत्वम् इत्यनाभातेन कथं धूमो जन्यते, ततश्च धूमादग्नेः कारणस्य कथमनुमानम् ? – ई.प्र.वि.,२, पृ. १८२। शैवों के मन में इस शंका को उठाने का एक कारण और भी है। इसकी चर्चा वे ज्ञानाधिकार में पहले कर चुके हैं। सौत्रान्तिक सारे बाह्य पदार्थों को अनुमेय मानते हैं और इन्द्रियानुमान को आधार बनाकर प्रतिबिम्बित ज्ञानाकारों से स्वसदृश, अर्पक, बिम्बभूत, सर्वथा अनाभात, बाह्य पदार्थों का अनुमान करते हैं। वहाँ भी कारण अनवभात है, यहाँ भी। अंतर केवल इतना है कि वहाँ न केवल अनुमानकाल में अपितु व्याप्तिग्रहण काल में भी कारण अनाभात है और यहाँ सिर्फ अनुमानकाल में। शैव वहाँ इन्द्रिय को कारणभाव से

व्याप्तिग्रहण–प्रक्रिया के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा देते हैं। स्थिति इस प्रकार है। रसोई में एक बार पहले प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से[६७] अग्नि (के आभास) और धूम (के आभास) के मध्य कार्यकारणभाव का ग्रहण हो चुकता है। यद्यपि कारणता नियम का मूल प्रारूप शैव बौद्धों

व्याप्तिग्रहण काल में अवभात मानते हैं, और एक प्रकार से उसी उत्तर में एक नया आयाम जोड़ते हुए यहाँ अनुमान काल में भी कारण की अनाभातता, फलत: अवस्तुता का निराकरण करते हैं। यहाँ अनुमीयमान कारण परोक्ष है, अनवभात या अनाभास नहीं।

६७. शैवों के यहाँ प्रत्यक्ष–अनुपलम्भपञ्चक के आधार पर व्याप्तिनिश्चय होता है : प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकादेव अस्मद्दर्शनोचितान्तर्मुखस्वसंवेदलक्षणस्वतन्त्रात्मतत्त्वविश्रमादेव कार्यकारणतासिद्धि:। तत्रापि च सार्वत्रिकतानिश्चये [.....] भगवन्नियतिशक्तिरेव प्रभवन्ती निरूपणीया। (ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २०५)। तीन अनुपलम्भ और दो प्रत्यक्ष मिलकर इस पंचक को बनाते हैं। (१) अग्नि के प्रत्यक्ष होने पर, (२) धूम को न देखना, (३) फिर धूम को प्रत्यक्ष से देखना, (४) अग्नि को न देखने पर, (५) धूम को भी न देखना, ये पांच (दो उपलम्भ+तीन अनुपलम्भ) अन्वय–व्यतिरेक के द्वारा कार्यकारणभाव अर्थात् व्याप्ति का ग्रहण कराते हैं : इह अग्नौ प्रत्यक्षे धूमं नोपलभते, ततो धूमं प्रत्यक्षेण पश्यति, अग्निं तु यदि न उपलभते धूममपि नोपलभते इति प्रत्यक्षाभ्याम् अनुपलम्भैश्च इति पञ्चकात् कार्यकारणभावो धूमाग्न्यो: सिध्यति। (ई.प्र.वि., १, पृ. ३५) पहले तीन से अन्वय (अग्नि, धूमाभाव, धूम) और बाद वाले दो से व्यतिरेक (तदेव, पृ. ३६०; भा.,१, पृ. ३५९) द्वारा हेतु और साध्य का संबंध ग्रहण होता है। विवृत्तिविमर्शिनी में ई.प्र.का. १/७/४ की व्याख्या में अभिनव इस क्रम को पलट देते हैं। वहाँ पहले व्यतिरेक और फिर अन्वय के माध्यम से इसी प्रत्यक्षानुपलम्भ–पञ्चक की चर्चा करते है (२, पृ. ३४५) : (१) इह अग्नेरनुपलंभे (२) धूमस्य अनुपलम्भ: (३) ततोऽग्ने: प्रत्यक्षतया उपलम्भेऽपि (४) तत्काल अनुपलब्धधूमस्य (५) अनन्तरक्षणे प्रत्यक्षीभावाद् उपलम्भ इत्येवं प्रत्यक्षद्वयम् अनुपलम्भत्रयम् इति प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चकं प्रसाध्य अन्वयव्यतिरेकसिद्धिपरमार्था कार्यकारणभावस्य प्रसिद्धिमभिमन्यन्ते। चित्तानुबोधशास्त्र में भास्करकण्ठ इन्हें लिङ्ग के अन्वयव्यतिरेकात्मक पांच रूप कहते हैं। इनसे संरचित प्रमाण अनुमान है, जिससे वस्तु या अर्थ का बोध होता है : अन्वयव्यतिरेकैस्तु तद्वत्पञ्चभिरन्वितम्। रूपैर्लिङ्गं बुधै: प्रोक्तमत्र मानं ततोऽर्थधी:।। (१/१८८) सच पूछा जाए तो शैव अन्वय और व्यतिरेक में मौलिक अंतर नहीं करते। प्रत्यक्ष का साधन अन्वय है और अनुपलंभ का व्यतिरेक। चूँकि अभाव यहाँ भावान्तर है, अत: अनुपलंभ का अर्थ है अन्योपलम्भ (अनुपलम्भोऽपि अन्योपलम्भरूप आभासमात्रविश्रान्त एव – ई.प्र.वि., १, पृ. २३३)। कार्यकारणभाव का निश्चय अन्वय–व्यतिरेक से इसलिए होता है कि चाहे अन्वय हो या व्यतिरेक दोनों दो नियत संबंधियों की अपेक्षा करते हैं : इह हि व्यतिरेको नाम अन्वयसचिव: कार्यकारणभावात्मा प्रस्तुत:। कार्यकारणभावश्च वस्तुनी एवेति व्यतिरेकोऽपि अन्वयवत् नियतवस्तुद्वयपरमार्थ एव।– ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २२० जब केवल प्रत्यक्ष एवं अनुपलंभ अभिप्रेत हैं तो द्विवचन का, और जब प्रत्यक्षानुलम्भपञ्चक अभिप्रेत है तो बहुवचन का, प्रयोग करते हैं किन्तु रहते वे भावनिष्ठ ही हैं : इत्येवं प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां तैर्वा भावनिष्ठोऽन्वयव्यतिरेकात्मा कार्यकारणभाव: साध्यते। – तदेव

से लेते हैं, पर विज्ञानवाद के मत का अनुसरण करने पर व्याप्ति बनती नहीं दीखती। सच पूछा जाए तो उनके यहाँ हेतु और साध्य का अविनाभाव एक तरह से सभी प्रमाताओं को आभात नहीं होता, कुछ को ही आभात होता है। क्योंकि विज्ञानवाद के अनुसार हर संतान के आभास दूसरी संतान के आभास से भिन्न होते हैं। अतः अग्नि और धूम के आभासों के मध्य जिस कार्यकारणता का ग्रहण होता है, वह उसी प्रमातृविशेष का होता है। दूसरी (प्रमातृ-)संतान के अग्नि और धूम के मध्य इस कार्यकारणता का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि एक सन्तान को दूसरी सन्तान के बारे में कुछ पता नहीं होता। ऐसी स्थिति में अपने संतान(एक प्रमाता की संतान)गत धूमाभास से कीड़े-मकोड़े से लेकर सर्वज्ञ पर्यन्त अन्य प्रमातृसन्तानगत अग्नि का अनुमान संभव नहीं है। इस प्रकार विज्ञानवाद में व्याप्ति की सार्वत्रिकता और फलतः सार्वकालिकता सध नहीं पाती। काश्मीर शैवों की स्थिति इससे भिन्न है। इस दर्शन में व्याप्ति-ग्रहण के समय अग्नि का आभास और धूम का आभास सभी प्रमाताओं, जिनकी उपस्थिति की उस स्थल में संभावना की जा सकती है, को एक या समान ही होता है।[६८] यह एकता परमेश्वर की नियति शक्ति के द्वारा संपादित होती है। आभासवाद के अनुसार जब रसोई में (या अन्यत्र) एक या एकाधिक प्रमाता प्रत्यक्ष या अनुपलम्भ पूर्वक अग्नि और धूम के मध्य अविनाभाव संबंध का ग्रहण करते हैं तो यह संबंध अग्निसामान्य और धूमसामान्य के मध्य होता है, यद्यपि जहाँ तक प्रत्यक्ष का संबंध है वह विशेष का ही होता है। अर्थात् बुद्धि, देह, स्थान, काल आदि के भेदों के बावजूद आभासवाद के अनुसार, नियतिशक्ति अग्नि और धूम इन दो आभासों के विषय में सारे प्रमाताओं को एक कर देती है।[६९] दूसरे शब्दों में अग्नि और धूम के आभास सारे प्रमाताओं के प्रति 'एक' हो जाते है, जैसे बाह्यार्थवादी न्याय आदि दर्शनों में। यही बात शैवों को विज्ञानवादियों से भिन्न करती है। अभिनव कहते हैं कि सौगतों का अनुमानविषय अपोहरूप होने के कारण अवस्तु है, उसकी प्रवर्तकता पहले देखी हुई स्वलक्षणरूपता के अध्यवसाय पर निर्भर करती है। पर यह बात भी वस्तुतः टिकती नहीं, क्योंकि निरंशस्वलक्षणात्मक वस्तुवादी बौद्धों के यहाँ पर्वत पर अग्नि पूर्वप्रत्यक्ष का विषय है ही नहीं, अतः उसका अध्यवसाय भी असंभव है और रसोई घर की आग पर्वतगत अग्नि से भिन्न है। फलतः अनुमान द्वारा प्रमित वस्तु की प्रवर्तकता खटाई में पड़ जाती है। शैवों के यहाँ अग्न्याभास

६८. इह तु दर्शने व्याप्तिग्रहणावस्थायां यावन्तस्तद्देशसंभाव्यमानसद्भावाः प्रमातारस्तावतामेकोऽसौ धूमाभासश्च वह्न्याभासश्च बाह्यनये इव, तावति तेषां परमेश्वरेणैक्यं निर्मितम् इति हि उक्तम्। - ई.प्र.वि., २, पृ. १८३

६९. तत्रापि क्वचित् आभासे प्रमातॄन् एकीकरोति नितम्बिनीनृत्त इव प्रेक्षकान्। तावति हि तेषामैक्यम्। - तदेव, १, पृ. २३९

ही वस्तु है और सर्वत्र एक है।[७०] फलतः अपनी या अन्य की विज्ञान संतति के संदर्भण के बिना 'धूमाभासमात्र अग्न्याभासमात्र का कार्य है' इस व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। कार्याभास, कारणाभास और प्रमाता इनकी सामान्य रूप एकाकारता का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि व्याप्ति का ग्रहण एक ही बार में हो जाता है।[७१] व्याप्तिग्रहण के बाद दुबारा धुएँ, जो स्वविज्ञानसन्तानवर्ती है, को देखते ही 'इस पर्वत पर जो धूमाभास है वह भी अग्न्याभास से ही है' इस व्याप्ति को याद कर अग्निसामान्य का अनुमान करता है 'इस पर्वत पर अग्नि है'। तात्पर्य यह कि वह प्रमातृविशेष, जो अनुमान कर रहा है, पहले (वहाँ पर विद्यमान) अन्य प्रमाताओं के साथ उस धूमविशेष (जो पर्वत की चोटी पर दिखाई पड़ रहा है) के साथ एकाकार होता है; तदनन्तर वह्न्याभास के सामान्य अंश,

---

७०. सौगतानामपि अनुमितम् अपोहरूपम् अवस्तु पूर्वदृष्टस्वलक्षणरूपतावसायविश्रान्तेनैव अर्थक्रियार्थिनाम् अर्थनीयं प्रवर्तकं च भवति। तेषां तु एतत् स्वलक्षणात्मकनिरंशवस्तुवादिनाम् समर्थयितुमशक्यं गिरिवर्तिनोऽदृष्टत्वाद् अनध्यवसेयत्वात् महानसवर्तिनश्च ततोऽन्यत्वात्। अस्माकं तु वह्न्याभास एव वस्तु च एकश्च सर्वत्र इति न दोषः। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. १०९

७१. इति व्याप्तिरेकवारं शक्या गृहीतुम्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २१५ शैव भूयोदर्शन से व्याप्ति नहीं मानते। इस दृष्टि से उनका नैयायिकों से भी मतभेद है। वैयाकरणों की भांति शैव सकृद्दर्शन से हेतुभाव का निश्चय मानते हैं : सकृद्दर्शनादपि हेतुभावोऽवगम्यते। यस्य हि यज्जनकं न भवति तस्मात् (सकृदपि तत्र न जायते)। (वाक्यपदीय ३/१, पृ. २५२; १/७–८ अय्यर द्वारा उद्धृत, पृ. ३२३) इसका एकमात्र कारण यही है कि यदि कोई वस्तु कारण नहीं है, तो उससे कार्य की उत्पत्ति एक बार भी संभव नही है। किसी दूसरे हेतु की कल्पना या आशंका कार्य–कारणभाव की मर्यादा को ही ध्वस्त कर देगी। (द्र. अभि. तंत्राग., पृ. २४४) वस्तुतः शैवों का मानना है कि व्याप्ति का आधार नियति शक्ति द्वारा अवभासित आनन्तर्य–नियम है, भूयोदर्शन नहीं। एक तो, 'धूम को अग्नि के अनन्तर ही होना चाहिए' इस तात्कालिक दर्शन के सर्वत्र उपलब्ध न होने के कारण भूयोदर्शन में विश्वास जम नहीं पाता। दूसरे, भूयोदर्शन में प्रत्यक्ष–सामग्री के बीच में अपनी सन्निधि को भी बलात् प्रविष्ट कराने के कारण ('यदि मैं इस जगह द्रष्टा के रूप में न होता तो धूम भी न होता') परदर्शन (मद्रूप प्रमाता की दर्शनक्रिया) का उपजीवी होने के कारण इस निश्चय में आगम या शब्दप्रमाण (मद्रूप द्रष्टा के वचन का प्रमाण) को स्वीकार करना होगा : केवलं स्वसंवि–द्विजृम्भावशादेव यत्र नियतिशक्त्या आनन्तर्यनियमोऽवभास्यते तत्र जाग्रद्–व्यवहारः कारणतानिश्चयश्च। ततो कुतोऽयं निश्चयःअग्न्यनन्तरेणैव धूमेन भवितव्यं तात्कालिकस्य दर्शनस्य सर्वत्र अव्यापारात् भूयोदर्शनेऽपि अनाश्वासात्। भूयो दर्शने च सामग्रीमध्ये स्वात्मसन्निधानस्य प्रवेशितत्वात् [.....] परदर्शनेन तथानिश्चये आगमोऽङ्गीकृतो भवेत्। (ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ८७) भूयोदर्शन में अभिनव अनवस्था, अन्योन्याश्रयता, सारी व्यावृत्तियों की सार्वकालिक एकरूपता की असंभावना आदि अनेक विप्रतिपत्तियों की चर्चा करते हैं। साथ ही वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि यह आनन्तर्य धूम और अग्नि के स्वरूप का अङ्ग नहीं है, वह केवल नियति के कारण निर्धारित होता है। उनका स्वरूप तो तत्तत्प्रत्यवमर्शरूप ही है। – तदेव, पृ. ८७–८८

जिसमें परोक्षरूपता का अंश जुड़ा हुआ है (अर्थात् परोक्ष) और जो (वह्नि के) विशेषाभासों से अलग है, के विषय में (वहाँ पर वर्तमान) अन्य प्रमाताओं के साथ वह्न्याभासग्रहण के माध्यम से एकत्व को प्राप्त करता है।[७२] निष्कर्षतः कार्यकारणता–ग्रहण में सारे कार्य और कारण रूप आभास भी एक हैं और कीड़े–मकोड़े से लेकर सदाशिव तक प्रमाता भी एक है। अतः सन्तानगत परिनिष्ठता आड़े नहीं आती।[७३]

सन्तानगत परनिष्ठता की अकिंचित्करता पर शैव प्रमाणशास्त्री कुछ अधिक गम्भीरता से विचार करते हैं। बाह्य विषय जैसे घटाभास और इस नाते धूमाभास और अग्न्याभास आदि देवदत्त और विष्णुमित्र में भले ही एक जैसे हों, परन्तु जो व्यक्तिनिष्ठ चेष्टाएँ या मानसिक व्यापार हैं, उनमें यह ऐक्य या अभेद कैसे होगा? उदाहरण के लिए वक्ता में बोलने की क्रिया का रूप है 'बोलता हूँ' (व्याहरामि), जब कि श्रोता में रूप होता है 'बोलता है' (व्याहरति)। इनमें अभेद कैसे होगा, भेद होने पर अनुमान कैसे होगा?[७४]

इस शंका का अभिनव अत्यन्त सूझभरा उत्तर देते हैं। जो कुछ भी बाह्येन्द्रियों से गृहीत होता है, वह सब सर्वप्रमातृसाधारण होता है। इस प्रकार जब कान में 'घड़ा लाओ' शब्द पड़ता है, तब 'कथन' या 'व्याहरण' पद से वाच्य वह शब्द सुनने और बोलने वाले दोनों को एक–सा ही प्रतीत हो ता है। अपने व्याहराभास ('व्याहरामि' = बोलता हूँ) की तरह वह निर्विकल्प होकर भी श्रोता को स्वसंवेदन से ज्ञात होता है। परन्तु विकल्पन की स्थिति में और पर के संस्कार के कारण परता का अध्यवसाय होने पर भी केवल कथन या व्याहरण मात्र के अन्यथाभाव या अन्यत्र स्थित होने के कारण वह परता–बोध बेकार ही होता है, जैसे नील ज्ञान में स्थिरता का प्रत्यय अकिंचित्कर रहता है। व्याप्तिग्रहण काल में भी उसी व्याहरणाभास से ही व्याप्ति बनती है। उस विशिष्ट व्याहरणाभास (व्याहरति) से उस शरीर (पर/अन्य के शरीर) के साथ होने वाली 'बोलूँ' (व्याहरेयम्) इस इच्छा का यह अपने में ही विश्रान्त (अस्मदर्थविश्रान्त) रूप में अनुमान करता है।[७५] इस प्रकार

७२. तावति धूमाभासविशेषे प्रमात्रन्तरैः सह एकीभूय वह्न्याभाससामान्याभासांशे परोक्षरूपांशसहिते विशेषाभासान्तरविविक्ते प्रमात्रन्तरैः साकमेकीभवति इति यावत्। – ई.प्र.वि., २, पृ. १२४

७३. ततश्च भगवान् सदाशिवो जानाति इत्यतः प्रभृति क्रिमिरपि जानाति इत्यन्तम् एक एव प्रमाता इति फलतः सर्वज्ञत्वं प्रमातुः। – ई.प्र.वि., १, पृ. ७६–७७

७४. ननु घटाभासो देवदत्ते विष्णुमित्रे च तुल्य इति भवतु एकः व्याहाराभासस्तु व्याहर्तरि 'व्याहरामि' इति, एवं श्रोतरि 'व्याहरति' इति, तत्कथमनयोरभेदः, भेदे च अनुमानं न युक्तम्। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १५१

७५. व्याप्तिग्रहणकालेऽपि तेनैव व्याप्तिः। ततो विशिष्टाभासात् तच्छरीरसहभाविनीं व्याहरेयम् इति इच्छाम् अस्मदर्थविश्रान्ताम् अनुमिमीते। – तदेव

उसे यह बोध होता है इस शरीर में 'बोलूँ' यह आभास केवल इस शरीर में अपनी प्रमातृताभिमान की दृढ़ता के कारण होता है, इसी शरीर को यदि दूसरे का या परतया, माना जाए तो बोध होगा कि 'बोलता है'। अत: अन्य ('पर') प्रमाता की इच्छा भी अनुमान का विषय न होकर स्वसंवेदनतया ऊहन का विषय है।[७६]

आभासवाद की शब्दावली में अपने स्वसंवेदन में होने वाला व्याहाराभास विषयक अनुमान केवल व्याहारमात्र की सिद्धि करता है (व्याहारमात्रसाधनम्)। लेकिन विकल्प बोध में 'बोलता हूँ' और 'बोलता है' ये दोनों आभासमेलनात्मक हैं। एक में अहन्ताभास के साथ और दूसरे में देहाभास के साथ व्याहरण रूपी अतिरिक्त आभास का मिश्रण होता है। अत: अधिकाभास (अहंतया/देहाभासतया) का परिहार कर जो व्याहरण रूप एकमात्र आभास बचता है, उसे ही हेतु मानना चाहिए। वह चूंकि एकात्मक ही होता है, न कि विज्ञानवाद की तरह भिन्नस्वभाव, अत: हेतु की एकरूपता सुरक्षित रहने से व्याप्ति-निर्माण और तज्जन्य अनुमान में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती।[७७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुमान में जिस अग्नि को परोक्षत्वेन अनाभात फलत: अवस्तु समझा गया था, वह न तो अनाभात है और न अवस्तु। वह वस्तु है। परोक्ष होने पर भी वह सारे प्रमाताओं के प्रति अपने सामान्यांश में एक है, अत: वह पर्वतस्थ धूमविशेष का कारण है। इस निश्चय से कि धूम इसका अव्यभिचारी लिङ्ग या गमक है, उसी का अनुमान में व्यापार होता है।[७८] अत: शैव मत में बाधा नहीं होती। भास्कर के शब्दों में

७६. ई.प्र.का. १/१/५ ; और भी देखिए अरिंदम चक्रवर्ती का लेख "Arguing from Synthesis to the Self : Utpala and Abhinavagupta Respond to Buddhist No-Self-ism" पंचम बिन्दु: Synthesis Goes Beyond the Individual : From Other times to Other Subjects., (प्रति लेखक के सौजन्य से)।

७७. इदं व्याहारमात्रसाधनम् अनुमानं मौलिके सिद्धे स्वसंवेदने, आभासमेलनात्मकं च इदं व्याहरामि, व्याहरति इत्युभयमपि एकम् अहन्ताभासेन, अपरं देहाभासेन व्याहरणाभासाधिकेन मिश्रं यत:, ततस्तदधिकाभासपरिहारे यत् व्याहरणाभासरूपम् एकतया चकास्ति तदेव हेतूकर्तव्यम्। तच्च एकरूपमेव, न तु विज्ञाननय इव भिन्नस्वभावमिति न कश्चन विरोध:। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १५२

७८. भूयस्तत्तत्प्रमात्रेकवह्न्याभासादितो भवेत्।
परोक्षादप्यधिपतेर्धूमाभासादि नूतनम्।।
कार्यमव्यभिचार्यस्य लिङ्गम् [.....]। – ई.प्र.का. २/४/१२-१३,; 'भूय:' के दो अर्थ हैं (१) 'व्याप्तिग्रहण के अनन्तर' और (२) 'ढेर सारे प्रमाताओं का' (भूयसाम्) : भूयश्च पुनरपि भूयसां वा अन्वयव्यतिरेकपर्यायेण अनियतानां तेषां क्रिमिसर्वज्ञपर्यन्तानां प्रमातृणाम् एक एव यो वह्न्याभासो न तु सन्तानभेदेन भिन्न:। – (ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २१५)

उत्पल के मत का इस प्रकार संग्रह किया जा सकता है : न केवल व्याप्तिग्रहणकाल में अपितु अनुमानकाल में भी (अग्नि आदि के साथ उठा) नया धुआँ कारणभूत (=अधिपति), अदृश्य होने के कारण परोक्षतया स्थित, उन–उन प्रमाताओं में एकीभूत वह्न्याभास से ही होता है, अतः कार्यभूत धूम (कारणभूत अग्नि का) अव्यभिचारी लिङ्ग होता है।[७९]

यहाँ पर शैव, अनुमान से संबद्ध, एक चिरन्तन विरोधाभास को भी सुलझाने का प्रयास करते हैं। कारणता–नियम से साश्रित व्याप्ति के आधार पर प्राप्त अनुमेय को नूतन या अपूर्व माना गया है, तभी प्रमाण लक्षण –अपूर्वज्ञात का ज्ञान– की सार्थक प्रवृत्ति मानी जाती है। प्रश्न है कि अनुमान का स्वभाव तो निगमनात्मक है, अर्थात् अनुमानजन्य ज्ञान तो अपने प्रतिज्ञावाक्य और हेतुवाक्य से निगमित होने के कारण मूल प्रतिपत्ति में ही अंतर्गर्भित है, अतः उसे नया, नूतन या अपूर्व कहना आपाततः समंजस नहीं लगता।[८०] संभवतः एक उत्तर जो प्रायः दिया जाता है और जो अवयवी को अवयवों से भिन्न मानने वाले नैयायिकों के अनुगुण कहा जा सकता है वह यह है कि अनुमानजन्य ज्ञान अवयवी है, एवं प्रतिज्ञा/हेतु आदि अपने से भिन्न अवयवों से निगमित होने के कारण अपूर्व है। पर यहाँ कमजोरी यह है कि अवयवी का अवयवों से निगमन नहीं होता, अपितु अवयवों में अवयवी रहता है। शैवों का दूसरा विकल्प नवीनता को स्फुटतरता की शब्दावली में समझाने का हो सकता है, पर वहाँ दो कठिनाइयां है कि साध्य परोक्ष होता है और दूसरे, या कहिए कि इसी कारण से, स्फुटतरता का संबंध प्रत्यक्ष से जोड़ा जाता है। अतः यह निदान भी कारगर नहीं होता। तीसरा विकल्प है कि अनुमान से प्राप्त ज्ञान विषय का विशेषीकरण करता है। अभिनव के विवेचनों के आलोक में इसे विकल्पनविशेषीकरण कहा जा सकता है, ठीक जैसे प्रत्यक्ष में स्फुटीकरण होता है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, अनुमेय के सामान्याभास होने पर भी उसका अनुमान के द्वारा प्राप्ति योग्य या प्रवृत्तियोग्य वस्तु के रूप में निश्चयरूप विकल्पन होता है, यही उसकी अपूर्वता है।[८१] व्याप्ति की पूर्वकालता होने पर भी अनुमान की पश्चात्वर्तिता का यही रहस्य है। इस प्रकार व्याप्ति विशेष से सामान्य की ओर जाने की प्रक्रिया है और अनुमान सामान्य से विशेष की ओर आने की। यदि इसे विशेषीकरण माना जाए तो शैव इसके बीज कारणता या अविनाभाव के ग्रहण की अपनी मौलिक स्थापना में पाते हैं। जो कारण है उसी से कार्य जन्म लेता

---

७९. भा., २, पृ. १८५

८०. प्रसिद्ध दर्शनवेत्ता राजेन्द्रप्रसाद अपनी *Dharmakirti's Theory of Inference*, पृ. XLiii पर यह प्रश्न उठाते हैं।

८१. ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १५६

है और उसी कार्यरूप हेतु से कारणरूप साध्य का अनुमान नूतन कहा जाएगा। यदि अन्य किसी हेतु से उसी कारण का अनुमान किया जाता है तो वह नूतन नहीं होगा, अपूर्व नहीं होगा। यहाँ पर शैव गड़रियों की हांडी (गोपालघटिका) का प्रसिद्ध दृष्टान्त लेते हैं और दिखाते हैं कि हांडी में बुझे हुए कोयलों से निकलनेवाला धुआँ स्वगृहीत व्याप्ति वाली अग्नि से नहीं अपितु दूसरे के पास रहने वाली हांडी के कोयलों से ही उत्पन्न माना जाएगा और उससे यदि परोक्ष अग्नि का अनुमान किया जाएगा तो वह न तो नूतन होगा और न ही प्रामाणिक।[८२] दूसरे शब्दों में यहाँ हेतु, हेतु न होकर हेत्वाभास होगा। सादृश्य या अविवेक पर आश्रित यह तथाकथित अनुमान स्वसाध्य वस्तु का विशेषीकरण करने में असफल रहेगा। अभिनव आगाह करते हैं कि आनुमानिक निर्णय में हमें बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है।[८३]

ऊपर हम देख आए हैं कि विज्ञानवादियों की आलोचना के द्वारा शैव परम्परावादी अपने मत की प्रतिष्ठा करते हैं। परन्तु यह आलोचना विध्वंसात्मक न होकर रचनात्मक है। क्योंकि शैवों का मानना है कि विज्ञानवाद के लक्ष्यों की प्राप्ति –अनुमान समेत सारे प्रमाणफलों की पारमार्थिक विज्ञानरूपता– शैवों की पद्धति से ही शक्य है। वे इस बात को दुहराते हैं कि ज्ञान की अखण्ड यात्रा में प्रमाण, और इसीलिए अनुमान, की भूमिका आंतरालिक मात्र है। व्याप्ति के ग्रहण–काल में (यदि इसका यौक्तिक विस्तार करें तो स्मरणात्मक धारण की निरन्तरता में) और अनुमिति अर्थात् अनुमित्याकार अंतर्विमर्श के क्षण हमारा बोधव्यापार प्रमातृनिष्ठ होने के कारण अहंतया ही होता है, केवल अनुमान अर्थात् प्रमाण–काल में ही इदंतया होता है। अतः अनुमान से भी प्रमाण और प्रमा और उनके द्वारा प्रमाता और विषय का अभेदन होता है, फलतः चिद्रूपता अबाधित रहती है।[८४]

अनुमान के अङ्ग, घटक या अवयव

अनुमान के अङ्ग, घटक या अवयवों की संख्या या स्वरूप के विषय में हमारी

---

८२. [.....] अन्यप्रमातृगात्। तदाभासस्तदाभासादेव त्वधिपतेः परः।। – ई.प्र.का. २/४/१३

८३. इति तथाभूतात् धूमाभासात् कथमकारणभूतो वह्न्याभासोऽनुमीयताम् इत्यभिप्रायशेषः। कुशलाश्च लक्षयन्त्येव विवेकम्, अस्यार्थस्यानुमानिकबहुतरव्यापारोपयोगिनो यत्नेन व्युत्पत्तिः कार्या। – ई.प्र.वि., २, पृ. १८६–१८७ अभिनव की इस सावधानी का परिचय रस के प्रकरण में शंकुक के मत की समीक्षा और शब्दवृत्ति के संदर्भ में रुय्यक द्वारा की गयी महिमभट्ट की समीक्षा में भूरि भूरि मिलता है।

८४. अनुमानं हि अत्र विद्युत्प्रभान्यायेन मध्ये परम् इदन्तां भासयति, मूले व्याप्तिग्रहणावसरे, पर्यन्ते च अनुमितप्रतिपत्तिप्रतिष्ठाकाले अहमित्यत्रैव विश्रान्तत्वात्। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. १०८

सूचनाएँ सीमित हैं। मालिनीविजयवार्तिक में अभिनव चार घटकों का उल्लेख करते हैं[८५] – पक्ष, पक्षधर्म, पक्षधर्म की व्याप्ति और उस व्याप्ति का बोध (तत्प्रतीति?)। इसका स्वरूप क्या है, इसको लेकर वे मौन हैं। विवृति-विमर्शिनी में तीन अंगों का उल्लेख हुआ है-अन्वय, व्यतिरेक और पक्षधर्मता। अन्वय-व्यतिरेक को यदि व्याप्ति या अविनाभाव का प्रतीक माना जाए तो तीन अङ्ग होंगे-व्याप्ति, पक्ष और पक्षधर्मता (पक्ष की गणना पक्षधर्मता से आक्षिप्त होती है)। पक्षधर्मता (हेतु का पक्ष में पाया जाना) का ग्रहण अनुमानकालिक प्रत्यक्ष से होता है[८६], और व्याप्ति का ग्रहण पूर्वकालीन प्रत्यक्षविकल्प से। व्याप्ति नान्तरीयक संबंध का नाम है, जिसका स्वरूप है हेतु और साध्य के मध्य आधाराधेयता का सामान्यभाव से ग्रहण।[८७] जिसमें हेतु आधेय और साध्य आधार होता है। या दूसरे शब्दों में हेतु सदैव साध्य से व्याप्त होता है, इसके विपरीत नहीं।[८८] यह अवश्य स्मरणीय है कि स्वभावहेतु और स्वभावसाध्य के बीच व्यापन समपरिमाणी होता है अर्थात् आधार का आधेय का व्यापक होना केवल उपचार से है। इससे भिन्न कार्य-हेतु और कारण-साध्य के मध्य व्याप्ति विषमपरिमाणी होती है अर्थात् कारण वस्तुत: कार्य का व्यापक होता है और कार्य कारण का व्याप्य।[८९] इसीलिए इसे स्वाभाविक और अव्यभिचरित नियम कहा गया है।[९०] व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है, परन्तु यह प्रत्यक्ष हेतु वस्तु और साध्य वस्तु का दर्शन मात्र नहीं है। यह प्रत्यक्षों और अनुपलम्भों की श्रृंखला का एक क्रम में ग्रहण है। इस क्रमयोजना को शास्त्रीय भाषा में अन्वय-व्यतिरेक कहते हैं। अत: यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष या दर्शनमात्र नहीं है, अपितु विकल्प-प्रत्यक्ष है। इस अन्वय-योजना और व्यतिरेक-योजना के कारण व्याप्ति के दो प्रकारों की कल्पना की गयी है – अन्वय-व्याप्ति और व्यतिरेक-व्याप्ति। सामान्य भाषा में जिसके होने पर जो हो वह अन्वय और जिसके न होने पर जो न हो

---

८५. स एव चानुमानं स्यात्तस्यैता: परिकल्पना:।
पक्ष-तद्धर्म-तद्व्याप्ति-तत्प्रतीत्यादयोऽखिला:।। – मा.वि.वा. १/७६७

८६. अन्वयव्यतिरेकवत् पक्षधर्मता अपि नाम तृतीयमङ्गमनुमानस्य। सा च प्रत्यक्षेण अधुनातनेन गृहीता। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १६३

८७. प्रत्यक्षविकल्पानुगृहीतो व्याप्तिविकल्पो [.....], आधाराधेयतायाश्च व्याप्तौ सामान्येन स्फुरणात् 'यत्र यत्र इति।' – तदेव

८८. प्र.प्र.मी., पृ. २७६-२७७

८९. इन्हें क्रमश: समव्याप्तिक और विषमव्याप्तिक हेतु कहा गया है : स्वभावहेतौ तन्मात्रानुबन्धवैचित्र्यं नास्ति, विषमव्याप्तिके तु अस्ति। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २०२; द्र., प्र.प्र.मी., पृ. २८१

९०. स्वभाविकाव्यभिचरितनियम:। – ई.प्र.वि., २, पृ. १२८(?); तत्रैव उद्धृत

उसे व्यतिरेक कहा जाता है।[९१] पहला संबंधी कारण और दूसरा कार्य कहा जाता है। परन्तु यहाँ इनको थोड़े से भिन्न तरह से प्रस्तुत किया गया है। प्रत्यक्षानुपलम्भपञ्चक के पूर्व विवरण में हम देख चुके हैं कि अन्वय यहाँ त्रिचरणीय प्रक्रिया है : अग्नि के देखे जाने पर धूम का न पाया जाना और अनन्तर क्षण में धूम का दिखाई पड़ना। व्यतिरेक द्विचरणीय प्रक्रिया है : जब अग्नि नहीं दिखाई पड़ती, तो धूम भी नहीं दिखाई पड़ता।[९२] इसे भास्करकण्ठ तार्किकों अर्थात् नैयायिकों का मत कहते हैं[९३], पर काश्मीर शैवों में इसकी मान्यता को लेकर कोई संदेह नहीं होता। यह अवश्य ध्यान रखना है कि अन्वय, व्यतिरेक का यह ग्रहण एक प्रमातृविश्रान्त ही मान्य होगा।[९४]

गीता रस्तोगी प्रकारान्तर से व्याप्ति के सम और विषम नामक दो भेदों की चर्चा करती हैं।[९५] इसमें समव्याप्ति वह है जिसमें हेतु और साध्य का अधिकरण समान अर्थात् एक ही होता है, जैसे शिंशपा और वृक्ष। विषमव्याप्ति वह है, जिसमें हेतु और साध्य का अधिकरण विषम अर्थात् भिन्न-भिन्न होता है जैसे धूम और अग्नि। परन्तु यह बौद्धों का मत है और शैव मत में इसकी संगति विचारणीय है।

अनुमान का दूसरा महत्त्वपूर्ण अङ्ग है पक्षधर्मता। इस संबंध में प्रत्यभिज्ञा दार्शनिकों का कोई साक्षात् कथन नहीं प्राप्त होता। धूम से अग्नि के अनुमान में पर्वत को पक्ष कहा गया है, जहाँ धूमाभास के प्रत्यक्ष और अग्न्याभास के अनुमान की बात कही गयी है। इससे कहा जा सकता है कि पक्ष हेतु और साध्य दोनों का आश्रय है। साध्य की पक्ष में वर्तिता संदिग्ध है क्योंकि उसी का अनुमान किया जाता है और हेतु की वर्तिता निश्चित प्रत्यक्ष का विषय है।[९६]

---

९१. अभिनव के प्रयोग "लौकिकान्वयव्यतिरेकसिद्धप्रसिद्धकार्यकारणभाव०"(ई.प्र.वि.,१, पृ. २६) पर भास्कर की टिप्पणी : लोके हि यदन्वये यस्यान्वयः यस्य व्यतिरेके च यस्य व्यतिरेकः स तस्य कार्यत्वेन व्यवस्थाप्यते। – भा., १, पृ. २६; प्र.प्र.मी., पृ. २८१ पर उद्धृत

९२. तत्र अन्वये अग्निप्रत्यक्षम्, धूमानुपलम्भः, धूमप्रत्यक्षम् इति त्रयम्, व्यतिरेक अग्न्यनुपलम्भः, धूमानुपलम्भः इति द्वयम्। – तदेव, पृ. ३५८

९३. 'यदुक्तम्' तार्किकादिभिरिति भावः। – तदेव

९४. प्रत्यक्षानुपलम्भानां तत्तद्भिन्नांशपातिनाम्।
कार्यकारणतासिद्धिहेतुतैकप्रमातृजा।। – ई.प्र.का. १/७/४

९५. प्र.मी.मी., पृ. २८१; ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २०२; पृ. २२१

९६. भूयोऽपि पर्वते यो धूमाभासः सोऽपि अग्न्याभासादेव इति व्याप्तिं स्मृत्वा अनुमिमीते अत्र पर्वते अग्न्याभासः इति। – ई.प्र.वि., २, पृ. १८४

स्वाभाविक प्रश्न होता है कि अनुमान का साध्य क्या है। इस प्रश्न को दूसरी तरह से पूछ सकते हैं कि अनुमेय का स्वरूप क्या है। बौद्धों ने, विशेषत: दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने, इस पर गहरा मंथन किया है। हेतु, व्याप्ति और साध्यप्रतिपत्ति इन तीनों की दृष्टि से अनुमेय का अर्थ बदलता जाता है। हेतु की दृष्टि से अनुमेय पक्ष (धर्मी) है, व्याप्ति की दृष्टि से अनुमेय अग्नि (साध्यधर्म) है और अनुमान काल में अर्थात् साध्य की प्रतिपत्ति की दृष्टि से समुदाय अर्थात् अग्निविशिष्ट पर्वत अनुमेय है।[९७] यह दृष्टि दिङ्नाग से चली आ रही है कि अग्निविशिष्ट पर्वत का अनुमान होता है।[९८] सत्कारी मुकर्जी ने दिखाया है कि बाद के नैयायिकों, विशेषकर जयन्त भट्ट, और मीमांसक कुमारिल ने भी इसे स्वीकार किया था।[९९] परन्तु नैयायिकों ने प्रायेण अग्नि को अनुमान का साध्य माना है।[१००] शैव दार्शनिक नैयायिकों के मत से सहमत जान पड़ते हैं। यद्यपि शैवों के यहाँ शब्दत: अनुमेय के स्वरूप को स्थिर नहीं किया गया है, पर दृष्टान्तों के विषय में उनकी विश्लेषणात्मक टिप्पणियों से स्पष्ट है कि अग्नि ही उनके यहाँ अनुमान का ज्ञेय या साध्य है।[१०१]

इस प्रकार लिङ्ग के स्वरूप को लेकर भी हमारे पास स्वरूप–प्रकथनात्मक विवरणों का अभाव है। हेतु के दो रूपों कार्यहेतु और स्वभावहेतु के स्वरूप और शैवों के अनुसार उनकी नियत मर्यादा की विस्तृत विवेचना हम कर चुके हैं, किन्तु आनुमानिक प्रक्रिया की दृष्टि से हमें आगे के अध्ययनों की प्रतीक्षा करनी होगी।[१०२] इसका एक अच्छा तरीका उनके द्वारा दृष्टान्तित हेतु–वस्तुओं और हेत्वाभासों का विश्लेषण है, जिससे उसके स्वरूप और प्रक्रियात्मक पक्षों पर प्रकाश पड़ सकता है। यही बात हेत्वाभासों के बारे में कही

---

९७. अत्र हेतुलक्षणे निश्चेतव्ये धर्मी अनुमेय:। अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेय:। व्याप्तिनिश्चयकाले तु धर्मोऽनुमेय:। – न्या.बि.टी. २/६

९८. अत्र दिङ्नागेन [.....] अग्निविशिष्टदेशानुमानं समर्थितम्। – न्या.वा.ता., पृ. १७९–१८०, बौ.द.वि., पृ. १६० पर उद्धृत

९९. Buddist Philosophy of Universal Flux, पृ. ३५४; उद्धृत, तत्रैव

१००. साध्यम्। यथा पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यत्र वह्निरनुमेय:। – न्यायकोश, पृ. ३३

१०१. (अ) 'अग्निरत्र' इत्येवंभूते पृथक् अनुमानं प्रमाणम्। – ई.प्र.वि., २, पृ. ११६

(आ) कार्यं वा धूमादि अग्न्याद्यनुमाने, शिंशपात्वादिस्वभावो वा वृक्षत्वाद्यनुमाने एवं हेतुर्भवति। – तदेव, पृ. १७६

(इ) इति व्याप्तिं स्मृत्वा अनुमिमीते, अत्र पर्वते अग्न्याभास: इति। – तदेव, पृ. १८४

१०२. गीता रस्तोगी ने बौद्धों के त्रिरूप लिङ्ग – पक्षधर्मत्व, सपक्षसद्भाव और विपक्षव्यावृत्ति – को शैवों के

जा सकती है। ऐसा लगता है, 'लगता है' को रेखांकित करना होगा, कि उन्होंने बौद्धों से प्रभाव ग्रहण किया है, परन्तु यह केवल संभावना मात्र है।

सौत्रान्तिकों के बाह्यार्थानुमेयवाद की परीक्षा करते समय अभिनव विषय अर्थात् हेतु और साध्य भूत पदार्थों के प्रत्यक्ष की दृष्टि से दो भेदों, प्रत्यक्षतो दृष्ट और सामान्यतो दृष्ट, का उल्लेख करते हैं।[१०३] ऐसा लगता है कि सामान्यतो दृष्ट, जहाँ हेतु का सामान्यभाव से ग्रहण होता है, को वह सहानुभूतिपूर्वक देख रहे हों। परन्तु इस संबंध में अन्यत्र कोई विवरण उपलब्ध न होने के कारण शैवों की एतद्विषयक दृष्टि के बारे में हम अंधकार में ही हैं। इसी प्रकार भास्कर उत्पल की प्रसिद्ध कारिका **प्रागिवार्थोऽप्रकाश: स्यात्** (१/५/२) में केवलव्यतिरेकी अनुमानाकार देखते हैं। केवलव्यतिरेकी अनुमान व्याप्य के व्यापक पर आरोपणपूर्वक होता है और उपर्युक्त कारिका को उसके दृष्टान्ततया प्रस्तुत करते हैं। वहाँ अनुमान है 'शुद्धप्रकाशरूप: प्रकाशत्वात्' यहाँ ज्ञान के पूर्व काल का अर्थ ही व्यतिरेक में दृष्टान्त है, क्योंकि सारा वस्तुजगत् ही यहाँ पक्ष बना दिया गया है अत: अन्वय का दृष्टान्त असंभव है।[१०४] कठिनाई यह है कि हमारे पास किसी प्रकार का सैद्धान्तिक विश्लेषण या पौर्वापर्य में उपस्थापन नहीं है। अत: ऐसे संकेतों को केवल भविष्य के अनुसंधान के लिए छोड़ा जा सकता है।

प्रतिपत्ता की दृष्टि से अनुमान के दो भेद माने गए है। केवल एक ही स्थल है जहाँ दोनों, स्वार्थ और परार्थ, के नाम एक साथ अभिनव ने उत्पल के एक वाक्यांश की व्याख्या करते समय कण्ठश: लिए हैं।[१०५] दोनों भेदों में स्वभावहेतु के दोनों प्रकारों, स्फुटगर्भितकार्यकारणभाव और इससे विपरीत, को सक्रिय मानते हैं। परार्थानुमान का प्रयोजन बताया गया है दूसरे को

द्वारा अङ्गीकृत दिखाया है (प्र.प्र.मी., पृ. २८२)। परन्तु अभिनवगुप्त का वाक्य (ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८२) स्पष्ट रूप से बौद्धों के मत का उल्लेखन है और वह भी बौद्धों द्वारा मान्य अनुमान की अकिंचित्करता को दिखाने के लिए : 'प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमनिश्चितं चेत्, तर्हि पक्षधर्मत्व–सपक्षसद्भाव–विपक्षव्यावृत्तिप्रायं स्वरूपं प्रत्यक्षेणैव मूले निश्चेतव्यं यस्य लिङ्गस्य, तदपि न सिद्धम्।' किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि शैवों को बौद्धों की लिङ्गविषयक अवधारणा पूर्णत: अस्वीकार्य है। हो सकता है कि मान्य हो, यद्यपि अनुमान के संबंध में न्याय मत में उनकी आस्था कहीं अधिक है। हमारा मन्तव्य सिर्फ इतना है कि अपने ज्ञान की आज की स्थिति में हम कोई निर्णय लेने में समर्थ नहीं हैं।

१०३. ई.प्र.वि., १, पृ. २३१ : ननु भवतु प्रत्यक्षतो दृष्टेऽनुमाने संकथा इयम्, सामान्यतो दृष्टे तु किं वक्ष्यसि यथा अर्थोपलब्ध्या इन्द्रियानुमाने?

१०४. भा., १, पृ. २०१

१०५. 'प्रत्येति' इत्यादिना स्वार्थपरार्थभेदोऽनुमानस्य दर्शित:। – ई.प्र.वि.वि.,३, पृ. १९७; प्र.प्र.मी., पृ. २८४

ज्ञान कराना[१०६], इससे सीधे प्रतिफलित होता है कि स्वार्थानुमान का प्रयोजन अपने को ज्ञान कराना है। स्वार्थानुमान का अन्य कोई विवरण प्राप्त नहीं होता।[१०७] परार्थानुमान को शैवों ने बहुत आदर दिया है। इसे वे पंचावयवी मानते हैं। परार्थानुमान को पंचावयवी कहने का निहितार्थ यह भी है कि स्वार्थानुमान में इन पांचो की आवश्यकता नहीं है। सच बात तो यह है, यह बात कई बार सामने आ चुकी है, कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका की परिकल्पना ही पंचावयवी शास्त्र के रूप में की गयी है।[१०८] परार्थानुमान में उनका उपजीव्य है न्याय दर्शन का प्रमाणशास्त्र।[१०९] बौद्धों के त्र्यवयवी अनुमान की आलोचना करते हुए नैयायिकों के पञ्चावयवी मत को ही वे अंतिम प्रमाण मानते हैं।[११०] पाँचों अवयवों का नामत: या स्वरूप-विवेचनपूर्वक विस्तृत प्रतिपादन यद्यपि नहीं मिलता, पर स्थूलत: प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये पञ्चावयव न्याय की भांति स्वीकृत हुए हैं। इसका संकेत इस बात से मिलता है कि वे प्रत्यभिज्ञाकारिका के आदिवाक्य को प्रतिज्ञा, मध्यग्रन्थ को हेत्वादि और अन्त्यश्लोक को निगमन ग्रन्थ कहते हैं।[१११] हेत्वादि शब्द से दृष्टान्त और उपनय को अध्याहृत कर लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

परार्थानुमान को पंचावयवी मानकर शैव अनुमानाकार को भी अंतत: प्रत्यभिज्ञानात्मक बना देते हैं। उपनयं और निगमन वस्तुत: प्रतिज्ञा और हेतुवाक्य का पुनरनुसंधान है, वह केवल प्रतिज्ञा का अनुवाद या पुनरुक्तिमात्र नहीं है, नए अंश का उदय है। यहाँ अपूर्वता, नया अंश अपनी प्रतिज्ञा की पुनर्व्याख्या है। वस्तु के साथ पूर्वविभात नान्तरीयक वस्तु का पुन: प्रत्यक्ष और नान्तरीयकता का स्मरण प्रत्यभिज्ञानात्मक संरचना की पुनरावृत्ति करता हुआ एकतानुसंधान कराते हुए साध्य के सामान्य अंश में विशेषरूपता का विकल्पात्मक आधान करते हुए प्रत्यभिज्ञा के दूसरे अर्थ अतिशय या विशेषरूपता का भी अनुसंधान करता है, इसीलिए व्यवहारसाधन होते हुए भी शैव परार्थानुमान को परिपूर्णप्रतिपत्तिकारी मानते हैं।[११२]

---

१०६. परस्य प्रतिपत्त्यै, सा च परार्थानुमानात् तत्र च प्रतिज्ञादेरुपयोग:। – ई.प्र.वि., २, पृ. १४०; तदेव

१०७. शिवदृष्टि ५/५५ (स्वार्थनुमानं नैवं चेत्) और ५/६१ (एतयैव दिशा दूष्यं स्वभावाद्यमसंशयम्। परानुमाने) में दोनों का उल्लेख मिलता है, पर ये बौद्ध मत की आलोचना के प्रसंग में आए हैं।

१०८. इत्येवं पञ्चावयवात्मकमिदं शास्त्रं परव्युत्पत्तिफलम्। – ई.प्र.वि., १, पृ. ४३

१०९. नैयायिकक्रमस्यैव मायापदे पारमार्थिकत्वम् इति ग्रन्थकाराभिप्राय:। – तदेव

११०. यत्तु सौगतै: पञ्चावयवत्वादि दूष्यते, तदाग्रहमात्रम् [.....] तत् परिपूर्णप्रतिपत्तिकारि परमार्थत: सकलमेव शास्त्रं परार्थानुमानम् आगमव्यतिरिक्तं न्यायनिर्माणवेधसाक्षपादेन निरूपितम्। – तदेव,२, पृ. १४०

१११. इदं वाक्यमुद्देशरूपं प्रतिज्ञापिण्डात्मकं च, मध्यग्रन्थस्तु हेत्वादिनिरूपक:, [.....] इति च अन्त्यश्लोको निगमनग्रन्थ: इत्येवं पंचावयवात्मकमिदं शास्त्रं। – तदेव, १, पृ. ४३

११२. परिपूर्णप्रतिपत्तिकारि परमार्थत: सकलमेव शास्त्रं परार्थानुमानम्। – तदेव, २, पृ. १४०

अध्याय ७

आगम

संदर्भ और पृष्ठभूमि

आगम की गणना प्रमाणक्रम में यद्यपि तीसरे स्थान पर होती है, शैव परम्परा में इसकी महत्ता सर्वातिशायी है। अभिनव का मानना है कि आगम-तत्त्व को समझ पाना ही सारे ज्ञानात्मक व्यापार का अंतिम फल है।[1] आगम पर इस परम्परा में तीन संदर्भों में विचार हुआ है -वाक् के रूप में, प्रमाण के रूप में और तंत्र के रूप में। तीनों स्थलों के विवरणों में अक्सर एकरूपता या अतिव्याप्ति भी दिखाई पड़ती है।[2] चिति के प्रत्यवमर्शात्मक स्वरूप को परा वाक् कहा गया है।[3] सामान्यतः तंत्र और आगम का पर्यायशः प्रयोग बहुतायत से होता है। परन्तु दोनों में सूक्ष्म अंतर है। तंत्र, आगम का अभिधेय या प्रधान प्रतिपाद्य है, दूसरे शब्दों में तंत्र एक प्रकार से आगम का कॉन्टेन्ट (content) है। तंत्रालोक के अंत में अभिनव की उक्ति से यह बात स्पष्ट है।[4] हम आगे

---

१. आगमतत्त्ववेदित्वमेव विद्यास्थानफलम्। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. २१७ विवृतिकार उत्पल प्रमाणयोजना की उपजीव्यता का स्मरण करा रहे हैं, यह बताते हुए अभिनवगुप्त उपर्युक्त टिप्पणी करते हैं। इससे यह निष्कर्ष सहज निकलता है कि प्रमाण-व्यापार की पार्यन्तिक भूमि भी आगम ही है।

२. उदाहरण के लिए भास्करकण्ठ आगम का विशेष लक्षण आन्तर शब्दन में मूलित होना मानते हैं: अत्र च विशेषलक्षणम् आन्तरशब्दनमूलत्वमेव। (भा०,२, पृ. ९०)। यही लक्षण अभिनव प्रत्यवमर्शरूपा परा वाक् का देते हैं : प्रत्यवमर्शश्च आन्तराभिलापात्मकशब्दनस्वभावः। (ई.प्र.वि., १, पृ. २५२) यही नहीं, परा वाक् को प्रत्यवमर्शात्मक चिति कहते समय आग्रह उसकी चित्क्रिया-रूपता पर ही रहता है (चेतयति इत्यत्र या चितिः चितिक्रिया तदेव, पृ. २५०)। यही आग्रह आगम को चिद्रूप का अंतरंग व्यापार कहने में प्रकट होता है (आगमस्तु [.....] चित्स्वभावस्य [.....] अंतरंग एव व्यापारः तदेव, २, पृ. ८४)। इसका सीधा कारण दोनों आयामों की आधारभूत प्रत्यवमर्शरूपता में ढूंढा जा सकता है। हम आगे इन सभी प्रसंगों का आकलन करेंगे। वर्तमान में केवल विषय की जटिलता बताना ही प्रयोजन है।

३. (अ) चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता। - ई.प्र.का. १/५/१३
(ब) अहंप्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्माऽपि वाग्वपुः। - तदेव १/६/१

४. स तन्निबन्धं विदधे महार्थं युक्त्यागमोदीरिततन्त्रतत्त्वम्। - तं. ३७/८३

देखेंगे कि तंत्र, आगम का शब्दबद्ध या लिपिबद्ध रूप है। फलत: गौणी वृत्ति से ही तंत्र को आगम का पर्याय कह सकते हैं। सम्प्रति हमारा संबंध आगम प्रमाण से है। तंत्रालोक की ऊपर उद्धृत उक्ति में आगम का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है।[५]

जैसा कि हम पहले देख आए हैं, शैव प्रमाणविद् ज्ञान-क्रिया या ज्ञानात्मक व्यापार के तीन मूलभूत प्ररूपों की चर्चा करते हैं : साक्षात्करण, विकल्पन और शब्दन। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को क्रमश: इनसे सीधे जोड़ा जा सकता है । प्रत्यक्ष साक्षात्कारात्मक ज्ञान है, अनुमान विकल्पनात्मक और आगम शब्दनात्मक। प्रश्न यह है कि स्मरण, अनुभवन (साक्षात्करण) और अपोहन (विकल्पन) की भांति उत्पल और अभिनव शब्दन व्यापार या शब्दन-शक्ति की स्वतन्त्र रूप से चर्चा ज्ञानाधिकार में क्यों नहीं करते। संभवत: इसका कारण यह हो सकता है कि प्रकाश और विमर्श की अन्योन्यस्वभावता के कारण साक्षात्करण का शब्दन से व्यतिरेचन नहीं किया जा सकता। यह बात ज्ञानाधिकार में ज्ञानशक्तिनिरूपण में उभर कर आई है। यही कारण है कि प्रत्यक्ष-प्रमा (साक्षात्कारी ज्ञान) और आगमात्मक प्रमा या शाब्द-बोध (शब्दनात्मक विमर्श) दोनों ही अव्यवहित निर्विकल्प बोध हैं[६], केवल एक की प्रवृत्ति प्रकाश के माध्यम से होती है और दूसरे की विमर्श के माध्यम से। उचित अवसर पर हम इस पर विचार करेंगे।

आगम प्रमाण की मान्यता के पीछे शैवों का तर्क अन्य सम्प्रदायों से काफी कुछ मिलता जुलता है। इस संबंध में पहले भी संकेत किया जा चुका है। प्रत्यक्ष और अनुमान की गति जहाँ नहीं है,-उन विषयों जो या तो परोक्ष हैं, अथवा जहाँ लिङ्ग आदि का ग्रहण संभव नहीं है और या जिनकी परिधि अपरिसीमित है- के ग्रहण के लिए आगम प्रमाण की परिकल्पना हुई है।[७] परोक्ष अर्थ में आगम की प्रवृत्ति मानी गयी है।[८] परन्तु देखा जाए

५. भारतीय दर्शन के अन्य संप्रदायों में यह शब्दप्रमाण के नाम से अधिक प्रचलित है। निगम परम्परा या वैदिक धारा में शब्दप्रमाण श्रुति और/या आप्तज्ञान के रूपों में प्राधान्येन मुखरित होता है, जब कि व्याकरण और तंत्र की धारा में आगम के रूप में। आगम शब्द के प्रयोग की यह ऐतिहासिक/सांस्कृतिक अर्थच्छाया कही जा सकती है। प्रसिद्ध मौलिक चिन्तक गोविन्दचन्द्र पांडे भारतीय दर्शनों की मूल प्रवृत्ति की दो दिशाएँ मानते हैं - आगमानुसारी और न्यायानुसारी। इस दृष्टि से सांख्य, वेदान्त, बौद्ध और प्रत्यभिज्ञा ये सभी दर्शन एक साथ आगमानुसारी और न्यायानुसारी हैं। (द्रष्टव्य, अभि.तंत्राग., पृ. ५०१) इस संदर्भ में आगम का अर्थ उपजीव्य मूल परम्परा से है, जिसमें श्रुति, आगम, और बुद्धवचन सभी अंतर्भूत हो जाते हैं।

६. साक्षात्कारक्षणेऽप्यस्ति विमर्श: कथमन्यथा। - ई.प्र.का. १/५/१९; इस पर विमर्शिनी भी द्रष्टव्य।

७. नहि प्रत्यक्षं मायाप्रमातु: सर्वत्र क्रमते। अनुमानमप्येवम्, न हि यद्यदस्ति तत्र तत्र लिङ्गव्याप्त्यादिग्रहणसंभव:। आगमस्तु [.....] किं न पश्येत्। - ई.प्र.वि., २, पृ. २१३

८. परोक्षे हि अर्थे तस्य प्रामाण्यम्। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८४

तो परोक्ष अर्थ में प्रवृत्ति अनुमान की भी होती है, परंतु वहाँ लिङ्ग या हेतु का दर्शन तो होता ही है। अतः अत्यन्त अपरोक्ष विषय को आगम का विषय माना जाता है। इस प्रकार धर्म आदि का निश्चय[९], पदार्थों का निर्णय[१०], तत्त्व-भुवन[११], तत्त्व-संख्या, स्वर्ग, मंत्र-प्रभाव, दीक्षा आदि का सामर्थ्य-विधान[१२], विद्या और अविद्या का स्वरूप-निर्णय[१३] - ये सब आगम प्रमाण की परिधि में आते हैं। परन्तु अभिनवगुप्त के लिए आगम की इयत्ता अत्यन्त परोक्ष पर ही निःशेष नहीं हो जाती, वे इसके क्षेत्र को समग्र व्यवहार तक फैला देते हैं। समग्र व्यवहार आगम से अनुविद्ध है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान जहाँ व्यक्तिप्रमाण हैं, आगम विश्वप्रमाण है : सारे विश्व को जान सकता है, नाप सकता है : **पुनरागमो विश्वं प्रमातुं समर्थः।** (ई.प्र.वि.वि., ३, पृ.२५५)

आ पूर्वक गम् (आ+गम्+अच्) से आगम शब्द बनता है। आगम शब्द की जो व्युत्पत्तियाँ की गयी हैं, उन्हें दो वर्गों में बांटा जा सकता है, (१) अवगतिमूलक और (२) आयातिमूलक। पहले वर्ग में आ उपसर्ग का अर्थ लिया गया है - (अ) सब ओर से (आ समन्तात्) या (ब) भली प्रकार से (सम्यक्)। सभी ओर से, पूरी तरह से जो अर्थ का अवबोधन कराए वह आगम नामक (जिसका स्वरूप दृढ विमर्शरूप शब्दन है) प्रमाण है। यह 'समन्तात्' का अर्थ हुआ **(= आ समन्ताद् अर्थं गमयति)**।[१४] इसी वर्ग में दूसरा विग्रह है : **आ सम्यग् अर्थं गमयति** अर्थात् जो भली प्रकार से अर्थ का ग्रहण कराए वह आगम है।[१५] सम्यक्त्व की व्याख्या नहीं की गयी है। पर प्रसंगानुकूलता के आधार पर सम्यक्त्व का तात्पर्य होगा आगमात्मक शब्दन के उपयोग का ऐसी प्रामाणिकता के साथ ग्रहण कराना जो पक्षपात या आग्रह से अछूती हो। दूसरा वर्ग आयातिमूलक है :

---

९. स एव आगमो नाम [.....]। ततः समग्र एवायं धर्मादिपरिनिश्चयः।। - मा.वि.वा. १/७९६

१०. आगमस्तु [.....] इति तदनुसारेण पदार्थनिर्णयं [.....] निरूपयितुम्। - ई.प्र.वि., २, पृ. २१३

११. तत्त्वभुवनादीनां तु इयत्तायां [.....] आगम एव तत्र शरणम्। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८५

१२. अस्मदादेः प्रत्यक्षानुमानाप्तोपदेशलक्षणं प्रमाणं यस्मिन् स्वर्गादौ तत्त्वसंख्यानियमे च षट्त्रिंशत्तत्त्वानि इति आदिग्रहणात् मन्त्रप्रभावदीक्षादिसामर्थ्ये च। - तदेव, पृ.१७९। इस उद्धरण में यद्यपि 'आप्तोपदेश' के ग्रहण से आगम प्रमाण की पर्यायता का संदेह हो सकता है। परन्तु शैवों के यहाँ आप्तोपदेश आगम प्रमाण की अवान्तर गौण विधा मात्र है, जो अन्य दर्शनों में मान्य आगम के स्वरूप को समेटती है। शैवों में आगम का मौलिक स्वरूप अतिक्रामी (transcendental) है।

१३. प्रसिद्धिरागमो लोके [.....]। विद्यायामप्यविद्यायां प्रमाणमिति तत्स्थितम्।। - मा.वि.वा. १/८०६

१४. (अ) आ समन्ताद् अर्थं गमयति इति आगमसंज्ञकं प्रमाणम्। - ई.प्र.वि., २, पृ. ८७
(आ) दृढविमर्शरूपशब्दनम् आगमः आ समन्ताद् अर्थ गमयतीति। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८५

१५. दृढविमर्शात्मक-सम्यगागमरूप-शब्दनोपयोगे प्रामाण्यमासादयन् न पक्षपातादिवाच्यतार्हः। - तदेव

आ गच्छति इति आगमः। इस व्युत्पत्ति का सीधा अभिधेय है प्रसिद्धि। पहले से चली आने वाली पूर्वकालीन प्रसिद्धि के रूप में यह आगम की अवधारणा करती है।[१६] इस व्युत्पत्ति का उपयोग उपदेश-पारम्पर्य को बताने के लिए भी किया गया है।[१७] पहले में प्रसिद्धि की अटूट धारा है, दूसरे में कर्णाकर्णिरूप परंपरासंतति है। अभिनव का मानना है कि आगम का यह अर्थ प्रायः सभी को स्वीकार्य है।[१८] इसी वर्ग में **आगतः इति आगमः** की शब्दावली में आगम की ईश्वर या परमेश्वर से आयाति या उद्भूति बताते हुए उसे ऐश्वरी वाक् (=ईश्वर से आने वाली वाक्) के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है।[१९]

परम्परा से प्राप्त संकेतों के भरपूर उपयोगपूर्वक अभिनवगुप्त का आगम का प्रमाणमूलक उपस्थापन भारतीय मेधा का एक अत्यन्त मौलिक और असाधारण उपक्रम है। आगम के स्वरूप लक्षण को वह तीन प्रकार से निष्कर्षित (reduction) करते हैं- प्रसिद्धि[२०], प्रतिभान[२१] और आप्तोपदेश[२२]। फिर इन्हें आगम के त्रिविध भेदों में विकसित कर इनमें से प्रत्येक का स्वतन्त्र विवेचन करते हैं। इसी क्रम में वह दूसरा त्रिविध या त्रि-चरणीय परिकल्पन भी करते हैं, जहाँ आगम का स्वरूप है - आंतर शब्दनरूप, दृढतम विमर्शरूप और चिद्रूप ईश्वर का अंतरङ्ग अर्थात् स्वभावभूत व्यापाररूप (या चिद्रूप का अपना आत्मीय रूप)।[२३] यहाँ ध्यान देने की बात है आगम की व्यापाररूपता, जो कण्ठशः कही गयी है और 'विमर्शन' तथा 'शब्दन' शब्दों से व्यंजित भी है। सच पूछा जाए तो यह प्रत्यवमर्शिनी वाग्रूपता की तात्त्विक अवधारणा का आगम-प्रमाणीय विनियोजन है।[२४] अभिनव के विषय पल्लवन की विशेषता यह है कि ईश्वर के, चिति के, अंतरङ्ग व्यापार या ऐश्वरी वाक् से प्रारम्भ करते हुए वह अंततः प्रसिद्धि पर आकर थमते हैं, जिसका पर्यवसान

१६. प्राच्या चेदागता सेयं प्रसिद्धिः पौर्वकालिकी। - तं. ३५/१०

१७. मुखान्मुखागतं ज्ञानं कर्णात्कर्णमुपागतम्। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १०५ पर अभिनव द्वारा अभ्युपगमपूर्वक उद्धृत उक्ति

१८. यत एवं समस्तेषु आगमग्रन्थेषु पठ्यते। - तदेव

१९. ननु स आगमः कुत आयातः। आह 'ऐश्वरी' ईश्वरात् आगता सा 'सत्या वाक्'। - तदेव, १, पृ. ३६

२०. अविगीता च प्रसिद्धिरागम एव। - तदेव, ३, पृ. २१७

२१. प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाख्य आगम एव। - तदेव, पृ. ९३

२२. सर्व एव आगम आप्तोपदेशशब्देन [.....] संगृहीतः। - तदेव, पृ. १०३

२३. आगमस्तु नाम आन्तरशब्दनरूपो दृढीयस्तमविमर्शात्मा चित्स्वभावस्य ईश्वरस्य अंतरङ्ग एव व्यापारः। - ई.प्र.वि., २, पृ. ८४; विवृतिविमर्शिनी में अभिनव विमर्श को 'विमर्शन' में सुधार लेते हैं : शब्दनरूपत्वं (पठनीय 'शब्दनरूपं') विमर्शनं यदान्तरं चित्स्वभावस्य अन्तरङ्गं रूपम्। - ३, पृ. ८४

२४. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता। - ई.प्र.का. १/५/१३

व्यवहार या वृद्धव्यवहार में होता है। इस पूरे उपस्थापन में तार्किक एकलयता निरन्तर बनी रहती है। इसी प्रसिद्धि का निष्कर्षण आगम प्रमाण के रूप में होता है। आदिवाक्य की उत्पलकृत विवृति में आए **'प्रसिद्धेः'** पद की व्याख्या करते हुए अभिनव इसमें संदेह नहीं रहने देते कि प्रमाणलक्षण के अवसर पर प्रसिद्धि की ही आगम प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठा की गयी है।[२५] अभिनव यह भी सूचना देते हैं कि प्रसिद्धि की आगमरूपता का प्रत्यय उन्हें अपने परम गुरु से प्राप्त हुआ है। इस पर विचार उत्पल अपनी बृहती टीका में करते हैं, कारिकाओं और वृत्ति में वे इन पर चर्चा नहीं करते।[२६] उत्पल के अतिरिक्त अपनी ही परम्परा में अभिनव का दूसरा स्रोत है उनके गुरु शंभुनाथ, जो प्रसिद्धि को ही आधार बनाकर शास्त्रसमन्वय या शास्त्रों की एकवाक्यता (शास्त्रमेलन, अभिनव द्वारा प्रयुक्त शब्द) की निष्पत्ति करते हैं।[२७] संभवतः इन दोनों अंतःस्रोतों का प्रातिस्विक वैशिष्ट्य दोनों स्थलों की विवेचन–विधाओं में प्रतिफलित होता है। प्रत्यभिज्ञा ग्रन्थों में आगम की प्रमाणरूपता विवेच्य है, तंत्रालोक में प्रसिद्धि की शास्त्रात्मरूपता। यह स्मरणीय है कि दोनों ही प्रतिपादन एक दूसरे के पूरक हैं।

उत्पल और अभिनव के सामने तीन प्रकार की चुनौतियां थीं। इन्हें हम क्रमशः स्वगत, सजातीय और विजातीय शीर्षकों में बांट सकते हैं। स्वगत के अंतर्गत उन्हें आगम के उस रूप को प्रतिष्ठित करना था जो उनका वैचारिक अभीष्ट है। इसके भी तीन चरण हैं। पहला है, सारे तांत्रिक वाङ्मय की अर्थात् तांत्रिक धारा की एकवाक्यता (तंत्रैकवाक्यता या शास्त्रैकवाक्यता) को त्रिक दर्शन में चरितार्थ देखना।[२८] दूसरे, सारे शास्त्रों –लौकिक वाङ्मय से लेकर शैवागम पर्यन्त– की एकवाक्यता (सर्व–शास्त्रैकवाक्यता) को स्थापित करना। इसे अभिनव ने शास्त्रमेलन अर्थात् शास्त्रसमन्वयन कहा है।[२९] इसका भी पूर्णता लाभ त्रिक में ही होता है।[३०] इसका तीसरा चरण है, सारे आगमों में शिवागम की

२५. तस्मादेतदर्थः प्रमाणलक्षणावसरे 'इदमेतादृक्' (२।३।१) इत्यत्र व्याख्यास्यते इत्यर्थः। [.....] तथा च प्रसिद्धिः स्वयमेव विमर्शजीविता आगमप्रमाणरूपा इति वक्ष्यते। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ३५–३६

२६. नहि मूल–वृत्ति–ग्रन्थयोरेतद् भविष्यति। – तदेव, पृ. ३५

२७. इत्थं श्रीशंभुनाथेन ममोक्तं शास्त्रमेलनम्।। – तं. ३५/४४

२८. अशेषतन्त्रसारं तु वामदक्षिणमाश्रितम्।
एकत्र मिलितं कौलं श्रीषडर्धकशासने।। – तदेव ३७/२७

२९. एक एवागमस्तस्मात्तत्र लौकिकशास्त्रतः।
प्रभृत्यावैष्णवाद्बौद्धाच्छैवात् सर्वं हि निष्ठितम्।। – तदेव ३५/३०
x x x x x x
इत्थं श्रीशंभुनाथेन ममोक्तं शास्त्रमेलनम्। – तदेव ३५/४४

३०. तस्य यत्तत्परं प्राप्यं धाम तत् त्रिकशब्दितम्। – तदेव ३५/३१

सर्वातिशायिता या वैशिष्ट्य का उपपादन।[३१] ये तीनों चरण एक ही यौक्तिक विचार–प्रक्रिया के अन्योन्यान्वयी अङ्ग हैं। इसे चुनौती इसलिए कहा गया है कि शैव दार्शनिक को एक ऐसे सर्वसमावेशी और सर्वाङ्गीण आगम प्रमाण की परिकल्पना करनी थी जिसमें सारी विचार पद्धतियाँ पारस्परिक विरोध के परिहारपूर्वक समंजस रूप से व्यवस्थित हो सकें, अपनी वैयक्तिकता को बनाए रख सकें और शैवों की अपनी लक्ष्यसिद्धि के साथ उनकी टकराहट को बचा भी सकें। आज की भाषा में कहें तो उन्हें भिन्न–भिन्न विचारधाराओं के सर्वपोषी एकल प्रजातंत्र की स्थापना करनी थी।

दूसरी चुनौती सगोत्रीय थी। शैवों के आगम–विचार की मूल प्रेरणा उन्हें भर्तृहरि और उनकी व्याकरण परम्परा से मिली थी। शैवों द्वारा प्रस्तावित आगम के प्रायः सभी प्रारूप किसी न किसी रूप में भर्तृहरि में उपलब्ध हैं। परन्तु भर्तृहरि की प्रतिपत्तियों को बौद्धों और मीमांसकों से कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा था। इन दोनों शिविरों की विरोधी युक्तियों की प्रत्यालोचना द्वारा भर्तृहरि का पुनरुद्धार और उस प्रक्रिया में उनका सर्जनात्मक पुनर्व्याख्यान शैवों का दूसरा लक्ष्य था। इसी द्वितीय चुनौती की अवान्तर कड़ी के रूप में एक अन्य स्रोत को जोड़ा जाना उचित होगा। उसे सगोत्रीय न भी कहें तो विजातीय भी नहीं कह सकते। यह आंतरालिक शिविर है योगसूत्र के प्रणेता पतंजलि का। शब्द प्रमाण की प्रसिद्धि और आप्ति के रूप में पतंजलि के प्रतिष्ठापन के पुनर्व्याख्यान द्वारा आगम के नए प्ररूप का परिकल्पन और गहनीकरण शैवों के दूसरे लक्ष्य का स्वाभाविक विस्तार था। दूसरे में ही तीसरी चुनौती के बीज छिपे हैं। भर्तृहरि के सम–प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी बौद्धों और मीमांसकों की युक्तियों के तात्त्विक और तार्किक आधार भिन्न थे। उनकी परीक्षा विजातीय शिविर से मिली तीसरी चुनौती थी, उनकी प्रत्यालोचना द्वारा अपने मत की अविचल प्रतिष्ठा उनका तीसरा लक्ष्य था।

इस पृष्ठभूमि के साथ हम त्रिक मनीषियों के आगम–विचार में प्रवेश करते हैं।

प्रसिद्धि–लक्षण [१]

अभी–अभी ऊपर देख चुके हैं कि उत्पल और अभिनव आगम का निष्कर्षण (reduction) प्रसिद्धि के रूप में करते हैं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा–विमर्शिनी 'आन्तरशब्दनरूप दृढ़ीयस्तम विमर्शात्मा' से अपना आगम–निर्णय प्रारम्भ करती है और 'प्रसिद्धि' पर समाप्त करती है। विवृति–विमर्शिनी में आगम–विवेचन 'प्रसिद्धि' से प्रारम्भ होता है, और व्याख्या

३१. समस्तशास्त्रकथितवस्तुवैविक्त्यदायिनः।।
शिवागमस्य सर्वेभ्योप्यागमेभ्यो विशिष्टता। – तदेव २२/८–९

का संहरण होता है 'आन्तरशब्दनरूपता' से। तंत्रालोक 'प्रसिद्धि' और 'व्यवहार' के समीकरण से प्रारम्भ करते हुए एक आह्निक(३५वें) का समापन शास्त्रसमन्वय और दूसरे (३७वें) का तन्त्रतत्त्व से करता है। विशेष ध्यान में रखने योग्य बात है कि परम्परा सर्वत्र[३२] **'प्रसिद्धिरागमो लोके'** से प्रारंभ होने वाली दो कारिकाओं को कभी पूरा, कभी अंशतः उद्धृत करती हुई, संदर्भित करती हुई, व्याख्या करती हुई अपने मत का उपस्थापन करती है। जयरथ कृत तं. १/१८ की विवेक नामक व्याख्या में ये दोनों कारिकाएँ इस प्रकार उद्धृत मिलती हैं:[३३]

प्रसिद्धिरागमो लोके युक्तिमानथवेतरः।
विद्यायामप्यविद्यायां प्रमाणमविगानतः।।

प्रसिद्धिरवगीता हि सत्या वागैश्वरी मता।
तथा[३४] यत्र यथा सिद्धं तद्ग्राह्यमविशङ्कितैः।।

---

३२. तं.वि., २, पृ. ४७; तदेव, ८, पृ. ३६४६; ई.प्र.का., २, पृ. ८३ (का.सं.ग्र.); तदेव, टि०सं०९०, २, पृ. ८३; ई.प्र.वि., २, पृ. ८९; ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ३६; तदेव, ३, पृ. ८४–८५; मा.वि.वा. १/८०५–६; इन सभी स्थलों का संकेतन टोरेला ने भी किया है (*In.Cog.*, टि०१२, पृ. ५)

३३. तं.वि., ८, पृ. ३६४६

३४. जयरथ के पाठ में अंतिम पंक्ति में 'तया' के स्थान पर 'तथा' पाठ है। भास्करकण्ठ 'तथा यत्र यथा' के स्थान पर 'तया यत्र यदा' पढ़ते हैं। (भा., २, पृ. ८९) विवृति भी (१, पृ. ३६) 'तया' पढ़ती है : 'तया' प्रसिद्धरूपया ऐश्वर्या वाचा। टोरेला (*In.Cog.*, पृ. ५) इन कारिकाओं का पुनरुद्धार करते हैं, यद्यपि भास्कर और जयरथ के दायाद का उल्लेख नहीं करते। अंतिम पंक्ति का शोधित रूप है : तया यत्र यदा सिद्धं तद्ग्राह्यमविशंकितैः। 'यदा' की अपेक्षा मुझे 'यथा' पाठ अधिक उपयुक्त लगता है, क्योंकि प्रमाण का काम है वस्तु का वह जैसी है वैसा (यथावस्तु) प्रमाणन करना। 'यथा' ज्ञान के प्रामाण्य को लक्षित करता है, जबकि 'यत्र यदा' देश–काल की उपाधियों को। इस बात का समर्थन स्वयं उत्पल में मिलता है, जब वे श्लोकगत 'यत्र यदा' की व्याख्या 'यथा यस्य अर्थस्य' (ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८४) करते हैं : 'यत्र यदा' इति व्याचष्टे 'यथा यस्य अर्थस्य' इति। किंतु स्वयं विवृति–विमर्शिनी के दोनों स्थलों पर (१, पृ. ३६; ३, पृ. ८४), विमर्शिनी के दोनों संस्करणों (पांडेय तथा का.सं.ग्र.) में 'यत्र यदा' (पृ. ८९, पृ. ८४ क्रमशः) पाठ उपलब्ध होने के कारण और भास्कर–सम्मत होने के कारण 'तया यत्र यदा' पाठ ही मान्य होगा। मा.वि.वा. में प्रयुक्त 'धीधनैः' पद (इत्थमागम एवायं प्रमाणमिति धीधनैः। उक्तं सत्यैव वागैशी प्रसिद्धिरविगानतः।। –१/८०५) के आधार पर टोरेला ने इन कारिकाओं को उत्पल कृत माना है (उपर्युक्त, पृ. ५, पा.टि.१३)। परन्तु यह पद (धीधनैः) इतना अनिश्चित, व्यापक और खुला हुआ (open) है कि इतने महत्त्वपूर्ण मन्तव्य को, यदि यह अभिनव के परम गुरु का स्वोपज्ञ कथन था, तो अभिनव जैसा निश्चित सूचनाएँ देने वाला व्यक्ति संदिग्ध न रखता। मेरी धारणा है, यद्यपि मेरे पास कोई

[संसार में प्रसिद्धि को ही आगम के नाम से जानते हैं; यह युक्ति से संगत हो सकती है अथवा इससे भिन्न भी। अबाधित रहने पर यह विद्या और अविद्या दोनों के निश्चय में प्रमाण है, क्योंकि अबाधित प्रसिद्धि ईश्वर की (या ईश्वर से आई हुई) वास्तविक वाणी है। इस वाक् के द्वारा जो जब जहाँ प्रतिष्ठित होता है, वह संशयरहित होकर (लोगों) को (वैसा ही) स्वीकार करना चाहिए।]

आगम प्रमाण का स्वरूप इसी प्रसिद्धि से संरचित होता है। आगम को स्वच्छप्रसिद्धिरूप कहा गया है।[३५] स्वच्छ का अर्थ अविगीत से लिया गया है। अतः आगम का लक्षण है 'अविगीतप्रसिद्धि'।[३६] विगान का शाब्दिक अर्थ है विरुद्धगान, प्रकरणगत अभिप्राय है विरुद्धविमर्श, इसका उदित न होना।[३७] यही अबाधितत्व का मूल है। देश, दशा और पुरुष आदि के अलग होने पर भी जो प्रसिद्धि निर्बाध रूप से नियति के स्वरूप के अंतर्गत रहती है उसी पर आश्रित अनुमान इत्यादि की प्रामाणिकता सधती है, संबंधों के आधार पर नहीं। जन्म के प्रारंभ से लेकर या अनन्त पूर्वजन्मों की करोड़ों वर्षों की अवधि में व्यवहार के परिशीलन से या उसके बल से या दूसरों की परिपुष्ट प्रतिभा का सहारा लेकर अर्थक्रिया की सिद्धि के आधार पर होने वाले प्रतिभा के परिपाक से ही प्रमाण का सकलवस्तुगत तथात्वनिश्चयरूप व्यापार सध पाता है।[३८] अर्थक्रियालाभ के समनन्तर होने वाले संवाद की यहाँ कोई भूमिका नहीं होती सिवाय इसके कि वह केवल अभ्यासांश को

स्पष्ट साक्ष्य नहीं है, कि धीधनैः पद से अभिनव भर्तृहरि का स्मरण कर रहे हैं। इसके कई कारण हैं। एक तो काश्मीर शैवों में भर्तृहरि का नाम बड़े सम्मान से 'तत्रभवान्' आदि विशेषणों से लिया जाता है। दूसरे, विमर्शिनी में अभिनवगुप्त जिस प्रकार से इस श्लोक के प्रतीक का उल्लेख करते है, वह हमें निरायास भर्तृहरि से जोड़ देता है : तेन 'प्रसिद्धि' इति श्लोके 'यत्र यदा' इत्युक्तम्, तेन प्रत्यक्षागमौ बाधकौ अनुमानस्य इति तत्रभवद्भर्तृहरिन्यायभाष्यकृत्प्रभृतयः (ई.प्र.वि., २, पृ. ८९-९०); और तीसरे, प्रसिद्धि की धारणा उन्हें भर्तृहरि से ही प्राप्त होती है (द्रष्टव्य, ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १०२)। फिर भी निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है, क्योंकि 'वाक् ऐश्वरी' का प्रयोग भर्तृहरि के संदर्भ में बहुत कर्ण-परिचित नहीं है।

३५. आगम एव आगच्छति स्वच्छप्रसिद्धिरूपः। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८९

३६. आगममविगीतप्रसिद्धिलक्षणम्। - तदेव, पृ. ९२

३७. 'विगाने' इति तद्विरुद्धविमर्शोदये। - तदेव, पृ. १०१

३८. तत एव परमेश्वरागमप्रसिद्धिमूलत्वेन देशदशापुरुषविशेषान्तरेऽपि या प्रसिद्धिरबाधिता नियतिस्वरूपानुवर्तिनी, तन्मूलानामेव अनुमानानां करणकर्त्रनुमानानामिव निर्विवादं प्रामाण्यम्; न तु स्वयं कल्पनोत्थापितानां सद्वितीयान्यतरत्वादीनाम्। आजन्मनोऽनन्तपूर्वजन्मकोटिसहस्रावधेर्वा यत् व्यवहारपरिशीलनं तद्बलेन वा; परकीयपरिपक्वप्रतिभोपजीवनेन अर्थक्रियालाभेन वा प्रतिभापरिपाके जाते प्रमाणस्य सार्वत्रिकवस्तुतथात्वनिश्चये व्यापारोऽखण्डितः। - तदेव, पृ. ९१

ही पुष्ट करता है। संवाद की भूमिका का प्रश्न तब उठता है जब अनभ्यास के कारण अर्थक्रियारूप निश्चय का अभाव हो। अभ्यास की श्रृंखला केवल संस्कार को जन्म देती है जिसका अस्तित्व प्रमाता के साथ एकता से ही संभव है।[३९] इसलिए विरुद्ध विमर्श के उदित न होने का रहस्य प्रसिद्धि के नियति के स्वरूपगत अनुवर्तन में छिपा है।[४०] इसीलिए जहाँ वस्तु या पदार्थ को आभास कहते हैं, नियति को महाभास कहा गया है।[४१] इस प्रकार नियति और प्रसिद्धि एकान्वयी है। सजातीय चुनौती के स्वरूप को ठीक से समझाने के लिए हमें भर्तृहरि तक जाना होगा। पूर्व जन्मों के संस्कार रूप से अवस्थित यह प्रसिद्धि लगभग वही है, जिसे भर्तृहरि प्रतिभा कहते हैं। शब्दभावना से अनुगत (सहकृत) आगम से प्रतिभा जन्म लेती है। आगम का भेद इस प्रतिभा की दूरी या निकटता पर निर्भर करता है।[४२] यह अपने संवेदन का विषय है, दूसरे को बता कर समझा पाना असंभव है। सारा व्यवहार जिसे भर्तृहरि इतिकर्तव्यता कहते हैं, यहाँ तक कि दूध पीते शिशु का व्यवहार भी, साक्षात् शब्द या जन्मान्तरागत भावना से उत्पन्न और व्याख्यात होता है।[४३] यहाँ तक कि ऋषियों का ज्ञान भी आगम पर आश्रित है।[४४] इसी क्रम में भर्तृहरि दूसरी बात यह कहते हैं कि आगम अविच्छिन्न परम्परा का नाम है, जिसमें उसकी शब्दनिबद्ध आकृतियाँ जैसे श्रुति और स्मृति भी अंतर्गृहीत हैं। लक्षणया सारे शिष्ट व्यवहार और विश्वास भी इसमें अंतर्भूत हैं।[४५] श्रुति नित्य और अपौरुषेय है। पर मीमांसा के अर्थ में यह नित्य नहीं है। मीमांसकों की सृष्टि की चक्राकारता यहाँ स्वीकार्य नहीं है। यहाँ यह नित्यता दो अर्थों में है। एक तो, अविच्छिन्न परम्परा के अर्थ में यह नित्य और अकृतक है।[४६] और दूसरे,

---

३९. द्रष्टव्य तदेव, पृ. ९१–९२

४०. प्रसिद्धिरबाधिता नियतिस्वरूपानुवर्तिनी। – तदेव, पृ. ९१

४१. नियतिशक्तिस्तु महाभाससारतया तत्र प्रवेशनीया। – तदेव, पृ. ९२

४२. भावनानुगतादेतदागमादेव जायते।
आसत्तिविप्रकर्षभ्यामागमस्तु विशिष्यते।। – वाक्य. २/१५१, देखिए *In.Cog*, पृ. ८ भी

४३. (अ) इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते।। – तदेव १/११३
(आ) साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा।
इतिकर्तव्यतां तां न कश्चिदतिवर्तते।। – तदेव २/१४६

४४. ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्। – तदेव १/३०

४५. तथा चायं श्रुतिस्मृतिलक्षण: सर्व: शिष्टै: परिगृहीत: आगम:। – वाक्य. १/४१ पर वृत्ति, पृ. ९८

४६. अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम्।
शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृति:।। – वाक्य १/१३६

वेदवाक्य चैतन्यस्थानीय हैं,[४७] क्योंकि यह आगम को चेतना के स्तर तक ले आती है। सहज, अनादि चैतन्य की भांति आगम नित्य और अविच्छिन्न हैं; तार्किक प्रवादों से उनका बाधन नहीं होता।[४८] यह दूसरी बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इसमें अंतर्निहित ध्वनि आगम को शब्दरूपता, प्रत्यवमर्शिनी वाग्रूपता, तक ले जाने में है।

यह बात ब्रह्मकाण्ड, जिसकी दूसरी संज्ञा आगमकाण्ड है, के प्रारम्भ में ही स्पष्ट हो जाती है। आगम शब्दरूप है : वेद को ब्रह्मप्राप्ति का उपाय ही नहीं, उसका अनुकार भी कहा गया है। अनुकार कहना रूपक है, लाक्षणिक है। आन्तर क्रम से विहीन, सूक्ष्मा, नित्या वाक् को उसी रूप में दूसरे को प्रदान करना असंभव है। उसके आकार या प्रतीक को ही प्रदान करना, संप्रेषित कर पाना, संभव है : अतएव वही प्रतीक वेद या मंत्रों का अनुकार है।[४९] इससे सहज ही निर्गत होता है कि शब्दनिबद्ध मंत्रवपु वेद से परे उसका शब्दात्मक चैतन्याकार भी है; वही वस्तुतः आगम-शरीर है। इसलिए ऋषि-प्रतिभा की सहजता भी आगमिक धर्म से संस्कृत होकर ही आविर्भूत होती है।[५०]

अभिनवगुप्त प्रतिभारूप इस आगम को ही बिना किसी ऊहापोह के प्रसिद्धि के नाम से पुकारते हैं।[५१] अतएव प्रसिद्धि ही आगम है और उसी का सर्वातिशायी प्रामाण्य है, इस

४७. वेदवाक्यानि तु चैतन्यवदपौरुषेयाणि। - वाक्य. १/१२४ पर वृत्ति, १, पृ. २०३
वेदेतर आगमों को पौरुषेय या कर्तृक भी स्वीकार किया गया है, किन्तु उनके उच्छिन्न होने पर वेद बीजरूप में हमेशा व्यवस्थित रहते हैं। (वाक्य. १/१२४)

४८. चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते। - तदेव १/४१
यहाँ की अपेक्षा शैव परम्परा में हम देखेंगे कि 'इव' 'वत्' 'तक' आदि का परिष्कार हो जाता है, आगम की प्रत्यवमर्शरूपतामात्र शेष रहती है।

४९. प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।
एकोऽप्येनकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक्।। - तदेव १/५
वृत्तिः प्राप्त्युपायो ब्रह्मराशिः। [.....] अनुकारः इति। यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति तामसाक्षात्कृतधर्मभ्योऽपरेभ्यः प्रवेदयिष्यमाणा बिल्मं [=प्रतिच्छन्दकम्, वेदाङ्गाख्यम्। न चासौ अतीन्द्रिया सूक्ष्मा वाक् तथाख्यातुं शक्यत इति प्रतिच्छन्दकथनम् : पद्धति] समामनन्ति। - वाक्य. वृत्ति, १, पृ. २३-२४

५०. नागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्।। - तदेव १/३०
वृत्तिः [.....] तेष्वपि तदर्थज्ञानमार्षम् ऋषीणामागमिकेनैव धर्मेण संस्कृतात्मनाम् आविर्भवति इत्याख्यायते। - १, पृ. ८६

५१. 'आर्षम्' इति प्रतिभारूपवेदादिप्रसिद्धिरूपसदोदितलोकप्रसिद्ध्यात्मकम्। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १०३

बात को प्रमाणित करने के लिए भर्तृहरि के द्वारा उपन्यस्त व्यास के वचनों को (गीता और महाभारत) भर्तृहरि के मुख से ही उद्धृत करते हैं[५२] : न जानते हुए भी दूसरों से सुनकर उपासना करने वाले लोग भी तर जाते हैं। पुण्य और पाप के निश्चय के लिए चण्डाल से लेकर सारे मनुष्यों का काम प्रसिद्धि से चल जाता है, शास्त्र की उनको आवश्यकता नहीं पड़ती। मालिनीविजयवार्तिक में भर्तृहरि की इसी उक्ति को उद्धृत करते हुए अभिनव इस बात को और भी स्पष्ट करते हैं।[५३] उनके अनुसार पुण्य और पाप इन दोनों में भले ही शास्त्र की उपयोगिता नगण्य हो, किन्तु आगम की प्रयोजनीयता को नकारना संभव नहीं है। क्योंकि वेद आदि अनादि शास्त्रों का संकलन ही आगम नहीं है, अपितु वह प्रसिद्धि ही है जिसकी आत्मा शब्द है।[५४]

व्यास के इस श्लोक को उद्धृत करते हुए अभिनव द्वारा अपने दो ग्रन्थों में प्रसिद्धि के स्थिरीकरण के पीछे मीमांसकों द्वारा भर्तृहरि द्वारा उपस्थापित प्रसिद्धिरूप आगम के प्रामाण्य का नकारा जाना है। कुमारिल व्यास के इसी श्लोक[५५] को उद्धृत करते हुए धर्म और अधर्म के निश्चय में लोकप्रसिद्धि के स्वतन्त्र प्रामाण्य पर शङ्का करते हैं। प्रसिद्धि तभी प्रमाण बनती है जब वह शास्त्र से प्रमाणित हो : **निर्मूलसंभवादत्र प्रमाणैः सैव मृग्यते।**[५६] प्रसिद्धि की अपनी कोई जड़ नहीं होती, अतः प्रमाणों से उसका परीक्षण

५२. 'अतएव' इति यतः प्रसिद्धिरूप एव आगमस्ततो हेतोः। तदाह "अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते। तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।" (गीता १३/६५) इति। "इति पुण्यम् [.....]" इत्यादि मुनिवचनं भर्तृहरिणा आगमप्रामाण्यदार्ढ्याय उपन्यस्तमिति तन्मुखेन इह लिखितम्।–तदेव, पृ. १०२ मधुसूदन कौल के अनुसार यहाँ पर भर्तृहरि की उद्धृत कारिका है वाक्यपदीय१/४० :
इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम्।।
देखिए *In.Cog*, पृ. ८ भी। 'इदं पुण्यमिदं पापम्' यह पंक्ति महाभारत में मुझे मिल नहीं पायी।

५३. देखिए *In.Cog*, पृ. ८–९

५४. लभन्ते निश्चयं सम्यगागमाख्यात्परीक्षकाः।
तथा च मुनिराहेदं पुण्यं पापमिति द्वये।।
शास्त्रप्रयोजनं स्वल्पं नागमस्य प्रयोजनम्।
आगमो हि न नामैष पुस्तकग्रन्थसंचयः।।
केवलं प्रथिताभिख्योऽनादिर्वेदादिकः किल।
किंतु प्रसिद्धिरेवासौ सा च शब्दस्वरूपिणी।। – मा.वि.वा. १/७९९–८०१

५५. श्लोकवार्तिक, औत्पत्तिक प्रकरण, वृत्तिकारग्रन्थ ५/३, *In.Cog* में संदर्भित, पृ. ९

५६. तदेव ५/४ अ ब, तत्रैव; सुचरितमिश्र (भा.२, पृ.३) की टीका है : 'न स्वतन्त्रायाः प्रसिद्धेरेव प्रामाण्यं सिध्यति।' उद्धृत, तत्रैव; यहीं पर यह भी दिखाया गया कि किस प्रकार भास्करकण्ठ सुचरितमिश्र का अनुवाद करते हैं। द्र., पा.टि. १६ और ३५ तदेव, पृ. ५. ६,९

आवश्यक है। फलत: न केवल लोकप्रसिद्धि अपितु शिष्टों द्वारा परिगृहीत प्रसिद्धि अर्थात् महाजनप्रसिद्धि तक शास्त्रापेक्षा रहती है। सच पूछा जाए तो अभिनव विवृत्तिविमर्शिनी में मीमांसकों के पूर्वपक्ष को उठाते हुए ही प्रसिद्धि का विचार प्रारंभ करते हैं : **ननु प्रसिद्धिर्नाम न किंचन प्रमाणम्।**[५७] यह मत मीमांसक का ही है।[५८]

प्रसिद्धि शब्द भर्तृहरि में उतनी स्पष्टता से उस रूप में नहीं मिलता। यद्यपि भर्तृहरि प्रसिद्धि की भावना से परिचित हैं।[५९] अत: मैं टोरेला से सहमत हूँ कि प्रसिद्धि शब्द शैवों को प्रधानतया मीमांसा से मिलता है और आगम की प्रसिद्धिमूलक अवधारणा के रूप में वे मीमांसकों के द्वारा भर्तृहरि की प्रतिभा और शब्दतत्त्व का पुनराख्यान करते हुए उनकी आगम की अवधारणा को और निखारते हैं – शैवों में यह चेतना का अंतरंग व्यापार है, ऐश्वरी वाक् है। इसके बीज भर्तृहरि में प्रभूत मात्रा में हें। भर्तृहरि की वेद में निष्ठा है, पर उनके लिए वेद मंत्रराशि से भिन्न ब्रह्मराशि भी हैः समग्र प्राणिजगत् के अंदर चेतना, प्रतिभा और विमर्शिनी वाक् के रूप में स्थित रहता हुआ। इसके विपरीत मीमांसकों का वेद संसार और प्राणिमात्र से परे अपने ही विधि और नियोग की प्राचीरों में बंद है।

बौद्ध भी प्रसिद्धि को प्रमाण नहीं मानते, मीमांसकों की आलोचना में यह बात स्फुट रूप से सामने आती है। प्रसिद्धि से यदि व्यवहार सिद्ध होते हैं तो इसलिए नहीं कि वह प्रमाण है, बल्कि इसलिए कि वह कल्पना है और कल्पना ही व्यवहार का निमित्त बनती है। अत: शैवों का दूसरा पूर्वपक्ष है बौद्ध, जिन्हें मीमांसकों के ठीक बाद वे अपने निशाने पर लेते हैं : **यदि परं कल्पित: स्वभावहेतु:, न च कल्पनया परमार्थव्यवहारा: सिध्यन्ति।**[६०] यहाँ पर शैवों का मन्तव्य है कि प्रसिद्धि स्वसामर्थ्य से स्वभावहेतु है, कल्पना के बूते पर नहीं, अत: प्रसिद्धि से परमार्थ–व्यवहार को साधने में कठिनाई नहीं आती। क्योंकि कोई–कोई प्रसिद्धि तो हृदय में इतनी गड़ जाती है कि स्वयं हृदय को जड़ से उखाड़े बिना उसे निकालना संभव नहीं है। यह बात बौद्ध को विशेष ध्यान में रखकर की

---

५७. ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ३५; देखिए *In.Cog*, पृ. १०

५८. मिलाइए प्रमाणवार्तिक १, धर्मकीर्ति की स्वोपज्ञ वृत्ति पृ.१७१ : प्रसिद्धिम् अप्रामाण्यत:। कर्णगोमिन् इसे मीमांसक से जोड़ते हैं : मीमांसकस्य। (पृ. ६०२), *In.Cog.* में उद्धृत, पृ. १०; और भी देखिए : प्रसिद्धिश्च नृणां वाद : प्रमाणं च नेष्यते। – प्र.वा. ३/३२२

५९. उदाहरण के लिए देखिए वाक्य० १/३१ : धर्मस्य चाव्यवच्छिन्ना: पन्थानो ये व्यवस्थिता:। न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते।।

६०. ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ३५; यहाँ आपत्ति, बौद्धों के परार्थानुमान की दृष्टि से की जा रही है, क्योंकि शैव तो आगम को स्वतंत्र और सर्वोच्च प्रमाण मानते हैं।

जा रही है।[६१] जहाँ तक प्रत्यक्ष और अनुमान के अपने विषय हैं, उनमें आगम की आवश्यकता नहीं पड़ती। दृश्यमान और परोक्ष में प्रत्यक्ष और अनुमान वस्तुबल से प्रवृत्त होते हैं, पर अत्यन्त परोक्ष में आगम या शास्त्र (बौद्धों में दोनों समानार्थक) की प्रवृत्ति माननी ही होगी।[६२] यह बात स्वयं बौद्ध स्वीकार करते हैं।[६३] कठिनाई यह है कि बौद्ध स्वयं आगम को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते, अपितु उसे परार्थानुमान के अङ्ग रूप से ही स्वीकार करते हैं। शैवों को आपत्ति है कि परार्थानुमान में तो कुछ भी ऐसा नहीं है, जो आगमरूप कहा जा सके या जिसे आगमरूपता की अपेक्षा हो।[६४] जहाँ केवल व्यवहारसाधन होता है वहाँ मात्र मोह ही हटाया जाता है, वहाँ नवीन ज्ञान नहीं होता [शैवों के यहाँ आत्मा तो ईश्वरतया स्वयं प्रकाशित रहती है, अतः इनके यहाँ मोहापसारण में व्यवहार–साधक प्रमाणव्यापार में कोई दुविधा नहीं खड़ी होती।] अतः जहाँ साध्य, हेतु और व्याप्ति में किसी की भी सिद्धि का अभाव हो, वहाँ या तो शब्द अनुपयोगी होगा और या वहाँ शब्द से ज्ञान होने पर आगम–प्रमाणता ही होगी, अनुमान नहीं।[६५] यदि "बुद्ध ने ऐसा कहा है" इसे प्रमाण मानते हैं तो यही अपने और दूसरे दोनों ही मतों के अनुयायियों के लिए प्रसिद्धि है, इसमें शंका नहीं होनी चाहिए। अतः आर्यसत्यों आदि का बोध यदि बौद्ध बुद्धवचनों के प्रमाण से साधना चाहते हैं, तो यह हमारे ही बताए सन्मार्ग पर चलकर संभव है।[६६] शैव यहाँ एक कदम और भी आगे बढ़कर बौद्धों की इस मान्यता को भी झुठलाते हैं कि प्राणी जन्मतः सिद्धान्तों और वृत्तियों से रहित होता है, बल्कि उन्हें जीवन में अर्जित करता है।[६७] अर्थात् ये प्रसिद्धियाँ उसके व्यक्तित्व का सहज अङ्ग नहीं हैं। इसके विपरीत शैवों

---

६१. कस्यचित् काचिदेव प्रसिद्धिः [.....] हृदयभित्तौ उत्पाटनशतैरपि हृदयमनुन्मूल्य नापसर्पति इत्याशयेनाह 'बौद्धस्यापि' इति। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ३७

६२. स (बौद्धः) हि 'तथा विशुद्धे विषयद्वये शास्त्रपरिग्रहम्।
चिकीर्षोः स हि कालः स्याद्यदा शास्त्रेण बाधनम्।।' (प्र.वा. ४/५०) इति आह, तथा
'तद्विरोधेन चिन्तायास्तत्सिद्धाभीष्टयोगतः।
तृतीयस्थानसंक्रान्तौ न्याय्यः शास्त्रपरिग्रहः।।' (प्र.वा. ४/५१) इति। – तदेव

६३. येनैव प्रत्यक्षानुमानावगमयोग्यम् एतत् विषयद्वयम् अवितथं कथितम् तेनैव अयं तदविषय–स्तृतीयस्थानात्मा विषयो भाषित इति। – तदेव

६४. परार्थानुमाने च सर्वमेव आगमरूपतानपेक्षम्। – तदेव, पृ. ३८

६५. धर्म्यसिद्धौ हेत्वसिद्धौ व्याप्त्यसिद्धौ वा परस्य वचनमात्रस्य अनुपयोगात् वचनप्रत्यये वा आगमरूपतैव स्यात् न अनुमानमिति। – ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ३८

६६. अथ बुद्धेन इदं भाषितमिति स्वयूथ्यपरयूथ्यप्रसिद्धिरनतिशङ्कनीया उच्यते। तदस्मदुक्तसन्मार्गारोहण–मेतत्। – तदेव

६७. तेन 'रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य' (प्र.वा. ४/५४) इति रिक्ता वाचोयुक्तिः। – तदेव, पृ. ३७–३८

की दृढ़ मान्यता है कि ये वृत्तियाँ, अवमर्शात्मक प्रसिद्धियाँ, प्राणी के अस्तित्व का जन्मत: अङ्ग होती हैं और जन्म, जन्मान्तर से अविच्छिन्न आती हुई व्यक्ति की चेतना का संस्कार करती हैं।

प्रसिद्धि–लक्षण आगम [२]
सर्वशास्त्रैकवाक्यता : सर्वागमप्रामाण्य

भर्तृहरि से प्राप्त मौलिक प्रतिपत्तियों का उपजीवन करते हुए और दोनों पूर्वपक्षों की पर्यालोचना से प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक का आत्मविश्वास अधिक प्रगल्भ हो उठता है। प्रसिद्धि ऐसा शस्त्र है जिसके आधार पर अभिनवगुप्त अपने दो परस्परोपजीवी दूरगामी महत्त्व के सिद्धान्तों, सर्वशास्त्रैकवाक्यता और तज्जन्मा सर्वागमप्रामाण्य, को प्रस्तुत कर पाते हैं। सारा व्यवहार प्रसिद्धि के सहारे चलता है, और यही प्रसिद्धि आगम है।[६८] आगम की त्रिविध रूपकल्पनाओं में यह पहली और, जयरथ के शब्दों में, साधारण परिभाषा है।[६९] प्रचलित धारणा के विपरीत अभिनव का मानना है कि अन्वय और व्यतिरेक जिनसे सामान्यत: साध्यसाधनभाव को समझ कर व्यवहार का निर्णय होता है, वे भी प्रसिद्धि के ही कार्य हैं। उनकी अपनी भाषा में, वे प्रसिद्धि के सहारे ही जीवित रह पाते हैं।[७०] यदि वे प्रसिद्धि से स्वतन्त्र होकर प्रभावी होते तो प्रतिव्यक्ति अविनाभाव का निश्चय एक–एक विषय को लेकर होता, किन्तु व्यवहार में हम ऐसा नहीं पाते। अग्नि के साथ अन्वय और व्यतिरेक वाले धुएँ में पीलापन इत्यादि के रहने पर भी जहाँ–जहाँ धुएँ का पीलापन है वहाँ वहाँ आग है **(यत्र यत्र धूमपाण्डिमा तत्र तत्र अग्नि:)** इस प्रकार अनुसंधान नहीं होता।[७१] इसी प्रकार प्रत्यक्ष में भी सर्वजनसाधारण व्यवहार का कारण वस्तु की ताद्रूप्यात्मक प्रसिद्धि होती है[७२] और वही इन्द्रिय आदि सामग्री से उत्पन्न होने पर भी तत्तत् वस्तु के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय आदि की प्रेरणा बनती है।[७३] प्रसिद्धि को समझाने के लिए अभिनव उसी दिन

---

६८. इह तावत्समस्तोऽयं व्यवहार: पुरातन:।।
प्रसिद्धिमनुसन्धाय, सैव चागम उच्यते। – तं. ३५/१–२

६९. तत्र आगमस्यैव तावत्साधारण्येन लक्षणमाह। – तं.वि., ८, पृ. ३६४५

७०. अन्वयव्यतिरेकौ हि प्रसिद्धेरुपजीवकौ।
स्वायत्तत्वे तयोर्व्यक्तिपूगे किं स्यात्तयोर्गति:। – तं. ३५/२–३

७१. स्वातन्त्र्येण तावेव यदि निश्चायकौ स्यातां तत् प्रतिव्यक्तिभावित्वादेकैकविषयाश्रय: ताभ्यामविनाभावावसाय: स्यात्, न च एवम् तत्रापि प्रसिद्धिरेव मूलम्। – तं.वि., ८, पृ. ३६४७

७२. ताद्रूप्यावमर्शमयीं तां सर्वव्यवहारनिबन्धनभूतां प्रसिद्धिम्। – तदेव

७३. प्रत्यक्षमपि नेत्रात्मदीपार्थादिविशेषजम्।।
अपेक्षते तथा मूले प्रसिद्धिं तां तथात्मिकाम्। – तं. ३५/३–४

जन्मे बालक का दृष्टान्त लेते हैं। सैकड़ों वस्तुओं से भरे कमरे में अकेला भूखा बालक क्या ले, कैसे ले, किससे ले, यदि स्वावमर्शरूप प्रसिद्धि न हो तो।[७४] ऊपर प्रत्यक्ष में हमने देखा था कि प्रसिद्धि का रूप तादूप्यावमर्शरूप है और अहर्जात बच्चे में आत्मावमर्शन रूप।[७५]

---

७४. अभित: संवृते जात एकाकी क्षुधित: शिशु:।।
किं करोतु किमादत्तां केन पश्यतु किं व्रजेत्। – तदेव ३५/४–५
जयरथ की टिप्पणी है : विना स्वावमर्शात्मिकां प्रसिद्धिं नियतविषयहानादानव्यवहारो बालस्य न स्यादित्यर्थ:। – तं.वि., ८, पृ. ३६४८। यह दृष्टान्त धर्मकीर्ति के (रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य गुणदोषमपश्यत:। विलब्धा वत केनामी सिद्धान्तविषयग्रहा:।।) (प्र.वा. ४/५४) का प्रत्युत्तर है। अभिनव विवृतिविमर्शिनी (१, पृ. ३६–३७) में इसको 'रिक्ता युक्ति:' कहकर खारिज कर चुके हैं, यह हम ऊपर देख चुके हैं।

७५. यहाँ पर अनुमान विचार में (ई.प्र.का. २/४/११) अपने मत के रूपायन में अभिनव पर पतंजलि के प्रभाव के उल्लेख का स्मरण दिलाना अवसरोचित होगा। योगिनिर्माणता के अभाव का प्रमाणान्तर से निश्चय हो जाने पर कार्य या स्वभाव अनुमान में हेतु बनते हैं। यहाँ प्रमाणान्तरेण का अर्थ पूर्व जन्म के अभ्यास और अच्छी तरह स्थापित लोकप्रसिद्धि से है जिनका उपजीवन अनुमान में आवश्यक है, यह पतंजलि का मत है। योगी की ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा गृहीत विषय ही प्रसिद्धि और अनुमान के आधार हैं : अतएवानुमाने जन्मान्तराभ्यासलोकप्रसिद्ध्यादिकम् अवश्यमुपजीव्यम्, सा च श्रुतानुमानप्रज्ञयोर्बीजम् इति ऋतम्भराविषयमुवाच पतञ्जलि:। (ई.प्र.वि., २, पृ. १७३) इस प्रसंग में टीकाकार भास्करकण्ठ के विचार अत्यन्त महत्त्व के हैं। उनकी दृष्टि में पतंजलि लोकप्रसिद्धि की अपरिहार्य उपयोगिता को रेखांकित कर रहे हैं। विषय–विभाग करते हुए वे बताते हैं कि बालक को स्तन्य दूध का अनुमान पूर्वजन्माभ्यास और अग्नि आदि का अनुमान प्रसिद्धि के बिना संभव नहीं है। जन्मान्तराभ्यास, लोकप्रसिद्धि (और अदृष्ट = 'आदि' का ग्राह्य) उस ऋतम्भरा प्रज्ञा के विषय हैं, जो अन्वर्थत: सत्य को धारण करती है। इसलिए यदि लोकप्रसिद्धि असत्य है, तो वह लोकप्रसिद्धि ही नहीं हो सकती। इसी को अनुत्तर को मानने वाले त्रिक आचार्य ऐश्वरी वाक् कहते हैं। भास्कर के अनुसार पतंजलि द्वारा सूत्र में ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्रयोग ही पूर्वजन्माभ्यासत्वेन प्रसिद्धित्वेन किया गया है : ऋतं सत्यं बिभर्ति इति ऋतम्भरा इत्यन्वर्थात् तेन असत्याया लोकप्रसिद्धेर्न लोकप्रसिद्धित्वम्। अस्या ऐश्वरी वागिति नाम अनुत्तरशास्त्रीया कथयन्ति। कुत्र सूत्रे उवाच इत्यत आह। सा च पूर्वजन्माभ्यासप्रसिद्ध्यादिभावेन प्रोक्ता ऋतम्भरा च श्रुतानुमानप्रज्ञयो:प्रसिद्धि–अनुमानज्ञानयो: बीजं भवति। (भा.,२, १७६–१७७) अभिनव यहाँ संदर्भण कर रहे हैं यो.सू. १/४७–४९ का : निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:। – ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। – श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। व्यास अपने भाष्य में कहते हैं कि निर्विचारा समापत्ति की ऋतम्भरा प्रज्ञा और श्रुततया अनुमानजनित साधारण प्रज्ञा अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं। सत्य को धारण करने के कारण वह अन्वर्थ है। आगम और अनुमान की वृत्ति सामान्यावधारणप्रधाना है और प्रत्यक्ष की विशेषावधारणप्रधाना। (यो.सू.१/७ और उस पर व्यासभाष्य)। ऋतम्भरा प्रज्ञा भी विशेषविषया है, इसलिए श्रुतप्रज्ञा और अनुमानप्रज्ञा से भिन्न है : समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति भूत सूक्ष्मगतो वा, पुरुषगतो वा

वस्तुतः प्रसिद्धि का अपोद्धार प्राग्वासनारूपविमर्श के शब्दों में किया गया है।[७६] यदि प्राच्य वासना है तो इसका स्वाभाविक फलित है कि यह पहले से आ रही -पौर्वकालिकी- प्रसिद्धि है। आगम की भी यही व्युत्पत्ति है।[७७] यही मूलभूत प्रसिद्धि ही सर्वत्र प्रमाण है यह हमें हठात् स्वीकार करना होता है : **मूलं प्रसिद्धिस्तन्मानं सर्वत्रैवेति गृह्यताम्।** (तं. ३५/११) इस प्रकार हानादानात्मक सारे व्यवहार का स्रोत है सजातीय प्रसिद्धि (जयरथ एक उद्धरण द्वारा यह नया शब्द देते हैं)। प्राग्वासनात्मक विमर्श और प्राक्तनी प्रसिद्धि ये दोनों पर्याय, विनिमयनीय प्रत्यय हैं।[७८] सजातीय प्रसिद्धि का तात्पर्य है पूर्व-पूर्व प्रसिद्धि का, पूर्व-पूर्व वासना का, उपजीवन। प्रश्न है कि यदि सारा व्यवहार पूर्व और फिर उससे पूर्ववृद्ध के व्यवहार से ही प्राणवायु पाता है और व्यवहार के अनादि होने के कारण पूर्वपूर्ववृद्धोपजीवन से मूल को नष्ट करने वाली अनवस्था भी यहाँ नहीं होती, तो प्रसिद्धि को व्यवहार का बलात् कारण बनाने से क्या लाभ? शैवों का समाधान है कि यह दौड़ निर्मूला या अनवस्थात्मक नहीं है। वस्तुतः वर्तमान का उपजीवन पूर्व में, उसका उपजीवन उसके पूर्व में, इस प्रकार पूर्व-पूर्व कारण की खोज हमें अंततः एक सर्वज्ञ प्रमाता तक ले जाती है, जहाँ परा रूप प्राथमिक भूमि में अन्य की अपेक्षा न होने से अनुन्मिषित अर्थात् आत्म-परामर्श या परा-परामर्श के रूप में वह प्रसिद्धि भासती है।[७९] अभिनव का निष्कर्ष है कि केवल पूर्व-पूर्व प्रसिद्धि के उपजीवन मात्र से, सर्वज्ञ प्रमाता का सहारा लिए बिना, व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि समस्तता का नियामक या निर्धारक असर्वज्ञ नहीं

तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति। (व्यासभाष्य) हरिहरानन्द आरण्यक की टिप्पणी है "जितने अंश का हेतु मिलता है उतने ही का ज्ञान होता है अन्य अंश का नहीं। धूमरूप हेतु से 'अग्नि है' मात्र का ज्ञान होता है, पर अग्नि के आकार-प्रकार की विशेषताओं के लिए असंख्य हेतु आवश्यक हैं। श्रुतज्ञान और आनुमानिक ज्ञान शब्दों की सहायता से (सब शब्द गतिवाचक हैं) होते हैं। जबकि ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय समाधिग्राह्य है।" (पृ. १४१) पतंजलि और अभिनव के मतों में अंतर भी है। अभिनव में प्राग्वासना जन्मान्तराभ्यास तथा प्रसिद्धि दोनों एकाकारता प्राप्त करते हैं, जबकि पतंजलि में इनकी पृथग्गणना होती है। यहाँ दोनों की तुलना प्रयोजनीय न होकर पतंजलि के प्रभाव का आकलन मात्र करना है।

७६. प्राग्वासनोपजीवी चेद्विमर्शः सा च वासना।।
प्राच्या चेदागता सेयं प्रसिद्धिः पौर्वकालिकी। - तं. ३५/९-१०

७७. विमर्शः आगमः सा सा प्रसिद्धिरविगीतिका।- जयरथ द्वारा उद्धृत, तं.वि., ८, पृ. ३६५१

७८. सजातीयप्रसिद्ध्यैव सर्वो व्यवहृतिक्रमः।
सर्वस्याद्यो वासनापि प्रसिद्धिः प्राक्तनी स्थिता।।- तदेव

७९. पूर्वपूर्वोपजीवित्वमार्गणे सा क्वचित्स्वयम्।।
सर्वज्ञरूपे ह्येकस्मिन्निःशङ्कं भासते पुरा। - तं. ३५/११-१२

हो सकता।[८०] मालिनीविजयवार्तिक में सार्वत्रिक व्यवहार के सर्वज्ञ प्रमाता के अधीन होने के नाते नियति को विश्व का प्रवर्तक बताया गया है।[८१] इस प्रकार पूर्णाहंपरामर्शी सर्वज्ञ परमेश्वर ही समस्त प्रसिद्धि का एकमात्र कारण ठहरता है। यही कारण है यहाँ भैरव का स्वरूप बताते हुए भोग और अपवर्ग को देनेवाली सैकड़ों प्रसिद्धियों से उसे शोभित बताया गया है।[८२]

परमेश्वर से प्रवृत्त, अन्तर्विरोध से शून्य या परामर्शान्तर से अबाधित ('वितता'), यह प्रसिद्धि दो प्रकार से लोकव्यवहार को साधती है[८३] –

१. परम्परा का सहारा लेकर – जयरथ के अनुसार इसका तात्पर्य मौखिक परम्परा से है, और

२. शास्त्र का आश्रय लेकर – जयरथ के अनुसार इसका तात्पर्य निबद्ध अर्थात् शब्दबद्ध शास्त्र से है।
ये दोनों वही हैं जिन्हें लघु और बृहती विमर्शिनी में अनिबद्ध–प्रसिद्धि और निबद्ध–प्रसिद्धि के नाम से स्मरण किया गया है। देश और काल, लौकिक और वैदिक इत्यादि भेद प्रसिद्धि के माध्यम से किए जाने वाले व्यवहार की विविधता के निमित्त बनते हैं।

प्रश्न यह है कि यदि आद्य प्रसिद्धि ही अंशांशतः अलग–अलग आगमों के रूप में प्रवृत्त हो रही है तो नियत आगम को स्वीकार करने के पीछे क्या आधार होगा? यहाँ

८०. व्यवहारो हि नैकत्र समस्तः कोऽपि मातरि।।
तेनासर्वज्ञपूर्वत्वमात्रेणैषा न सिद्ध्यति। – तदेव ३५/१२–१३

८१. नियतिः सैव विश्वस्य प्रवर्तकतया स्थिता।
स एव चागमो नाम वृद्धव्यवहृतिक्रमः।। – मा.वि.वा. १/७९५
इस मत को अभिनव किन्हीं भूतज के शिष्यों का मत कहते हैं: प्रामाण्यं नियतेः श्रीमद्भूतजान्तनिवासिनाम्। (तदेव १/८०७) यह भूतज कौन हैं, इसके बारे में कोई निश्चित सूचना नहीं है।

८२. भोगापवर्गतद्धेतुप्रसिद्धिशतशोभितः।
तद्विमर्शस्वभावोऽसौ भैरवः परमेश्वरः।। – तदेव ३५/१४
यही स्वरूप लोक का भी है, वह भी सैकड़ों प्रसिद्धियों से भरा हुआ है। अंतर यह है कि परमेश्वर उन सभी प्रसिद्धिरूप विमर्शों का आश्रय है, जब कि लोक में अलग–अलग प्रमाता का संबंध अलग–अलग प्रसिद्धि से होता है : प्रसिद्धिशतपूर्णे जीवलोके कस्यचित् काचिदेव प्रसिद्धिः।– ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ३७

८३. ततश्चांशांशिकायोगात्सा प्रसिद्धिः परम्पराम्।
शास्त्रं वाश्रित्य वितता लोकान्संव्यवहारयेत्।। – तदेव ३५/१५

शैवों का उत्तर उनकी आस्था से प्रभावित है (यद्यपि विमर्श का आधार लेकर इसे वह बार–बार कई स्थलों पर युक्ति से सिद्ध करते हैं, पर यहाँ पर यह बात मुखरित नहीं है)। नियत आगम के परिग्रह में पूर्णता–अपूर्णताभेद और तज्जन्य फलभेद कारण है। पूर्णता और मोक्ष के आकांक्षी विवेकी लोग संपूर्ण अर्थ का प्रतिपादक होने के नाते शैवागम का आश्रय लेते हैं[८४] और पूर्ण फल –मोक्ष– को न चाहने वाले अविवेकी जन अन्य आगमों की शरण जाते हैं। परन्तु इसे शैवों का 'सभी आगम प्रमाण हैं' (सर्वागमप्रामाण्य) सिद्धान्त खण्डित नहीं होता, क्योंकि अपने विश्वास और निष्ठा के अनुपात में वे परिमित (प्रतिनियत) फल के भागी होते हैं।[८५]

यहाँ पर अभिनव एक मौलिक प्रश्न उठाते हैं, जिसका प्रमाणमीमांसीय महत्त्व असंदिग्ध है। सद्यःजन्मा शिशु के व्यवहार में प्रसिद्धि की भूमिका तो मानी जा सकती है क्योंकि उसे अन्वय–व्यतिरेक का ज्ञान नहीं है, किन्तु वयस्क व्यक्ति, जिसका विवेक परिपक्व हो चुका है उसका व्यवहार क्योंकर प्रसिद्धि से नियन्त्रित और प्रेरित माना जा सकता है, क्यों न वहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रवृत्ति मानी जाए? अभिनव उत्तर में अपने विषयतापत्ति सिद्धान्त, जिसकी पहले चर्चा हो चुकी है, का स्मरण दिलाते हैं। प्रमाण की प्रवृत्ति तभी होती है जब वस्तु विषयभाव को प्राप्त हो। ऐसा प्रमाता जो अब बड़ा हो गया है, बालक नहीं रहा, उसके प्रत्यक्ष का विषय अन्न है, किन्तु वह भोज्य है इसका कोई कारक तत्त्व उस प्रत्यक्ष ज्ञान में दिखाई नहीं देता।[८६] दूसरे शब्दों में, भोज्यता विषयभाव को प्राप्त नहीं हुई है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण भोज्यता में प्रवर्तक नहीं हो सकता। अनुमान को भी कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह अन्वयव्यतिरेक पर निर्भर करता है और अन्वय–व्यतिरेक प्रसिद्धि पर आश्रित हैं (यह हम कुछ देर पहले ही देख चुके हैं), अतः अ–बाल का व्यवहार भी अंततः प्रसिद्धि पर ही विश्रान्त होता है।[८७] यही कारण

८४. सन्तः समुपजीवन्ति शैवमेवाद्यमागमम्।। – तं. ३५/१६
जयरथ द्वारा उद्धृत उक्ति का उल्लेख प्रासंगिक होगा :
तस्मात्संपूर्णसंबोधपराद्वैतप्रतिष्ठितम्।
यः कुर्यात्सर्वतत्त्वार्थदर्शी स पर आगमः।। – तं.वि., ८, पृ. ३६५५

८५. उपजीवन्ति यावत्तु तावत्तत्फलभागिनः। – तं. ३५/१७

८६. तत्र न तावत्प्रत्यक्षत्वं सम्भवति तस्य हि अन्नं विषयः, न तद्भोज्यत्वं तस्य ज्ञाने विकारकारित्वाभावात्, तत्कथमस्य विषयभावमप्राप्ते वस्तुनि प्रवर्तकत्वं स्यात्। – तं.वि., ८, पृ. ३६५६

८७. बाल्यापायेऽपि यद्भोक्तुमन्नमेष प्रवर्तते।
तत्प्रसिद्ध्यैव नाध्यक्षान्नानुमानादसम्भवात्।। – तं. ३५/१८

है कि लौकिक व्यवहार में बच्चे और विद्वान् को एक जैसा माना गया है।[८८] काश्मीरी शैव यहाँ पर भी भर्तृहरि का अनुगमन सा करते दिखाई देते हैं, जो प्रसंगान्तर से कहते हैं कि शास्त्र और व्यावहारिक जीवन दोनों में लौकिक व्यवहार के प्रति प्रवृत्ति में भेद नहीं होता।[८९]

अभिनव जोर देकर कहते हैं कि यहाँ प्रसिद्धि के अतिरिक्त किसी अन्य हेतु की कल्पना भी नहीं की जा सकती। भूख से व्याकुल व्यक्ति भोज्य पदार्थ के पीछे ही दौड़ता है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि अन्य से उसकी भूख मिट जाएगी इसका निश्चय नहीं हो पाता।[९०] यदि ऐसा है, तब भी प्रश्न है कि जो व्यक्ति प्रसिद्धि से प्रवृत्त हो रहा है, उसी के मन में शङ्का क्यों नहीं जागती। उत्तर है कि प्रसिद्धि और कुछ भी नहीं है, अपितु प्रमाता का विरुद्ध विमर्श के उदय से रहित शब्दनात्मिका प्रतीति रूप स्वभाव है।[९१] विशेष बात यह है कि परमेश्वर को इस विमर्श का अर्थात् परामर्शन क्रिया का कर्ता माना गया है,[९२] और यही कारण है इस विमर्शात्मक प्रसिद्धि की प्रमाणरूपता का, क्योंकि स्वयं कर्ता होने के नाते प्रमाता को प्रसिद्धि अर्थात् आत्मविमर्श में शंका या सन्देह नहीं होता।

वस्तुत: यह प्रमाता सर्वज्ञ शंकर ही है, ऐसी शङ्का का अभाव परमेश्वरता की स्थिति में ही हो सकता है। पर कठिनाई यह है कि लौकिक जीवन में हम परमेश्वर नहीं होते, परमेश्वर न होने के कारण निश्शंक स्वावमर्श की संगति नहीं बैठती। अभिनव को अपने प्रतिपादन में कोई अंतर्विरोध नहीं दिखाई देता, क्योंकि जब तक शिवता पूरी तरह से नहीं भी होती तब तक यह प्रमाता स्वात्मानुसारिणी उतनी ही (परिमित) प्रसिद्धि के बारे में शङ्का नहीं करता। कारण यह उसकी आत्मकर्तृक परामर्शनक्रिया ही है। हाँ, अन्य की प्रसिद्धि के बारे में शंका करता है और दूसरे की प्रसिद्धि से स्वावमर्शात्मक प्रतीति को अधिक मान्यता देता है।[९३] ऐसी स्थिति में शैवों का यह सिद्धान्त कि विवेकी मनुष्य शैव

---

८८. यदभिप्रायेणैव 'लौकिके व्यवहारे हि सदृशौ बालपण्डितौ' इत्यादि उक्तम्। – तं.वि., ८, पृ. ३६५६

८९. शास्त्रव्यवहारसदृशं च लौकिकं भेदव्यवहारम्। – वाक्य. १/२४–२६ पर वृत्ति, पृ. ६५

९०. न च काप्यत्र दोषाशाशंकायाश्च निवृत्तित:। – तं. ३५/१९

९१. प्रसिद्धिश्चाविगानोत्था प्रतीति: शब्दनात्मिका।।
मातु: स्वभावो [.....] । – तं. ३५/१९–२०अ

९२. [.....] यत्तस्यां शङ्कते नैव जातुचित्।
स्वकृतत्ववशादेव सर्ववित्स हि शंकर:।। – तदेव ३५/२०

९३. यावत्तु शिवता नास्य तावत्स्वात्मानुसारिणीम्।
तावतीमेव तामेष प्रसिद्धिं नाभिशङ्कते।।
अन्यस्यामभिशङ्की स्याद्भूयस्तां बहु मन्यते।। – तं. ३५/२१–२२

आगम का ही अवलम्बन करते हैं, का अभिप्राय यही है कि वे इसे स्वावमर्शमयी अर्थात् स्वप्रसिद्धि ही मानते हैं, क्योंकि मनुष्य की नियति ही है उसका शिवत्व प्राप्त करना।[९४] शैव इस युक्ति से दो निष्कर्ष, जो एक दूसरे के पूरक हैं, निकालते हैं। एक, यह कि आगम वस्तुत: एक ही है और दूसरे, वह आगम शैवागम है। यहाँ अभिनव एक महत्त्वपूर्ण काम अघोषित रूप से कर डालते हैं : वे वैदिक आगम को अपने में आत्मसात् कर लेते हैं और स्वयं को भारतीय दर्शन की मुख्य सांस्कृतिक धारा में ढाल देते हैं। सर्वदर्शी परमेश्वर एक ही आगम को प्रदर्शित करता है जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, जयरथ की भाषा में कर्म और ज्ञान, दोनों ही मार्गों में स्थित है।[९५] यदि परमेश्वर ने एक ही आगम को प्रदर्शित किया है तो प्रत्येक शास्त्र में पुरुषार्थचतुष्टय को लेकर स्वरूपत: और फलत: जो विविधता और भेद दिखाई पड़ता है, उसका कारण इन पुरुषार्थों की अपनी क्रमिक पूर्णता और अपूर्णता में निहित है। पूर्ण, पूर्णापूर्ण और अपूर्ण भेदों से प्रसूत होने वाले सारे विचित्र फलों का एकमात्र उपाय शाम्भवागम ही है।[९६]

इस तर्कप्रणाली में अंतर्विरोध है – कर्ता तो एक है, उसका उपदेश अलग–अलग और विचित्र है, ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। शैव दार्शनिक इस विरोध का शमन एकोपायता को चित्रोपायता में परिघटित करके करते हैं। विषयभेद अर्थात् देश, काल, अधिकारी आदि विषयों के भेद से विचित्र फलों के देने के कारण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि उपायों का एक ही आगम के अंतर्गत उपदेश परस्पर विरोध का आधान नहीं करता।[९७] अभिनव के द्वारा प्रयुक्त चित्रोपाय शब्द में बड़ा अर्थगौरव है। चित्र शब्द में वैचित्र्य

९४. एवं भाविशिवत्वोऽमूं प्रसिद्धिं मन्यते ध्रुवम्।। – तदेव ३५/२२

९५. एक एवागमश्चायं विभुना सर्वदर्शिना।
दर्शितो यः प्रवृत्ते च निवृत्ते च पथि स्थित:।। – तदेव ३५/२३ ; मिलाइये तं. ३५/३५ : तदेक एवागमोऽयम् ।

९६. धर्मार्थकाममोक्षेषु पूर्णापूर्णादिभेदत:।
विचित्रेषु फलेष्वेक उपाय: शाम्भवागम:।। – तदेव ३५/२४

९७. तस्मिन्विषयवैविक्त्याद्विचित्रफलदायिनि।
चित्रोपायोपदेशोऽपि न विरोधावहो भवेत्।। – तं. ३५/३५
शैवों की इस अंतर्दृष्टि को उनके अद्वैतवाद की दृष्टि से, चित्राद्वैतवाद (variegated non-dualism) कहा जा सकता है। अरिंदम चक्रवर्ती इसमें ज्ञानश्री तक आते–आते बौद्ध दृष्टि का भी उल्लेखनीय प्रभाव अनुभव करते हैं। अभिनव के पूर्व गुरुओं में अन्यतम भट्टनारायण का यह श्लोक बहुत प्रचलित है : निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते। जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।। (स्त.चि.९) स्वयं क्रियाधिकार के मंगलश्लोक में अभिनव यही दृष्टि अङ्गीकार करते हैं (यत्र विश्रान्तिमासाद्य चित्रं क्रीडाविजृम्भितम्। क्रियाशक्तिप्रियात्यन्तं दर्शयेत्तं स्तुम: शिवम्।। – ई.प्र.वि.,

ही गर्भित नहीं है, चित्ररूपता= आलेख्याकारता= असंख्यवर्णी आकारविच्छित्तियों से भरा चित्रफलक भी अन्तर्व्यञ्जित है, जहाँ वैविध्य है, विरोध नहीं। आगमैकत्व और चित्ररूपता प्रसिद्धि में समान रूप से लागू, अत: प्रसिद्धि भी एक और चित्ररूप है।[९८] इस आगम में इस प्रकार लौकिक शास्त्र से लेकर, वैष्णव, बौद्ध और शैव आगम तक सभी प्रतिष्ठित है, इसके परम उपेय को ही त्रिक या कुल कहते हैं। सांख्य, बौद्ध आदि आगम इसी एक के ही टुकड़े हैं, जिन्हें संसार भ्रमवश स्वतन्त्र और अनेक समझता है।[९९]

जिस विषयभेद के बल पर एक ही आगम की विविध अभिव्यक्तियों में विरोधाभाव की संभावना की जाती है, आगमिकों के एक वर्ग की दृष्टि में वह अनावश्यक है। क्योंकि यदि एक आगम के खण्डों में बल समान है[१००] तो एक दूसरे के विकल्पतया उनका ग्रहण हो सकता है, विषयभेद की उपस्थापना अकिंचित्कर है। परन्तु अभिनव इससे सहमत नहीं हैं। विकल्पतया आगमों को अनेक (अनेकागमपक्ष) मानने पर भी उनमें अमुक की स्थिति ऊपर है, अमुक की नीचे इस प्रकार विषयगत भेदन तो मानना ही होगा, अन्यथा विकल्पों में परस्पर प्रतिरोध से किसी की भी प्रामाणिकता सध न पाएगी।[१०१] अत: अधिकारिभेद के आधार पर नियत उपाय के उपदेशक के रूप में ही शास्त्र प्रमाण हो सकेगा।[१०२] विषयभेद, अधिकारि-भेद जिसका आवश्यक उपादान है, पर अभिनव का अत्यन्त आग्रह है और इस अर्थ में वे सामान्य भारतीय दृष्टि का अनुवाद ही करते दीखते हैं। विषयभेद की तुलना में नित्यत्व और अविसंवाद को भी वे आगम की प्रामाणिकता की कसौटी के

२, पृ. ५)। सोमानन्द शिवदृष्टि (शि.दृ. ६/२-४) में वेदान्तियों के एकदेश में मान्य चित्रब्रह्मवाद का उल्लेख करते हैं, पर अपने चित्राद्वैत को वे उस चित्रब्रह्मवाद से भिन्न मानते हैं। इस मत के संबंध में हमारे पास पर्याप्त जानकारी नहीं है।

९८. तदेक एवागमोऽयं चित्रश्चित्रेऽधिकारिणि।
तथैव सा प्रसिद्धिर्हि स्वयूथ्यपरयूथ्यगा।। - तदेव ३५/३५

९९. एकस्मादागमाच्चैते खण्डखण्डा व्यपोद्धृता:।
लोके स्युरागमास्तैश्च जनो भ्राम्यति मोहित:।। - तदेव ३५/३५

१००. जयरथ के द्वारा अवतरणिका में प्रयुक्त 'तुल्यप्रमाणशिष्टानां विकल्प इति नीत्या' में 'तुल्यप्रमाणशिष्टानां' का अर्थ मुझे स्पष्ट नहीं है, मैंने इसे 'तुल्यप्रमाणेन उपदिष्टानां' के अर्थ में समझा है।

१०१. अनेकागमपक्षेऽपि वाच्या विषयभेदिता।
अवश्यमूर्ध्वाधरतास्थित्या प्रामाण्यसिद्धये।।
अन्यथा नैव कस्यापि प्रामाण्यं सिद्ध्यति ध्रुवम्। - तं. ३५/३८-३९

१०२. कस्यचिदेव अधिकारिणो नियतोपदेशकं शास्त्रं प्रमाणम्। - तं.वि., ८, पृ. ३६६७

रूप में खारिज कर देते हैं।[१०३] प्रत्यक्ष आदि के नित्य न होने पर भी उन्हें प्रमाण कहा जाता है; आकाश आदि महाभूत नित्य हैं पर उनकी प्रमाणतया संभावना नहीं की जाती; 'स्वर्गकामो यजेत', 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:' इन वाक्यों में अविसंवाद (संवाद) के दिखलाई न पड़ने पर भी उन्हें प्रमाण माना जाता है; कभी 'कुएं में जल है' ऐसे लौकिक वाक्यों की, जल के देखे जाने पर भी, प्रामाणिकता उपपन्न नहीं हो पाती। यदि नित्यत्व और अविसंवाद को आगम के प्रामाण्य का निश्चायक मान भी लिया जाए (अभ्युपगमपक्ष) तो प्रामाण्य के ये कारण हैं इस प्रकार के उपदेश या प्रवर्तना में इसी आगम को प्रमाण मानना होगा।[१०४]

जहाँ तक अभिनव की अपनी वरीयता का संबंध है, वे एकागमवादी हैं। इस एकागम की व्याख्या भी दो स्तरों पर की जाती है, सापेक्ष और आत्यंतिक। आत्यन्तिक स्तर पर एक आगम है, वह शैवागम है और उसी की शाखा और प्रवाह विषयभेद से फूट रहे हैं। सापेक्ष स्तर पर भी आगम एक ही है तत्तत् अधिकारी के लिए, जिसकी निष्ठा का केन्द्र वह विशिष्ट आगम है। इसी अर्थ में सभी आगम अपने-अपने नियत विषयों में प्रमाण हैं। आगमों की व्याख्या और उनका संवादकत्व भी इसी से निर्धारित होता है। इसीलिए उन्हें वेदों के संदर्भ में अर्थवाद इत्यादिवाक्य भी विसंवादी और निरर्थक नहीं लगते, क्योंकि विध्यङ्गत्वेन उनकी सत्यता या विधितया भी उनकी संवादिता स्थापित होती है। ऐसा लगता है कि गुरु शंभुनाथ से प्रवृत्त व्याख्या में उन्हें सोमानन्द की शिवदृष्टि का स्मरण हो रहा हो।[१०५] अन्यथा, एक आगम के आधार पर अन्य आगम की व्याख्या में आपतित अतिप्रसङ्ग

१०३. नित्यत्वमविसंवाद इति नो मानकारणम्। - तं. ३५/३९। यहाँ पर जयरथ की अवतरणिका है : ननु नित्यत्वाविसंवादाभ्यामेव आगमप्रामाण्यसिद्धौ किं विषयभेदाभेदवचनेन इत्याशंक्याह। यहाँ 'विषयभेदाभेदवचनेन' (विषय के भेदाभेद कहने से) पाठ मूल वक्तव्य के साथ न्याय करता नहीं दिखाई देता। उचित पाठ संभवत: होना चाहिए था : विषयभेदादभेदवचनेन (विषय-भेद से [आगम के] अभेद प्रतिपादन से)। परन्तु हम पाठशोधन के अधिकारी नहीं हैं।

१०४. अस्मिन्नंशेऽप्यमुष्यैव प्रामाण्यं स्यात्तथोदिते:। - तं. ३५/४०
यहाँ जयरथ 'अमुष्यैव' का अर्थ 'अमुष्य शैवस्यैव' कर रहे हैं। यह साम्प्रदायिक दृष्टि से ठीक भी है। परन्तु मुझे लगता है कि यदि इसका शैवागमपरक अर्थ न करके केवल आगमपरक या प्रसिद्धिपरक अर्थ ही किया जाए तो अभिनवीन आगम-प्रामाण्य सिद्धान्त को व्यापकतर आधार मिलता है।

१०५. सोऽरोदीदीति वेदेऽस्ति नार्थवादो निरर्थक:।
विध्यङ्गत्वेन चेत्सत्या नासत्यस्याङ्गता स्थिता।।
अर्थवादादपि फलं रात्रिक्रतुषु दर्शितम्। - शि.दृ. ३/६७-६८अ ब देखिए उत्पल की पदसंगति, पृ. १२३-१२५

हर आगम का अपबाधक सिद्ध होगा। इसलिए इस आगम नामक प्रमाण का अवश्य सम्मान करना चाहिए[१०६] और इस सम्मान का एक ही रूप है और वह है उस शास्त्र में निष्ठा।[१०७] इस सामान्य सिद्धान्त को वह विशेषत: शैवागमनिष्ठा में विश्रान्त करते हैं, क्योंकि प्रधान अङ्ग को साधने से अवान्तर अङ्ग स्वयं सिद्ध हो जाते हैं।[१०८]

सारे आगमों का प्रामाण्य तभी संभव है, जब उनमें पारस्परिक विरोध के परिहार के साथ उनके समन्वय की भूमि का आविष्कार कर लिया जाए। विषयभेद, पूर्णतापूर्णताभेद और चित्ररूपता इन समाधान-विकल्पों को वे समन्वय के तीन प्रतिदर्शों (models) में प्रस्तुत करते हैं। इनमें से तीनों स्वतन्त्र हैं, पर पूरक कहे जा सकते हैं और सुविधा के लिए इन्हें पहला, दूसरा और तीसरा कहा जा सकता है। पहला प्रतिदर्श है उत्तरोत्तर सामर्थ्य और पूर्व-पूर्व विघातित्व का सिद्धान्त। शक्तिपातविधि का निरूपण करते समय अभिनव इसका विस्तार से प्रतिपादन करते हैं।[१०९] वहाँ भी उनके गुरु शंभुनाथ उनके उपजीव्य हैं।[११०] शक्तिपात का एक फल यह भी है कि ऊर्ध्व-से-ऊर्ध्व पथ पर जाने वाला साधक अधर-से-अधर गुरु और आगम को त्यागने की इच्छा से प्रेरित होता है। यहाँ उत्तरोत्तर की प्राप्ति और पूर्व-पूर्व का विघात होता चलता है।[१११] गुरु वही है जो उस शास्त्र में अधिकारी है, जो अनधिकारी है वह गुर्वन्तर या आगमान्तर है। इसलिए आगम-बहुत्व या गुरु-बहुत्व में बहुत शंकालु नहीं होना चाहिए यदि इसकी दिशा उत्तरोत्तर ज्ञान सिद्धि की ओर है तो।[११२] इसका अपवादन या उल्लंघन होने पर लिंगोद्धार इत्यादि संस्कारों का आश्रय लेना पड़ता है। वैदिक आश्रम-व्यवस्था में जैसे एक आश्रम से दूसरे आश्रम में तदुचित संस्कारपूर्वक प्रवेश करते हैं, वैसे ही लिंगोद्धार रूप आगमिक संस्कार अधिकारिता प्रदान करते हैं।

---

१०६. अतिप्रसङ्ग: सर्वस्यापागमस्यापबाधक:।
अवश्योपेत्य इत्यस्मिन्मान आगमनामनि।। - तं. ३५/४१

१०७. अवश्योपेत्यमेवैतच्छास्त्रनिष्ठानिरूपणम्। - तदेव ३५/४२अ ब

१०८. प्रधानेऽङ्गे कृतो यत्न: फलवान्वस्तुतो यत:।। - तदेव ३५/४२स द

१०९. तंत्रालोक, तेरहवाँ आह्निक

११०. श्रीशंभुवदनोद्गीर्णां वच्म्यागममहौषधीम्। - तं. १३/१०२
तस्मान्न गुरुभूयस्त्वे विशंकेत कदाचन। - तदेव १३/३४९

१११. यस्तूध्र्वोर्ध्वपथप्रेप्सुरधरं गुरुमागमम्।
जिहासेच्छक्तिपातेन स धन्य: प्रोन्मुखीकृत:।। - तदेव १३/३५६
यहाँ 'जिहासेच्छक्तिपातेन' पाठ अशुद्ध लगता है। उचित या सार्थक पाठ होता 'जिहासेच्छाशक्ति-पातेन'। पर पाठशोधन हमारे अधिकार क्षेत्र में नहीं है।

११२. द्रष्टव्य तं. १३/३४९-३५५

तर्क यह है कि एक शिव से उदित होने पर भी जैसे ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम का फल नहीं मिलता, वैसे ही पाञ्चरात्र आदि अधर आगमों से शिवात्मता रूप फल साक्षात् नहीं मिलता।[११३] इस प्रकार वैष्णवों से (वस्तुत: लोक से) लेकर त्रिक पर्यन्त शास्त्रों का परस्पर समन्वयन समझा जा सकता है। यह दृष्टि शैवों की सम्प्रदायगत दृष्टि कही जा सकती है।[११४]

इसी क्रम में दूसरा प्रतिदर्श है अङ्गाङ्गिभावपूर्वक अङ्गों की ऊर्ध्वाधरता। मूल आगम अङ्गी है। वह प्राण या आत्मा के रूप में शरीर के उन सारे अङ्गों को अनुप्राणित कर रहा है जो परस्पर ऊर्ध्वाधर भाव से स्थित हैं। इस प्रकार यह द्विचरणात्मक कहा जा सकता है। त्रिक और उसके पर्याय कुल की स्थिति प्राणस्थानीय है, सारतया है, और पाँचों स्रोतों के आगम अङ्गतया ऊपर–नीचे अवस्थित हैं।[११५] यहाँ मूल आगम एक ही है। आगमों की ऊर्ध्वाधरता का दूसरा विकल्प आगमों को अनेक मानने की स्थिति में दिखाई देता है। यहाँ पर यह स्थिति सोपानक्रम में है (इस शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है)। विषय–भेद से आगमों को एक सीढ़ी की तरह ऊपर से नीचे तक या नीचे से ऊपर तक अवस्थित मानना होगा।[११६]

तीसरा प्रतिदर्श है –स्वलक्षणाभास के संरचनात्मक अनुकार द्वारा अनन्ताभासाङ्गी–करण का।[११७] जैसे घटाभास रूप स्वलक्षण अपने में अनन्त सामान्याभासों के स्वीकरण या सामानाधिकरण्य पूर्वक रूप ग्रहण करता है और उन सारे अनन्ताभासों को अपने में संजोए रखता है, ठीक वैसे ही इन तमाम आगमों में वह आगम जो महेशता का प्रतिपादन

---

११३. यथैकत्रापि वेदादौ तत्तदाश्रमगामिन:।
संस्कारान्तरमत्रापि तथा लिङ्गोद्धृतादिकम्।।
यथा च तत्र पूर्वस्मिन्नाश्रमे नोत्तराश्रमात्।
फलमेति तथा पाञ्चरात्रादौ न शिवात्मताम्।। – तदेव ३५/२८–२९

११४. प्राग्वैष्णवा: सौगताश्च सिद्धान्तादिविदस्तत:।
क्रमात्त्रिकार्थविज्ञानचन्द्रोत्सुकितदृष्टय:।। – तदेव १३/३४८

११५. यथोर्ध्वाधरताभाक्सु देहाङ्गेषु विभेदिषु।
एकं प्राणितमेवं स्यात् त्रिकं सर्वेषु शास्त्रत:।। – तदेव ३५/३२

११६. अनेकागमपक्षेऽपि वाच्या विषयभेदिता।
अवश्यमूर्ध्वाधरतास्थित्या प्रामाण्यसिद्धये।। – ३५/३८

११७. कश्चित् पुनरागमो महेशताविभागलक्षणपरमनिर्वाणफलो भवन्ननन्तसामान्यनिकुरुम्बस्वीकारिघटाभासवद् अनन्ताभासस्वीकारेण वर्तमानोऽधरशासनाभिहितभोगापवर्गसमर्थोऽपि भवति, न तु अधर ऊर्ध्वफलदानसमर्थ:। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १०१

करता है और जिसका फल परम निर्वाण है, वह अनन्त आगमों को आभासनिकुरुम्बवत् अपने में अंतर्सात् किए हुए सारे अधर शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित भोग और अपवर्ग देने में समर्थ होता है, किन्तु निम्नवर्ती आगम ऊर्ध्व आगम का फल देने में समर्थ नहीं होता। इस प्रक्रिया को सामान्याभासों की मिश्रीकरणमात्रा के अनुपात में सारे आगमों पर उनके आपेक्षिक ऊर्ध्वाधरता संदर्भों में लागू किया जा सकता है।

प्रसिद्धि का एक मौलिक विग्रह **'प्रतीतेः सिद्धिः प्रसिद्धिः'** के रूप में करके अभिनव प्रसिद्धि का अर्थ प्रतीति की दृढ़ता या निरूढि से लेते हैं।[११८] प्रतीति है शब्दनरूप विमर्श, और दृढ़ता है विमृष्ट (अर्थ) का तथाभाव या भावित की तथारूपता। यह विमर्शन चेतना का आन्तरिक सहज रूप है।[११९] शब्दन और विमर्शन में अभिनव पर्यायता देखते हैं, अतः दृढ़विमर्शरूप शब्दन आगम है।[१२०] यहाँ पर सभी ओर से अवगमन रूप आगम के व्युत्पत्तिलभ्य व्यापार का लक्षण है : प्रतिपाद्य अर्थ का दृढ़ विमर्शन कराने वाला प्रमाण आगम है।[१२१] यही विमर्श आगम का साक्षात् अभिधेय है, इस विमर्श को जन्म देने वाली शब्दराशि को उपयोगवशात् केवल उपचार से आगम कहा जा सकता है।[१२२] यहाँ अभिनव ज्ञान और वस्तु के बीच संवाद का एक नया प्रतिमानक गढ़ते हैं। अनुभव आदि प्रमाण जहाँ वस्त्वनुसारी होता है, आगम वस्तुतत्त्वानुसारी होता है।[१२३] इसका अर्थ यह है कि आगम जैसा विमर्श करता है, वह वस्तु वैसी ही होती है[१२४] – वह वस्तु का नहीं, वस्तुतत्त्व

---

११८. 'प्रसिद्ध' (पठनीय 'प्रसिद्धि') इति। प्रतीतेर्निरूढिर्दृढता। – तदेव, पृ. ८४। यहाँ पर स्पष्ट ही 'प्रसिद्धिरागमो लोके' श्लोक की व्याख्या की जा रही है। अभिनव 'प्रतीतेः सिद्धिः' शब्दशः नहीं कहते। किन्तु प्रक्रान्त व्याख्या [(प्र) प्रतीतेः] (सिद्धिः) निरूढिः = दृढ़ता] अन्यथा निर्वचन से संभव नहीं है।

११९. शब्दनरूपत्वं (पठनीय 'शब्दनरूपं') विमर्शनं यदान्तरं चित्स्वभावस्य अन्तरङ्गं रूपं प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पं तेन यत् विमृष्टं, तत् तथैव भवति। – तदेव

१२०. दृढविमर्शरूपं शब्दनम् आगमः। – तदेव, पृ. ८५

१२१. दृढविमर्शनरूपं शब्दनम् आ समन्ताद् अर्थं गमयतीति आगमसंज्ञकं प्रमाणं सर्वस्य तावत्। – ई.प्र.वि., २, पृ. ८७

१२२. ततः स एव विमर्श आगम इति उच्यते मुख्यतया, तदुपयोगितया तु उपचारेण तज्जनकोऽपि शब्दराशिः। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८४

१२३. वस्तुतत्त्वानुसारिणः आगमाः। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ९०; गीता रस्तोगी इस बिन्दु को उठाती हैं, पर विकसित नहीं करतीं। देखिए प्र.प्र.मी., पृ. ३००

१२४. तेन यत् यथामृष्टं तत् तथैव यथा नैतत् विषं मां मारयति गरुड एव अहम् इति। – ई.प्र.वि., २, पृ. ८५–८६

का अनुसरण करता है। दूसरे शब्दों में, वस्त्वनुसारी विमर्श के स्थान पर आगम में विमर्शानुसारी वस्तु होती है।

इस प्रकार दृढ़विमर्श आगम के स्वरूप–विमर्श का केन्द्रीय मापदण्ड है। एक ओर तो यह आगम प्रमाण की पक्षपातहीनता का सिरजनहार है और दूसरी ओर उसमें जो आश्वस्त है उसी की उसमें अनुष्ठान योग्यता है इसका भी निर्धारक है। दूसरी बात हमें पूर्वोक्त शास्त्रनिष्ठा के प्रत्यय का स्मरण कराती है। जिसकी जिस आगम में दृढ़ आस्था नहीं है उसके लिए वह अप्रमाण है। आगम की अपक्षपातिता व्यक्ति–निरपेक्ष सपाट प्रत्यय नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमान भी प्रमातृनिरपेक्ष होकर प्रमाण नहीं बनते। मोहन का घटप्रत्यक्ष या आग का अनुमान श्याम का घटप्रत्यक्ष या अग्न्यनुमान नहीं है। दोनों के प्रत्यक्ष और अनुमान तत्तत्प्रमातृसापेक्ष हैं, उनका प्रामाण्य उनकी एकजातीयता और सर्वसाधारण्य में है, प्रमातृ–ताटस्थ्य में नहीं। वह एकजातीयता आगम प्रमाण में भी समान रूप से उपलब्ध है।[१२५] इसी कारण बौद्ध और चार्वाक आदि की प्रतीति की दृढ़ता अपने आगम या अपने विश्वस्त पुरुष के वचन में होती है और वह उनके लिए प्रमाण है। दो चाँद दिखाई पड़ना अप्रामाणिक ज्ञान है, पर उसमें भी उसी प्रकाश, आँख आदि का उपयोग होता है जिनका सामान्य प्रत्यक्ष में, पर इससे सारे प्रत्यक्ष प्रमाण की अपक्षपातिता संदिग्ध नहीं हो जाती।[१२६] दृढ़विमर्श के मापदण्ड का निहितार्थ है कि अदृढ़ विमर्श वाले व्यक्ति के लिए वह आगम आगम न होकर आगमाभास है। 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' अनधिकारी, दृढ़विमर्श से हीन शूद्र के लिए आगमाभास है और नैष्ठिक द्विज के लिए आगम। इसलिए 'सम्यक् आगम' ('आ सम्यक् [अव] गमः') के रूप में व्युत्पन्न आगम का अर्थ दृढ़विमर्श में ही पर्यवसित होता है।[१२७] इसलिए अभिनव का निगमन है कि समस्त आगम नियत अधिकारी, नियत देश, नियत काल, नियत सहकारी आदि के विमर्शपूर्वक या उनसे नियन्त्रित होकर ही विधान या निषेध रूप विमर्शन करता है।[१२८] **'प्रसिद्धिरागमो लोके'**

---

१२५. अथ तथाजातीये प्रत्यक्षानुमाने मैत्रस्य अपि कदाचित् भवत इति अपक्षपातिता, सा तर्हि आगमस्य अपि अविशिष्टा। – तदेव

१२६. न च इयता सम्यक् प्रत्यक्षस्य पक्षपातिता प्रसज्यते काचित्। – तदेव, पृ. ८५

१२७. तथा ज्योतिष्टोमादिवाक्ये शूद्रादीनाम् अनधिकारिणाम् अदृढविमर्शरूपे आगमाभासे उपयोगं व्रजन्नप्रमाणभूतोऽपि श्रद्धादरवति द्विजे दृढ़विमर्शात्मक–सम्यगागमरूप–शब्दनोपयोगे प्रामाण्यमासादयन् न पक्षपातादिवाच्यतार्हः। – तदेव; द्र., ई.प्र.वि., २, पृ. ८८

१२८. सर्व एव हि आगमो नियताधिकारिदेशकालदशासहकारिप्रभृतीनामृश्य विधिनिषेधादिविमर्शमयः। – तदेव; द्र. ई.प्र.वि., २, पृ. ८८–८९; द्र., प्र.प्र.मी., पृ. २९९

श्लोक में 'यत्र' और 'यदा' शब्दों का यही अर्थ है।[१२९] इससे यह स्पष्ट निर्गलित होता है कि ईश्वर किसी पुरुष को किसी देवता, सिद्ध या उपास्य विशेष से संबद्ध करणीयोचित के विमर्श के साथ उसको जोड़ता हुआ उत्पन्न करता है और किसी को अन्य विमर्श के साथ। इसलिए धर्मकीर्ति की उक्ति[१३०] कि 'प्राणी जन्मतः रिक्त होता है' का फिर से खण्डन करते हैं। दृढ़विमर्श या दृढ़निरूढि का मापदण्ड अधिकारी के लक्षण में भी उसी प्रकार प्रयुक्त होता है। दृढ़निरूढि से युक्त होना अधिकारी का लक्षण है।[१३१] अभिनवगुप्त कहते हैं कि अधिकारी का यह लक्षण केवल प्रत्यभिज्ञा आचार्यों का ही नहीं है, अपितु पूरी श्रुति परम्परा भी इसी लक्षण के प्रति श्रद्धावनत है।[१३२] यह प्रसिद्धि युक्ति से संवलित भी हो सकती है और उससे भिन्न भी।[१३३] ईश्वर के अस्तित्व में सन्निवेश इत्यादि कार्यरूप लिङ्ग से अनुमान आदि युक्तिमान् आगम को निदर्शित करते हैं, और तत्त्व, भुवनादि न्यायेतरता को।[१३४]

प्रसिद्धि की द्विविधता : निबद्ध-अनिबद्ध

यह प्रसिद्धि साधारण तौर पर दो प्रकार की है : (१) शास्त्रनिबद्ध और (२)

---

१२९. तेन 'प्रसिद्धिः' इति श्लोके 'यत्र यदा' इत्युक्तम्। – ई.प्र.वि., २, पृ .८९

१३०. ततश्च कश्चित् पुरुषः कंचिदेव देवसिद्धान्यतमकरणीयोचितविमर्शं स्वात्मसंयोजनेन विमृशन् भगवता सृष्टः, अन्यस्तु अन्यं विमर्शमिति 'रिक्तस्य जन्तोः' (प्र.वा. ३/५४) इति असदेतत्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८५

१३१. दृढनिरूढिरेव च तत्तदधिकारिलक्षणं मुख्यम्। – तदेव

१३२. इति दर्शितं श्रुत्यैव 'यश्चैनमेवं वेद' इति 'विद्वान् यजेत' इति। तदर्थमेव च उक्तं 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' इत्यादि। – तदेव

१३३. "प्रसिद्धिरागमो लोके युक्तिमानथवेतरः" इस श्लोक में 'युक्तिमान्' और 'इतरः' के प्रयोग द्वारा इन दो प्रकारों की सूचना दी गयी है। परन्तु अभिनव में दो स्थलों (ई.प्र.वि.वि., १, पृ. ३६ और ३, पृ. ८५) पर व्याख्याभेद सा दिखता है। पहले स्थल पर 'युक्तिमान्' का अर्थ है 'न्यायदत्तहस्ताव-लम्बः' (युक्ति ने जिसे हाथ का सहारा दिया हो) और इसके अधीन दृष्टान्त है ईश्वराद्वयवादी आगम। 'इतर' का अर्थ है जो युक्ति से पोषित नहीं हैं ('न्यायाननुगृहीत')। परवर्ती स्थल पर वह व्याख्या नहीं करते, दृष्टान्त देते हैं। इसमें 'युक्तिमान्' का दृष्टान्त है सन्निवेशकार्यादि से ईश्वर की सिद्धि। यह दृष्टान्त न्याय जैसे भेदवादी दर्शन पर लागू होता है। इतर का दृष्टान्त शिवाद्वयवादी दर्शन से दिया गया है। अर्थात् परवर्ती व्याख्या में पूर्ववर्ती से स्थिति एक प्रकार से पलट सी जाती है। अतः मुझे ऐसा लगता है कि ये दोनों विधाएं– युक्तिमयी और युक्तिरहित– प्रसिद्धि के सामान्य भेद हैं।

१३४. ईश्वरसद्भावे हि सन्निवेशकार्यादिलिङ्गजमनुमानमस्त्येव, तत्त्वभुवनादीनां तु इयत्तायां नास्ति अनुमानमिति आगम एव तत्र शरणम्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८५

लोकपरम्पराप्रतिष्ठित।[१३५] दूसरी को अनिबद्ध प्रसिद्धि भी कहते हैं। अभी ऊपर जिसके दो रूपों (युक्तिमान् और तदितर) की चर्चा की है, वह पहला प्रकार था शास्त्रनिबन्धनरूप। निबद्ध प्रसिद्धि भी दो रूपों में मिलती है – (क) लिपि में उपचरित अर्थात् लिखी हुई[१३६] और (ख) विशेष प्रकार की वाक्य-रचना में ढाली हुई अर्थात् लिखित या लिपित न होने पर भी निश्चित वाक्य-क्रम में बंधी हुई।[१३७] दूसरे शब्दों में शास्त्रनिबद्धता के दो रूप हैं, लिखित और अलिखित। शास्त्रनिबद्ध प्रतीति भी मूलतः विमर्शरूप है। अनेक जन्मों से देखे जाते रहे व्यवहार के कारण लिपि में उपचरित उस-उस विमर्श को हम सर्ववीर, भर्गशिखा आदि आगमों के साथ अनुगत एकीकार के कारण उन्हें उन-उन नामों से पुकारने लगते हैं। इन शास्त्रों से होने वाले आप्यायन, सन्तापन आदि फलों का कारण भी प्रकाशरूप पुरुष या प्रमाता का लिप्यक्षरों के साथ तदात्मभाव से विमृष्ट वर्णरूप प्रत्यवमर्श के साथ अभेद प्राप्त कर लेना है। यही पुरुष की, विमर्श करने वाले व्यक्ति की, साफल्य-तृप्ति या सन्ताप है।[१३८] इसे प्रमाणशास्त्रीय शब्दावली में कहा जाए तो जैसे वह पदार्थ जिस प्रकार से प्रकाश में प्रतिबिम्बित होकर विशिष्ट रूप रंग आदि के प्रकाशवाला हो जाता है (अर्थात् प्रकाशित होता है), वैसे ही उस विशिष्ट रूप के उपराग से उपरंजित विमर्शविशेष से गृहीत होता है। इस प्रकार के शब्दों को अर्थों से अछूता नहीं कहा जा सकता।[१३९] जैसे शास्त्र के शब्द तदर्थात्मक होकर कार्यकारी होते हैं, वैसी ही तदर्थात्मकता और कार्यकारिता लोकप्रतिभामुख से अर्थात् अलिखित वाक्यविन्यासविशेषों से भी निष्पन्न होती है। उदाहरण के द्वारा प्रदर्शित आगम का यह लक्षण सर्वत्र घटित होता है।[१४०] यहाँ तक कि लोक व्यवहार में 'घटोऽयम्' इस प्रकार अध्यवसाय के स्थलों में, जहाँ शब्द और अर्थ में परस्पर अध्यास होता है, अध्यवसाय रूप पारमेश्वर शक्ति अनवच्छिन्नतया भासित होती है।

---

१३५. एवं शास्त्रनिबद्धायाम् उभयं व्याख्याय लोकपरम्पराप्रतिष्ठितायां व्याचष्टे। – तदेव

१३६. श्रोत्रमनोगोचरीकार्याणि अपि लिपौ यतः उपचर्यन्ते। – तदेव, पृ. ९९

१३७. 'निबद्धः' इति विशिष्टवाक्यरचनाभिः अनिबद्धस्तु यत्र तथा नास्ति। – तदेव, पृ. १००

१३८. द्रष्टव्य, तदेव, पृ. ९९-१००

१३९. तत्र ईश्वरेच्छया स भावो यथैव प्रकाशे प्रतिबिम्बात्मना सृष्टो विशिष्टरूपादिप्रकाशमयः, तथा विशिष्टरूपोपरागविचित्रविमर्शमय इति कथमेवंप्रायाणाम् अर्थासंस्पर्शित्वं शब्दानाम्। – तदेव

१४०. एवं शास्त्रदिशा कार्यकारित्वेन तस्य शब्दस्य तदर्थात्मकतां प्रदर्श्य लोकप्रतिभामुखेन अपि आह 'तथा' इति। [.....] उदाहरणस्फुटीकृतम् आगमलक्षणं सर्वत्र संचारयति। [.....] एतच्च 'घटोऽयमित्यध्यवसा' (१/५/२०) इति सूत्रे विवेचितम्। – तदेव, पृ. १०० उपर्युक्त उद्धरण में अभिनवगुप्त 'उदाहरणस्फुटीकृतम्' पद से संभवतः उत्पल द्वारा अपनी टीका या विवृति में दिए गए उदाहरण की ओर इंगित कर रहे हैं। यह उदाहरण क्या था, इसका हमें आज ज्ञान नहीं है।

लोकपरम्परा में स्थित या अनिबद्ध प्रसिद्धि भी दो प्रकार की होती है – (१) लोकप्रसिद्धिरूप और (२) महाजनप्रसिद्धिरूप। जैसा कि शब्द से प्रकट है, लोक में जो प्रचलित हो वह लोकप्रसिद्धि है। अभिनवगुप्त उत्पल के संकेत के आधार पर एक लोकानुश्रुति की चर्चा करते हैं कि कश्मीर के मध्यपूर्व भाग में, मध्यप्राचीन काल में धीवर (धोबी) ही (कपड़े धोने की जगह) घर का सारा काम करते थे।[१४१] यहाँ लोकप्रसिद्धि धीवरों द्वारा उनकी वृत्ति से इतर गृहपरिचर्यात्मक वृत्ति में प्रमाण है। अभिनव लोक की परिभाषा करते हुए कहते हैं – 'जो व्यवहारस्थल–विशेष में जिस व्यवहार का आचरण करता (व्यवहर्ता) है, वह उस विषय में लोक कहा जाता है।'[१४२] इस प्रसंग में वह लोक और शास्त्र के विरोध के प्रश्न को भी उठाते हैं। कहीं पर किसी आगम के किसी विधान के विरुद्ध किसी लोकाचार को उस जगह के बहुलांश लोग एकवाक्यतया स्वीकार भी करते हैं और व्यवहार भी और उनके मन में कोई शंका नहीं होती, तो ऐसी स्वीकृति लोकप्रसिद्धि रूप आगम है। यहाँ इस विरुद्ध व्यवहार का कारण वाक् या शब्द ही है।[१४३]

लोकपरम्परात्मक प्रसिद्धि का ही दूसरा रूप है महाजनप्रसिद्धि। महाजन शब्द भारत के सांस्कृतिक परिवेश का अत्यन्त जाना–पहचाना शब्द है। महाभारत की प्रसिद्ध उक्ति **'महाजनो येन गतः स पन्थाः'** से हम परिचित हैं। यहाँ पर भी महाजन लोक की ही शिष्टीकृत अवस्था है। जिस कर्म में जो वर्ग ख्याति पा चुका है वह महाजन है, जैसे वेद के अनुष्ठान में छान्दस नामक समुदाय, जैसे वैष्णव आचार के अनुष्ठान में भागवतों का वर्ग।[१४४] अपने आचार से संबंधित विमर्श के साथ सहज तादात्म्यबोध के कारण संबद्ध फलों का उपलाभ उन्हें अन्यापेक्षया कम श्रम के साथ आसानी से होता है।[१४५] यहाँ जन से महाजन होने का यही अंतर है। यह प्रसिद्धि भी अनिबद्धा है, क्योंकि यह शास्त्रवाक्यों पर निर्भर न हो कर महाजनों, शिष्टजनों, उस विषय के पारंगत जनों के अनुष्ठान, कर्म या आचार से ही पता चलती है।[१४६] बीच में बाधक विमर्श के उत्पन्न न होने के कारण

१४१. 'कश्मीरेषु' इति मध्यपूर्वकालदेशादौ हि धीवरा एव गृहकरणीयं भूयसा विदधते। – तदेव, पृ. ८५

१४२. यो यत्र व्यवहारे व्यवहर्ता स तत्र लोकः। 'देशे' इति तत्तद्व्यवहारस्थाने। – तदेव, पृ. ९८

१४३. केनचिद् आगमनिश्चयेन यद्यपि निर्मितम् अन्यलोकाचारेण च विरुद्धं तथाविधमपि चरणं चेष्टितं यत्; तदपि प्रतिपद्यन्ते कामं बहवोऽपि एकवाक्यतया अङ्गीकुर्वन्ति, न तु तत्र एषां विचिकित्सा भवतीत्यर्थः। 'तत्र हि' तथाविधविरुद्धव्यवहारनिमित्तभूता वागित्यर्थः। – तदेव

१४४. महाजनो यत्र कर्तव्ये यः प्रसिद्धिं यातो वर्गः, स एव मन्तव्यः, यथा वेदानुष्ठाने च्छान्दसः, वैष्णवानुष्ठाने भागवताख्यः। – तदेव, पृ. १००

१४५. तदेव, पृ. १०१

१४६. 'अनिबद्धाऽपि' इति महाजनानुष्ठानशेषतयैव स्थिता। – तदेव

पर्यन्तफलोदय के दर्शन से इसका प्रामाण्य निश्चित होता है। यदि बीच में बाधन होता है तो इसे प्रमाण नहीं कहेंगे, पर ऐसी संभावना अति विरल है। जैसे एक बार के प्रत्यक्ष से शाखादिमत्त्व रूप वृक्षत्व का ग्रहण होता है और बीच में बाधक का अभाव होने से वह वृक्षत्व तीनों लोकों में तीनों कालों के लिए निश्चित होता है, वैसे ही असंदिग्ध प्रसिद्धि की बाह्यार्थपर्यन्तता, नाम से संबंधित नक्षत्र आदि में और विषभूत ग्रह आदि में, प्रत्यक्ष से ही प्रमाणतया निश्चित हो जाती है।[१४७] महाजनप्रसिद्धि भी प्रसिद्धिरूप आगम है, इसे प्रमाणित करने के लिए अभिनव गीतावाक्य को उद्धृत करते हैं :

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।। (गीता १३/२६)[१४८]

आगम की प्रमाणता का कारण : विमर्श की दृढ निरूढि

आगम इसी निरूढि के कारण प्रमाण है[१४९] – यह बात बार–बार दुहराई जा चुकी है। इसके उपपादन के लिए शैव आचार्यों की अनेक युक्तियों से हम परिचित हो चुके हैं। फिर भी शैव आचार्य कोई भी अवसर इसके प्रतिष्ठापन का छोड़ना नहीं चाहते। आगम की इस निरूढि की तीन प्रकार से व्याख्या का प्रयास किया गया है।[१५०] पहली व्याख्या है – **'प्रसिद्धिरागमो लोके'** श्लोक के अंतिम पंक्त्यंश 'यत् यदा यथा यत्र' का अनुवदन

१४७. एवं निर्विचिकित्सप्रसिद्धेर्बाह्यार्थपर्यन्तत्वं नामनक्षत्रादौ विषभूतग्रहादौ चेति प्रत्यक्षेणैव प्रामाण्यनिश्चयः। – तदेव। यहाँ पर पूर्व प्रतिपादन से कुछ विरोध दिखाई देता है। अन्वय–व्यतिरेक प्रसिद्धि के कार्य हैं, उपजीवक हैं, निश्चायक नहीं। यहाँ महाजनप्रसिद्धि के प्रामाण्य के लिए प्रत्यक्ष का आश्रय लिया जा रहा है। इसका तात्कालिक उत्तर (वह कितना प्रामाणिक है यह तो आगे का अनुसंधान तय करेगा) यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष प्रसिद्धि के प्रामाण्य का निश्चायक नहीं, प्रदर्शक मात्र है। दूसरा उत्तर यह भी हो सकता है कि यह व्यवहार की प्रक्रिया है, जो फलतः प्रसिद्धि में पर्यवसित होती है। इस पंक्ति का अभिप्राय पूरी तरह से स्पष्ट नहीं है। जहाँ तक लगता है, लोक में नक्षत्रों और ग्रहों – राशि के नक्षत्र या विपरीत ग्रह आदि – और उनके प्रभावों के बारे में लोकप्रसिद्धि और जनजीवन में उनकी प्रत्यक्षजन्य प्रमाणता के विषय में अभिनव अपना मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं। मुद्रित पाठ में 'नाम' और 'नक्षत्रादौ' को अलग कर पढ़ने से अर्थ में थोड़ा अन्तर आएगा, पर उससे मुख्य प्रतिपत्ति अप्रभावित रहेगी।

१४८. यहाँ लक्ष्मण रैना संपादित गीता की श्लोक संख्या ली गयी है।

१४९. निरूढतया आगमो मानम्। – तदेव, पृ. ९६

१५०. अत्र त्रिधा विध्यनुवादयोगो व्याख्यातव्य इति। – तदेव । यहाँ पर 'अत्र' के अर्थ को लेकर संदेह है। अत्र ठीक ऊपर उद्धृत भट्टनायक की उक्ति का विधेय हो सकता है और विकल्पान्तर से प्रकृत प्रसंग का। मैंने दूसरे अर्थ में समझा है।

करते हुए सारे आगमों को क्रम से प्रमाण मानना।[१५१] म्लेच्छ और यवन आदि के आगम उनके लिए प्रमाण होते हुए भी (अन्य के लिए) अनार्य संपर्क से मुरझा जाने की संभावना के कारण आगम न होकर आगमाभास हैं।[१५२] श्रुत्युक्त विधानों या आगम प्रतिपादित कर्तव्यों में भी पुरुषप्रज्ञा के सहज पक्षपात के कारण इच्छावशात् विकल्पन या दूसरे आगम की प्रतिपत्तियों के मिश्रण से जो व्यवहार या अनुष्ठान होता है, या पुरुष को लगता है कि पूर्व में हमारा आचरण अनुपयुक्त था, वहाँ आगम नहीं होता। ऐसे में पारमेश्वरागम से भिन्न स्थलों पर यदि आगम त्याग होता है, तो वहाँ उनके पास शैवागम के अनुग्रह से असीम अभ्युदय की संभावना बनी रहती है; पर पारमेश्वरागम में यदि बुद्धि पर परदा पड़ जाए तो फिर अभ्युदय की यह संभावना नष्ट हो जाती है, अनन्त अनिष्ट ही फलतया अवशिष्ट रहता है। ऐसे स्थलों में अपने आगमत्याग से उत्पन्न दोष के परिहार के लिए ही पूर्वचर्चित लिंगोद्धारदीक्षा आदि का विधान किया गया है, परन्तु शैवागमों में आश्वस्त व्यक्ति के लिए ऐसी कठिनाई नहीं आती, क्योंकि आगम की प्रकृति ही है वस्तुतत्त्व का अनुसरण करना।[१५३] निश्चित रूप से यह प्रतिपादन दार्शनिक नहीं कहा जाएगा। परन्तु इसका लक्ष्य क्रम से सारे आगमों के प्रतिज्ञात प्रामाण्य में क्रम–पर्यन्तता को निर्धारित करना है। यदि आगम एक है, तो समस्त आगम धाराएँ, दूसरे शब्दों में प्रसिद्धियाँ, अंततः जिस आगम में कृतार्थता का अनुभव करती हैं, वह शैवागम ही है।

यहाँ से हम निरूढि की दूसरी व्याख्या की ओर बढ़ते हैं। अभिनव की प्रधान समस्या है : प्रसिद्धियों की बहुविधता की आगम की एकघनता से तर्कानुगुण संगति कैसे बैठाई जाए? ठीक ऊपर देख चुके हैं कि प्रसिद्धियाँ अनन्त हैं, उनके कर्ता भी नियत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में यदि अनियतकर्तृक वाक् को ही पारमेश्वरी वाक् अर्थात् आगम माना जाए तो इससे हम फिर, जैसा कि सिद्धान्तशैव आगमों में माना गया है,[१५४] संविन्मय

१५१. 'यत् यदा यथा यत्र' इत्यनेन क्रमेण सर्वागमानां प्रामाण्यम्। – तदेव, पृ. ९६

१५२. म्लेच्छाद्यागमो हि तावति प्रमाणं भवन्नपि अनार्यसंपर्कसंभाव्यमानम्लानिरागमाभासः। – तदेव

१५३. तदेव, पृ. ९६–९७

१५४. ननु एवं यदि अनियतकर्तृकैव वाक् पारमेश्वरी, तर्हि सिद्धान्तश्रुत्यादेः प्रामाण्यं स्यात्
अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात्।
नादरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम्।। इति,
अमूर्ताद्गगनाद्यद्वन्निर्घातो जायते महान्।
शान्तात्संविन्मयात् तद्वच्छब्दाख्यं शास्त्रम्......।।
इत्यनेन क्रमेण अनादित्वात् परमेश्वरे प्रकाशविमर्शस्वभावे कालानुल्लासात्, बुद्धादिप्रणीतत्वात्तु न बौद्धागमादीनां भवेत्। – तदेव, पृ. ९७। अभिनव के ये उद्धरण कहाँ के हैं, इसके बारे में हमारे

शिव से उत्पन्न नादरूप शब्द नामक शास्त्र तक पहुंच जाते है और फिर इसके द्वारा आगम के अनादित्व तक। क्योंकि प्रकाशविमर्श स्वभाव परमेश्वर में काल का उल्लास नहीं होता, अत: वहाँ नादरूपा उद्भूति भी उपचरित है। इससे वे प्रसिद्धियाँ या आगम, जिनके कर्ता ऐतिहासिक हैं- जैसे बुद्ध, कपिल, महावीर -प्रमाण नहीं रहेंगी। फलत: प्रसिद्धियों की विविध आगमरूपता भी संकटापन्न हो जाएगी। इस प्रश्न को अभिनव जिस प्रकार समाहित करते हैं, उससे इस निष्कर्ष को बल मिलता है कि उनका आगम का सिद्धान्त उनके प्रमाणलक्षण की ही भांति गतिशील और लचीला है। अभिनव का मानना है कि अनियतकर्तृक या अनियतवक्तृक वाक् निस्संदेह परमेश्वर का ही विमर्श है। वे परम्पराएं जिनका प्रवर्तक किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को माना जाता है, वहाँ भी नियत का अर्थ देश और काल में उत्पन्न ऐतिहासिक व्यक्ति से नहीं है, बल्कि उससे है जो निरन्तर प्रवहमान परम्परा में जन्मा है और जो भावना के बल से क्षणिकत्व आदि की दृढ़प्रतीति में पूर्णत: समाविष्ट है। क्षणिकादि की भावना का उपदेश उसे पूर्वबुद्ध, उसको भी पूर्वतरबुद्ध, उसको भी पूर्वपूर्वतर बुद्ध से, उसको भी उससे पूर्व बुद्ध से इस प्रकार अनियतकर्तृक पारमेश्वर विमर्श ही अंत में हाथ में रह जाता लगता है। यही बात चौबीस तत्त्वों की भावना से भावित कपिल के बारे में कही जा सकती है। यह सिद्धान्त सार्वत्रिक है।[१५५] अत: सारे

पास निश्चित सूचना का अभाव है। इसमें पहली दो पंक्तियों से मिलती जुलती दो पंक्तियां स्वच्छन्दतन्त्र ८/२७ब-२८अ में मिलती हैं, जिन्हें अभिनवगुप्त के कथन कि स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार सिद्धान्त, तन्त्र, शाक्त सभी आगम सद्योजात आदि पंचवक्त्रों से उत्पन्न हुए हैं (तं. २५/२७) की पुष्टि में जयरथ भी तं. ३५/२६-२७ पर अपने विवेक में उद्धृत करते हैं :

अदृष्टविग्रहायातं शिवात्परकारणात्।
ध्वनिरूपं सुसूक्ष्मं तु सुशुद्धं सुप्रभान्वितम्।। (तं.वि., ८, पृ. ३२३१)

क्षेमराज, स्वच्छन्दतन्त्र ८/२७-३१ पर अपने उद्योत में, श्रीकण्ठीयसंहिता से इसी संदर्भ में समानान्तर श्लोक उद्धृत करते हैं, जो श्रीकण्ठीय संहिता में आदिश्लोकतया उपलब्ध है (द्र., Appendix 1, Abhinavagupta's Philosophy of Revelation : Mālinīviślokavārttika, १.३९९)। यह कारिका अभिनव के उद्धरण के अधिक निकट है, इसका पाठ इस प्रकार है:

अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात्।
ज्ञानरूपं विनिष्क्रान्तमनवच्छदनं महत्।।

दूसरी कारिका के बारे में हम अभी भी अन्धकार में हैं। टोरेला भी अभिनव के इस उद्धरण का उल्लेख करते हैं (In.Cog., पृ. १२), पर हमारी प्रतिपत्तियाँ पृथक् हैं।

१५५. नहि बुद्धो नाम नियत: कश्चित्, अपितु भावनाबलप्रतिलब्धक्षणिकादिदृढविमर्श:। तस्य क्षणिकादिभावनोपदेशी गुरु: पूर्वबुद्ध:, तस्यापि अन्य:, इति क्रमेण अनियतवक्तृकत्वात् पारमेश्वरविमर्शमयतैव वस्तुत:। एवं चतुर्विंशतितत्त्वभावनाभावित: कपिलो मन्तव्य:। अतएव सर्वागमा अनादय एव। - ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ९७-९८

आगम अनादि हैं। इसका अर्थ यह नहीं है, अभिनव हमें सतर्क करते हैं, कि बुद्ध या कपिल अपने नाम से संबद्ध आगमों के कर्ता हैं। अपितु उनका कृतत्व प्रसिद्धि के ही अधीन है। प्रसिद्धि ही एकमात्र प्रमाण है। परमेश्वर की इच्छा से बुद्ध और कपिल आदि भी उस प्रसिद्धि में अनुप्रविष्ट होकर ही अनुग्रहपात्रता अर्जित कर सके हैं ताकि उन-उन बुद्धों, कपिलों और अन्यों को अनुगृहीत कर सकें।[१५६] इस प्रकार देश-काल से विशिष्टीकृत ऐतिहासिकता परम्परा की अजस्रता में विशेषणों को निरर्थ करती हुई अपनी अंतरंग गतिशीलता को ढूंढ लेती है।

तीसरी पद्धति में निरूढि का आधार प्रसिद्धि की एकता न होकर उसकी बहुलता है। यद्यपि दूसरी व्याख्या जहाँ समाप्त होती हैं, वहीं से तीसरी प्रारम्भ होती है। सारी प्रसिद्धियाँ अनादिकालभाविनी हैं। यहाँ तक कि वह प्रसिद्धि भी जो परस्पर विरुद्ध व्यवहार में निमित्तभूत है वह भी किसी के लिए प्रमाण होती है। उदाहरण के लिए श्रुति है कि शुक्र से प्रारम्भ कर द्विजों के द्वारा मद्य का सेवन विहित है।[१५७] यह भी प्रसिद्धि ही है और इसलिए अनादि है।[१५८] वस्तुतः सारी प्रसिद्धियाँ अनादि होती हैं। उनमें से कोई कभी उभर कर ऊपर आ जाती है और कोई डूब कर खो सी जाती है।[१५९] यह क्रम चलता रहता है। तात्पर्य यह है कि उभर कर आने वाली प्रसिद्धि का प्रामाण्य दिखाई पड़ता है और दूसरी का आँखों से ओझल रहता है।[१६०] यह भी कहा जा सकता है कि पात्रता-भेद और स्तर-भेद की दृष्टि से कोई प्रसिद्धि अङ्गीकार्य होती है और कोई पीछे छूट जाती है। इसका निहितार्थ यह भी है कि सभी प्रसिद्धियाँ प्रमाण हैं, किन्तु वे एक ही स्तर पर, व्यक्ति-देश-काल के एक ही बिन्दु पर, प्रमाण नहीं हैं, उनकी प्रमाणता गतिशील है।

---

१५६. तत्कृतत्वमेव हि प्रसिद्धिमन्तरेण किं प्रमाणकम् इति प्रसिद्धिरेव एका प्रमाणम्। परमेश्वरेच्छावशाच्च सुगतकपिलादयोऽपि तत्प्रसिद्ध्यनुप्रविष्टाः कृता अनुग्राह्यास्तानेव अन्यांश्च अनुगृहीतुम्। – तदेव, पृ. ९८

१५७. विरुद्धा प्रतीतिः प्रामाण्यलक्षणमश्नुते इति संभाव्यते इति संबंधः। – तदेव, पृ. ९९

१५८. तथा च 'शुक्रात् प्रभृति मद्यस्यापेयता द्विजैः' इत्यादि श्रूयते सापि प्रसिद्धिरेव। साऽपि च अनादिः। – तदेव, पृ. ९९। यहाँ पर 'मद्यस्यापेयता' में 'अपेयता' और 'आपेयता' दोनों विरुद्धार्थक पाठ संभव हैं। हमने 'आपेयता' मानकर अर्थ किया है। मूल स्रोत अविदित है।

१५९. अनादिकालभाविन्यो हि सर्वाः प्रसिद्धयः। तत्र तु काचित् कदाचिदुन्मज्जति, काचित् निमज्जति। – तदेव

१६०. अभिनव की विवृतिविमर्शिनी से लगता है कि उत्पल अपनी टीका में इसका उदाहरण देते हैं, पर वे उदाहरण क्या हैं इस पर अभिनव शान्त हैं : इति उन्मज्जननिमज्जने एव उदाहरणेन स्पष्टयति 'तथा च' इति। – तदेव

शब्दन-/प्रतिभान-लक्षण आगम

आगम या प्रसिद्धि की दूसरी मौलिक अवधारणा प्रतिभा के रूप में हुई है।[१६१] इस भेद का उल्लेख ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में नहीं मिलता। प्रतिभा पर विचार की पूर्व पीठिका के रूप में अभिनव एक प्रश्न उठाते हैं कि सारी मानसिक और वागात्मक प्रवृत्ति यदि परमेश्वरकृत है तो फिर शुद्ध मानस विकल्पन या उत्प्रेक्षण में यह व्यापार विसंवादी क्यों होता है। अभिनव उत्तर भी देते हैं कि जैसे परमेश्वर से तादात्म्य होने पर भी उस तादात्म्य के दिखाई न पड़ने के कारण सांसारिक जन का जीवभाव, पशुभाव, युक्तिसंगत है, वैसे ही सांसारिक प्रमाता के वाग्व्यापार और मनोव्यापार में आदिम पारमेश्वरी प्रवृत्ति का रूपवैविध्यरूप भेद है, जिसका पता बाह्यार्थ में कभी पर्यवसित होने और कभी न होने से लगता है। वह प्रातिस्विक रूप से अपने तई विशिष्ट होने पर भी दृष्टिगत नहीं होता या मुश्किल से ही दृष्टि में आ पाता है। फलतः लोकप्रवृत्ति भी वैसी ही है। वहाँ इस विसंवाद का होना भी उपपन्न है।[१६२] इससे स्पष्ट है कि प्रवृत्ति में इस विसंवाद का हेतु भी परमेश्वर की इच्छा है। इस विसंवादिनी लोकप्रवृत्ति के निरोध द्वारा पारमेश्वरी प्रवृत्ति तक पहुंचना हम सबका अभीष्ट है। उत्पल के संकेतों की मीमांसा द्वारा अभिनव इस बिन्दु पर प्रतिभा को विचारार्थ लाते हैं। इस निरोधेच्छा के द्वारा बार बार चलाए जाने पर भी जो अविचल रहती है वह पारमेश्वरी प्रवृत्ति प्रतिभा है।[१६३] ठीक इसके बाद विवृति में आए 'प्रतिभासंज्ञा' पद का विमर्शन करते हुए अभिनव बृहतीविमर्शिनी में आगम की प्रतिभारूपता का विशदन करते हैं : **प्रतिभासंज्ञा' इति प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाख्य आगम एव।**[१६४] यहाँ पर तीन बातें ध्यान देने की हैं। एक, प्रतिभा की परिभाषा प्रतिभान के रूप में की गयी है। दो, आगम को शब्दभावना के नाम से पुकारा गया है। और तीन, अवधारणार्थक 'एव' के द्वारा भर्तृहरि की सारे वाग्विकारों की कारणभूत प्रतिभा से आगम की अविच्छिन्नता दिखाई गयी है।[१६५] प्रतिभान शब्द के प्रयोग से अभिनव प्रतिभा को

१६१. एवं प्रतिभारूपेण निबद्धानिबद्धप्रसिद्धिद्वयात्मना च त्रिविधमागमं प्रदर्श्य [.....]। – तदेव, पृ. १०२ द्रष्टव्य, म.मा.र., पृ. १–२

१६२. ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ९३; इस अंश का रामेश्वर झा कृत संक्षेप भी द्रष्टव्य, आगमविमर्शः, पृ. २९

१६३. 'निश्चलैव' इति निरोधेच्छया चाल्यमाना अपि अविचला। 'प्रतिभासंज्ञा' इति। – ई.प्र.वि.वि.,३, पृ. ९३

१६४. ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ९३

१६५. इस बिन्दु को म.म. रामेश्वर झा रेखाङ्कित करते हैं। देखिए आगमविमर्श, सन्मात्र आगम विशेषांक, पृ. २९ : इत्थं प्रतिभानलक्षणा इयं प्रतिभापि शब्दभावनाख्य आगम एव, यदुक्तं वाक्यपदीये 'तद्द्वारमपवर्गस्य' इत्यत्र (ब्र.का.१४) वृत्तौ 'सोऽव्यतिकीर्णां वागवस्थामधिगम्य वाग्विकाराणां प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति' इति । वृषभ अपनी पद्धति में प्रतिभा को समस्तशब्दार्थ की कारणभूत पश्यन्ती

व्यापारात्मक गतिशीलता प्रदान कर देते हैं। विचित्र बात यह है कि इस एक वाक्य के अतिरिक्त वे प्रतिभा या प्रतिभान के संबंध में इस प्रकरण में कोई भी बात नहीं कहते।[१६६] उनके कथन से इतना ही तात्पर्य निकलता है कि इस प्रकरण में प्रतिभा शब्दभावना से अनन्य है और प्रतिभानात्मक होने के नाते यह शब्दन रूप है। शब्दन पद भी शब्द की गतिशीलता का व्यञ्जक है। अपने निष्कर्ष की संगति इस कारण भी बैठती है कि अविगीत प्रसिद्धिस्वरूप आगम पर अभिनव लम्बा विचार नानाविध शब्दन के संदर्भ में ही करते हैं।

शब्दन के त्रिविध सन्दर्भ

संग्रह या विस्तार से रचे गये वाक्यों से प्रसिद्धि का निबन्धन शब्दन का एक प्रकार है। परम्परा से अनुष्ठान द्वारा[१६७] प्रसिद्ध अर्थ, जिसका विमर्श उस-उस आगम को मानने वाले करते हैं, वह किसी भी प्रकार के अवच्छेद से रहित होने के कारण अपरिच्छिन्न प्रकाशधर्मा विमर्शात्मक परमेश्वर से एकरूप ही होता है, अतः (वह सब) अनादि है। अवच्छेदों का आकार है 'यह प्रसिद्ध अर्थ इसी आगम ने कहा है', 'इसी ने उत्पन्न किया है', 'इसी समय से चल पड़ा है' आदि। कठ, भार्गव, मतङ्ग और नारद आदि ऋषियों द्वारा प्रसिद्ध अनुष्ठान को अनादितया ही ग्रन्थों के रूप में निबद्ध किया जाता है, क्योंकि संक्षेप में या अलग-अलग रची गई वाक्ययोजनाएँ ही शब्दन का, शब्दों से कहे जाने का, साधन बनती हैं।[१६८] ये वाक्य-रचनाएँ भी परमेश्वर की ही हैं, या ये पारमेश्वरी वाग्रूप हैं, इसे सिद्ध करने के लिए बड़े प्रयत्न की अपेक्षा नहीं हैं। क्योंकि यह स्वतः सिद्ध है। इसे उत्पल लगातार उपपादित करते आए हैं और करेंगे भी।[१६९] अभिनव के प्रतिपादन से ऐसा लगता है कि वे इसे शब्दन का अनुष्ठानात्मक संदर्भ मानते हैं।

मानते हैं। प्रो. अय्यर वृत्ति में इसके ठीक बाद आए शब्द 'परा प्रकृति' के आधार पर परावाक् की ओर अनुक्त संकेत की संभावना करते हैं। अभिनव के संप्रदाय में आगम परा वाग्रूप है, यह हम देख चुके हैं। हमारे लिए इस विवाद में पड़ना अनवसर विस्तार होगा। परन्तु इससे इस लेखक की मान्यता को बल मिलता है कि त्रिक दर्शन भर्तृहरि का संरचनात्मक पुनर्व्याख्यान है और अभिनव पुनर्व्याख्यान का ऐसा कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं देते।

१६६. द्रष्टव्य अभि.भा., १, पृ. २७८-२८१; और भी देखिए "प्रतिभान और रसानुभव" शीर्षक मेरा लेख, अभि.तंत्राग., पृ. ३९९-४२०

१६७. ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ९२. यहाँ पर मुद्रित पाठ है 'परस्परानुष्ठानेन', जो अशुद्ध प्रतीत होता है। इसे होना चाहिए 'परम्परानुष्ठानेन'। रामेश्वर झा भी इसका व्याख्यानमूलक अनुवाद इसी प्रकार करते हैं: परम्परया अनुष्ठानेन प्रसिद्धो योऽर्थः (आगम-विमर्शः, पृ. २९)।

१६८. कठादिभिर्भार्गवमतंगादिभिर्नारदप्रभृतिभिश्च प्रसिद्धानुष्ठानमनादि एव निबध्यते यतः शब्दनं समासव्यासोपकल्पितवाक्ययोजनाभिः। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ९२

१६९. न च अस्या यत्नसाध्यं पारमेश्वरीत्वमिति दर्शयति 'सर्वैव' इति। उपपादितम् इति 'तत्र ज्ञानं स्वतः

यहाँ से वे शब्दन के मानस सन्दर्भ की ओर बढ़ते हैं।[१७०] 'शब्दभावना' में भावना शब्द के विश्लेषण द्वारा वह प्रतिभान की शब्दनरूपता को नया आयाम देते हैं। अध्यात्म–दर्शनों में, विशेषतः काश्मीर शैव दर्शन में, सामान्येन भी भावना', 'भावन' या 'भावित' का विशेष महत्त्व है। कुछ समय पूर्व हमने भावना के बल से भावित क्षणिकता आदि के दृढ़विमर्श वाले बुद्ध या चौबीस तत्त्वों की भावना से भावित विमर्श वाले कपिल की अनियतकर्तृकता पर विचार किया था। भावना है उपदेशविशेष रूप शब्दन और भावित है वह व्यक्ति जिसका संकल्प, अभिमान और निश्चय इन तीनों वृत्तियों वाला अंतःकरण उन शब्दनों से पूरी तरह से ओत–प्रोत और व्याप्त है। मंत्रों के भी भावनकारी शब्दन की यही स्थिति है। मन्त्रों का स्वभाव है शुद्ध संविद्रूप परमेश्वर के आदिसिद्ध रूप से एकतापन्न विमर्शमय होना।[१७१] ऐसे मंत्र जिस भी प्रमाता के विमर्श को अपने से व्याप्त करते हैं, उसे बलात् उसी रूप में ढालते हुए उसी के अनुरूप विशिष्ट फल देने लगते हैं।[१७२] पूरी तरह से भावित व्यक्ति के अभिमानात्मक शब्दन (क्योंकि भावित का अंतःकरण उपदेश या मंत्र से व्याप्त है) को पारमेश्वरी वाक् कैसे कहेंगे यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सार्वत्रिक परमेश्वरता का निरोध कभी भी, कहीं भी, नहीं होता। केवल उसकी इच्छा से वह (परमेश्वररूपता) विविधतया अंशतः उतराती–डूबती रहती है।[१७३] जिस समय इस सार्वत्रिक परमेश्वरता का बोध नहीं होता, उस समय प्राण, बुद्धि, देह आदि ही प्रमाता–रूप व्यवहार

सिद्धम्' (१/१/५) इत्यादौ। 'उपपादयिष्यते' इति 'इत्थं तथा घटपटाद्याभास....' (२/४/२१) इत्यादिस्थानेषु। – तदेव, पृ. ९२–९३ यहाँ पर 'अस्याः' का अर्थ रामेश्वर झा 'वाक्ययोजना' से लेते हैं : न चास्या वाक्ययोजनाया अपि पारमेश्वरीत्वम् यत्नसाध्यम्। (आगमविमर्शः, पृ. २९) यद्यपि इस अर्थ में कोई अनौचित्य नहीं है, मुझे कुछ कठिनाई प्रतीत होती है। क्योंकि इसके समनन्तरपूर्व 'वाक्ययोजनाभिः' बहुवचन में है। मेरे विचार से 'अस्याः' का संबंध (शब्दनरूपा अनादि) प्रसिद्धि से है। अन्यत्र अभिनव ने यह प्रश्न उठाया भी है (इसी चर्चा पिछले पृष्ठों में हो चुकी है) : ननु एवं यदि अनियतकर्तृकैव वाक् पारमेश्वरी, तर्हि सिद्धान्तश्रुत्यादेः प्रामाण्यं स्यात्। (ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ९७) यहाँ पर थोड़ी सी भिन्न स्थिति है। अनियतकर्तृता ही नहीं, 'तथाकथित' नियतकर्तृका वाक्/प्रसिद्धि भी वस्तुतः पारमेश्वरी वाक् है, क्योंकि मतंग आदि कृत यह निबन्धन भी वस्तुतः उस परमेश्वर का ही है।

१७०. इयता मानसीं वृत्तिं विचार्य। – तदेव, पृ. ९४; प्र.प्र.मी., पृ. ३०२

१७१. 'भावितम्' इति। [.....] इत्याद्युपदेशविशेषैःशब्दनरूपैरोतप्रोतीकृतं व्याप्तमन्तःकरणं सङ्कल्पाभिमान–निश्चयवृत्तित्रयमयं यस्य। – तदेव, पृ. ९३

१७२. तदेव

१७३. ननु पशुप्रमातुर्योऽभिमानात्मा शब्दनविशेषः सा कथं पारमेश्वरी वाग् इत्याशंक्य परमेश्वररूपता सर्वत्रैव अनिरुद्धा, केवल तदिच्छयैव तस्याः क्वापि अंशे विचित्रे प्रोन्मज्जननिमज्जने भवतः इति । – तदेव,

के विषय बनते हैं (अर्थात् प्राण, बुद्धि, देह आदि ही प्रमाता कहे जाते हैं), पर इनकी प्रमातृता स्वातन्त्र्य के अभाव में मिट्टी के ढेले जैसी होती है, वह वास्तविक प्रमातृता नहीं होती।[१७४] अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए अभिनव आगमों में समादृत भावांशक-प्राधान्य की मान्यता की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। जैसा कि शब्द से स्पष्ट है, यह भावांश में ईश्वर की इच्छा से होने वाली ऐसी बलवती निरूढि है जिसे चाहने पर भी व्यक्ति छोड़ नहीं सकता, क्योंकि उसकी अपनी वैयक्तिक चेतना उस विमर्श से एकमय हो चुकती है।[१७५]

विमर्शाश्रयी युक्ति का अवलम्बन लेते हुए अभिनव कहते हैं कि परमेश्वर जिस प्रकार से विश्व का प्रकाशन करता है, उसी प्रकार उसका विमर्श करता है। यदि अखंड प्रकाश है, तो अखंड विमर्श है। उसी में इन्द्रियविषयता का, अंत:करणविषयता का, अर्थक्रिया का, उसकी सहकारी सामग्री का जैसे प्रकाश होता है, ठीक वैसा ही उसका विमर्श होता है।[१७६] तब तो इसका स्वाभाविक फलित यह हुआ कि ईश्वर की इच्छा से जो जिस शब्दन में निरूढ है, जिस दृढविमर्श में अवस्थित है, वही उसका आगम है। तब कौन अधिक प्रामाणिक है, इस तुलनात्मक उत्कर्ष का निर्णय कैसे होगा? अभिनव कहते हैं कि यह संदेह नहीं करना चाहिए, क्योंकि कौन हैं वे बेचारे प्रामाणिक? ईश्वर ही वैसे

पृ. ९३-९४। हम स्मरण दिलाते चलें, थोड़ा ही पहले निरूढि की तीसरी व्याख्या-पद्धति में अभिनव ऐसे ही तर्क का आश्रय लेते हैं।

१७४. तदेव; और भी देखिए 'आगम-विमर्श', पृ. २९

१७५. तत् ईश्वरेच्छयैव यो यत्र विमर्शांशे एकीकृत: समुज्झितुमिच्छुरपि न उज्झितुं शक्नोति, तत एव 'रुद्रांशो रुद्रभक्तस्तु' इत्यादिना भावाशंकप्राधान्यम् आगमेषु दर्शितम्। - तदेव, पृ. ९४। रसानुभूति के क्षेत्र में अभिनव इस विचार का अतिदेशन करते हैं। स्थायिभाव भी भाव या चित्तवृत्तियाँ ही हैं, जिनका संकीर्तन वे संवित् (=संवेदन/संवेद) नाम से भी करते हैं। ये स्थायी इसलिए हैं कि प्राणी इन संवित्तियों से घिरा हुआ ही उत्पन्न होता है, और हमेशा इनकी वासना से वासित रहता है, केवल इनमें से कोई संवित् अधिक उल्वण होती है, कोई कम। कोई अपने उपर्युक्त विषय से नियन्त्रित होती है, तो कोई नहीं : स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभि: संविद्भि: परीतो भवति। [.....] न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्य: प्राणी भवति। केवलं कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्ति: काचिदूना। कस्यचिद् उचितविषयनियन्त्रिता कस्यचिद् अन्यथा।-(अभि.भा., १, पृ. २८२-२८३) केवल इतना ही नहीं, भाव का काम है, भावन या भावित कराना। रस, जो काव्यार्थ है, का भी भावन कराना भावों का सहज व्यापाार है : 'तथाहि आह काव्यार्थान् भावयन्ति' (ना. शा., प्रारंभिक गद्यांश, अध्याय ७) इति तत्काव्यार्थो रस:। (तदेव, पृ. २७८)

१७६. एतदुक्तं भवति यथैव विश्वप्रकाशात्मा परमेश्वर:, तथा विश्वविमर्शात्मा। तत्र बाह्यत्वग्राह्यत्वार्थ-क्रियातत्सहकारिवर्गस्य यथा प्रकाश:, तथैव विमर्श:। - तदेव

भासित होता है, विमर्श करता है और कराता है। फिर तो चुप होकर बैठ जाना चाहिए, क्योंकि यदि परमेश्वरेच्छा ही सब कुछ है तो शास्त्र प्रणयन और अनुष्ठान व्यर्थ हैं। इस पर अभिनव का कहना है कि अवश्य व्यर्थ होते, यदि परमेश्वर वैसा चाहता होता। यहाँ शंका और उसका समाधान दोनों अभिनव अपने परमेष्ठी गुरु सोमानन्द से लेते हैं।[१७७]

शब्दन का तीसरा संदर्भ वाङ्मयी वृत्ति का है।[१७८] विवृत्ति में प्राप्त संकेतों का उपबृंहण करते हुए अभिनव की मुख्य प्रतिपत्ति है कि प्रसिद्धि रूप वाक् अर्थात् शब्दन के प्रामाण्य की दो दिशाएँ होती हैं –अपने लिए प्रमाण और दूसरों के लिए अप्रमाण। प्रामाण्य का मानदण्ड है (अपने में) विमर्शीकरण द्वारा निरूढि और अप्रामाण्य का है (पर में) प्ररोहाभाव के कारण अविमर्शीकरण। आधारभूत बिन्दु है प्रामाण्य के निर्धारण में तर्क, प्रमाण या युक्ति की भूमिका का नितान्त पंगु होना।[१७९] इसके कई हेतु हो सकते हैं। एक, युक्ति सर्वत्र प्रमाण हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। दूसरे, यदि प्रमाण हो भी तो कार्यादि के विषय में पूरी सूचना न होने से वह दुर्बल होता है। इसका एक पक्ष यह भी है कि अपने घर का बलवान् तर्क दूसरे वादी के तर्कान्तर के सामने और भी कमजोर पड़ सकता है। तीसरे,

---

१७७. क इदानीं प्रामाणिकानां प्रोत्कर्षः। [.....] ननु एवं तूष्णीमवस्थीयताम्, किं शास्त्रप्रणयनो–पदेशश्रवणानुष्ठानैः। सत्यमवस्थीयते यदि स तथा अवतिष्ठासीत परमेश्वरः। [.....] तथा च शिवदृष्टिः 'स एव शास्त्रकर्तृत्वे' (शि.दृ. ३/७५अ) इत्यादि 'यावत्तदनुष्ठान–तत्परः' (शि.दृ. ३/७५द) इत्यादि च। – तदेव। सोमानन्द शिवदृष्टि में ठीक यही प्रश्न उठाते हैं :

किमर्थं गुरुशास्त्रादि चेत्तथा तदवस्थितेः।
देवस्य शास्त्राद्बोधेन किं प्रयोजनमेव च।।
किमर्थं भवतारब्धं शास्त्रं बोधाय कस्य वा। – (३/७३–७४ अ ब)

उत्तर भी ठीक यही है :

स एवेत्थं स्वेच्छयास्ते तत्कर्तृत्वेन बोध्यतः।।
स एव बुद्धरूपत्वे तथा भवति तत्क्षणम्।
स एव संप्रजायेत तदनुष्ठानतत्परः।। – (३/७४स–७५)

मुद्रित पाठ में 'बहुरूपत्वे' है, जबकि अभिनव यहाँ 'शास्त्रकर्तृत्वे' पढ़ते हैं। इसी प्रकार मुद्रित 'संप्रजायेत तदनुष्ठानतत्परः' के स्थान पर अभिनव का पाठ है 'यावत्तदनुष्ठानतत्परः।' संदर्भदृष्ट्या 'शास्त्रकर्तृत्वे' पाठ बेहतर है।

१७८. वाङ्मयीं विचारयति 'वागपि' इति। – तदेव

१७९. 'तथा च' इति यतः प्ररूढा सती प्रमाणम्, ततः परयूथ्येषु प्ररोहाभावलक्षणेन बाधनेन अविमर्शीकृता नैव प्रमाणम्। ननु निरूढत्वात् न प्रमाणम्, अपितु प्रमाणोपपन्नत्वात्। नैवमित्याह 'युक्त्यंशस्तु' इति। – तदेव, पृ. ९४–९५

इस संसार में छह तर्कों और उनके सहस्रों भेदों पर आधारित युक्तियाँ कहाँ समाप्त होती हैं, कोई नहीं जानता।[१८०] भर्तृहरि पहले ही इस व्यर्थता को बता चुके हैं : एक निपुण अनुमाता बड़े यत्न से जिस अर्थ का अनुमान करता है, उससे भी कुशलतया अनुमाता और भी विदग्ध तर्कों से उसका उपपादन भिन्नतया कर डालता है। केवल इतना ही नहीं, सभी लोग फलोचित विषय में आगम को प्रमाण मानते हैं, पर उन्हीं विषयों को लेकर उसी आगम में विपरीत अर्थ भी लगाना संभव है।[१८१]

अत: जहाँ तक तर्क सर्वथा अप्रतिष्ठ है, अभिनव भर्तृहरि से सहमत हैं।[१८२] परन्तु जहाँ नहीं सहमत हैं, वह यह है कि तर्क से आगम का बाधन नहीं होता, क्योंकि तर्क को ईश्वर ने वैसा ही बनाया है।[१८३] यहाँ पर अभिनव परमेश्वर के रचना–संसार में अनेक संसारों – तर्कसंसार, काव्यसंसार और अनुभवसंसार – की परिकल्पना करते हैं। अपनी–अपनी इयत्ता के कारण उनकी विषय–संगति और प्रामाणिकता उन्हीं परिकल्पों में है। तर्कसंसार में परमेश्वर की शक्ति दो प्रकार से –अपना संवर्धन करती हुई और अन्त:संकुचित विमर्श का समाकर्षण करती हुई– कार्यरत होकर भोग और अपवर्ग में उपयोगी तर्कसंसार, जो काव्यसंसार की भांति आगमसंसार से भिन्न एक पृथक् संसार है, की सृष्टि करती है। अत: तर्क के (आगमसंसार में) अप्रतिष्ठित होने पर भी शैव दर्शन की आधारभूत स्थापनाओं को चोट नहीं पहुँचती।[१८४] यहाँ आभासमान ही वस्तु है। अत: वस्तुसंसार में तर्क प्रतिष्ठित है। इसलिए तर्क की शोभा ही गहराई की अंतिम कोटि को

---

१८०. तदेव, पृ. ९५
यहाँ पर अभिनव की उक्ति 'तर्कषट्कतद्भेदसहोत्थाप्यमानानां न्यायानाम्' में तर्कषट्क का वास्तविक अभिधेय समझ में नहीं आया।

१८१. यदाह ''यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ: [कुशलैरनुमातृभि:।
अभियुक्ततरैरूपैरन्यथैवोपपाद्यते।।] (वाक्य. १/३४) इति,
सर्व: फलोचितानर्थानागमात् प्रतिपद्यते।
विपरीतं च सर्वत्र शक्यते वक्तुमागमे।।'' – (वाक्य. १/१४०) इति च। – तदेव
'सर्व: फलोचित०' के स्थान पर वाक्यपदीय का मुद्रित पाठ है 'सर्वोऽदृष्टफला०'।

१८२. सर्वथा तर्कोऽप्रतिष्ठ एव। – तदेव; मिलाइए : नागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।– वाक्य. १/३२

१८३. तथैव हि परमेश्वरेण स सृष्ट:। – तदेव

१८४. तत एव इह शक्तिसंवर्धनक्रमेण अन्त:संकुचितविमर्शशक्तिसमाकर्षणेन तथैव भोगापवर्गोपयोगिना उपयुज्यमान: परमेश्वरेण सृष्टस्तर्कसंसार: काव्यसंसारवद् अपर एव। विचित्रा हि अमी संसारा:। अप्रतिष्ठितत्वेऽपि तर्कस्य न अस्मद्दर्शनस्य खण्डना काचित्। आभासमानवस्तुवादे हि परमेश्वरेच्छया अयमाभासनियम:। – तदेव, पृ. ९५–९६

न छू पाने में है।[१८५] यदि ऐसा कोई नहीं मानता है, यह वैसा ही है जैसे कोई अपनी बुद्धि के दर्प से मूढ या बच्चे की नकल करता हुआ अपने घर के आंगन के मध्य भाग में समग्र भूगोल के बीच में स्थित ध्रुव की कल्पना करे।[१८६] इसलिए मात्र अनुमान में ही पूरी तरह से भरोसा न कर आगम में ही विश्वास करना चाहिए। और यह आगम वही है, जो जिसके हृदय में निरूढ हो गया है। इस प्रश्न का कोई अर्थ नहीं कि जिसके हृदय में कुछ भी निरूढ नहीं है, उसका क्या? क्योंकि इसका उत्तर यही हो सकता है कि जिसके दोनों आँखें नहीं हैं, उसका क्या?

आप्ति-लक्षण आगम

पूर्वगामी विवेचन में आगम के प्रसिद्धि और प्रतिभान या शब्दन रूप द्विविध, और यदि प्रसिद्धि के निबद्ध और अनिबद्ध रूपों की भी पृथक् गणना करें तो त्रिविध, वर्गों का आकलन किया गया है। इनसे भिन्न आगम का नया वर्ग है आप्तोपदेश।[१८७] इसके अन्यत्व का आधार है प्रमाणान्तरमूलता।[१८८] प्रसिद्धि के तीनों प्रकार स्वप्रतिष्ठ हैं, जब कि आप्तत्व के निश्चय के लिए प्रमाणान्तर की शरण आवश्यक है। आप्त की अवधारणा के लिए उत्पल और अभिनव के आकरस्रोत हैं पतञ्जलि। पतञ्जलि समग्र आगम का संग्रह आप्तोपदेश के अंतर्गत करते हैं।[१८९] इस प्रकार शैवों का पतञ्जलि से अंतर यह पड़ता है कि शैवों में आप्तोपदेश आगम के तीन/चार भेदों में से एक है, जबकि योग में वह समग्र आगम

१८५. तदयम् अलब्धगाध एव तर्कः शोभते। [.....] सर्वथा अनुमाने न आश्वसितव्यम् अपितु आगम एव। स च यो यस्य हृदये निरूढिमुपगतः, स एव। ननु एवं यस्य न किञ्चित् निरूढं, तस्य किम्। ननु एवं यस्य चक्षुषी न स्तः, तस्य किम्। – तदेव, पृ. ९६

१८६. अत्र तु स्वबुद्धिगर्वेण प्रतिष्ठां पश्यन् स्वगृहप्रांगणमध्यकल्पितनिःशेषभूगोलमध्यध्रुवकस्थानवत् मूढो वा डिम्बविडम्बको वेति आस्ताम्। – तदेव। इस कथन की ओर ध्यान दिलाने के लिए मैं अपने मित्र प्रो. अरिंदम चक्रवर्ती का कृतज्ञ हूँ।

१८७. एवं प्रतिभारूपेण निबद्धानिबद्धप्रसिद्धिद्वयात्मना च त्रिविधमागमं प्रदर्श्य रूपान्तरमपि दर्शयति 'अन्योऽपि' इति। – तदेव, पृ. १०२

१८८. एतासु तिसृषु प्रसिद्धिषु प्रमाणान्तरमूलत्वं न अन्वेष्यम्, आप्तवादे तु अन्वेष्यमेव। – तदेव

१८९. तत एव सर्व आगम आप्तोपदेशशब्देन भगवत्पतञ्जलिप्रभृतिभिः संगृहीतः। – तदेव, पृ. १०३। यद्यपि पूरे निश्चय के साथ कहना कठिन होगा, अद्वैती शैवों में कल्लट आप्तोपदेश की धारा के निकट जान पड़ते हैं। स्प.का. १/७ पर अपनी वृत्ति में कल्लट जाग्रत् और तुर्य को मात्र आगम से गम्य मानते हैं : जाग्रत्तुर्यौ तु आगममात्रगम्यौ। (पृ. १५) इसी कारिका पर अपनी विवृति में रामकण्ठ आगम का अर्थ उपदेश से लेते हैं : [.....] तत्र प्रबुद्धोऽपि उपदेशमपेक्षते एव। (पृ. ५९)

का वाचक है। अत: अभिनव प्रसिद्धि के नए प्रतिदर्श (मॉडल) के रूप में 'आप्ति' को प्रस्तुत करते हैं। आप्ति है उपदेश्य या वक्तव्य वस्तु की प्राप्ति अर्थात् बोध, यह जिसमें हो वह हुआ आप्त : **आप्तिर्वक्तव्ये वस्तुनि अधिगतिः, ततश्च वक्तव्यवस्त्वधिगतिः, सा विद्यते यस्य स आप्तः।**[१९०] प्रमाणान्तरमूलता को यदि छोड़ दिया जाए तो आप्त में प्रसिद्धि रूप आगम की सारी विशेषताएँ –अधिकारिनियन्त्रिता, दृढ़निरूढि, अबाधितविमर्शता, अनुमान से बलवत्तरता– यथावत् यहाँ भी उपलब्ध हैं। यहाँ वही उपदेश्य अधिकारी है, जिसमें आप्त के उस ज्ञान को लेकर जरा भी शंका नहीं है कि इसका मूल कोई दूसरा प्रमाण है, न ही यह शंका कि यह ज्ञान संशय, विपर्यय या अज्ञान रूप है।[१९१] इस प्रकार के आप्तवाक्यों का उपदेश चूंकि अनुष्ठानपरक उपदेशपर्यन्त होता है, अत: उनसे उपदिष्ट वस्तु के ज्ञान से उस उपदेश्य को कोई किसी प्रकार से हटाने में समर्थ नहीं हो पाता।[१९२] यह उपदेश्य की उस ज्ञान में दृढ़निरूढि की पहचान है। ऐसा क्यों होता है, इसे समझाने के लिए अभिनवगुप्त उपदेश्य की प्रतीति को भर्तृहरि द्वारा उपस्थापित प्रतिमानक की दृष्टि से देखते हैं।[१९३] उनके अनुसार उपदेश्य का आप्तसंबंधी ज्ञान में प्रत्यक्षपक्षाश्रयतया अवस्थान होता है। इसका अभिप्राय यह है कि उपदिष्ट ज्ञान का उपदेश्य के अनुभव में प्रत्यक्षात्मतया प्रतिबिम्ब पड़ता है। जब आप्त कहता है 'मैने इसे साक्षात् जाना है', उस समय उपदेश्य भी यही मानता है 'मैंने ही इसे साक्षात् जाना है।'[१९४] आँखों देखी – साक्षात्कृत – वस्तु से बालक को भी, चाहे उसे कितनी भी युक्तियों से समझाया क्यों न जाए, बहलाना संभव नहीं होता। अभिनव कहते हैं कि धर्मकीर्ति के 'बुद्धिपक्षपात' का यही अभिप्राय है। बुद्धिपक्षपात इस बात का द्योतक है कि जहाँ जहाँ दृढ़तम अनुन्मूलनीय विमर्श होगा, वहाँ प्रामाण्य होगा। अत: अबाधितविमर्श होने के नाते आप्तवाक्य रूप आगम भी प्रमाण है।[१९५]

---

१९०. ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १०२

१९१. य उपदेश्यो यस्य आप्तस्य संबंधि ज्ञानं प्रमाणान्तरमूलतया उत्पन्नं न अभिशङ्कते, नैव संशयविपर्ययाज्ञानरूपतया अभिमन्यते [.....]। – तदेव

१९२. तमुपदेश्यं तथाभूताप्तवाक्योपदिष्टवस्तुसंवेदनादनुष्ठानपरोपदेशपर्यन्तात् निवर्तयितुं न केनचित्प्रकारेण अन्यो भवति शक्तः। – तदेव, पृ. १०२–१०३

१९३. यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नातिशङ्कते। स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत्।। – वाक्य. १/३९; प्रसंगान्तर से आगमविमर्शः में भी उद्धृत, पृ. २९

१९४. यतोऽसावुपदेश्यस्तत्र आप्तसम्बन्धिनि ज्ञाने प्रत्यक्षपक्षाश्रयेण स्थितः। यदाप्तेन उक्तं मया साक्षादेतत् ज्ञातमिति, तत्र असावुपदेश्योऽभिमन्यते मयैव एतत् साक्षात्कृतमिति। – तदेव, पृ. १०३

१९५. यथाहुः परेऽपि 'निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः। न बाधा यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः।।' (प्र.वा.१/२२३) इति। बुद्धिपक्षपातेन हि दृढतमतया अनुन्मूलनीयविमर्शत्वमेव प्रामाण्यस्य निबन्धनं व्यापकम् [.....] आगमः प्रमाणमबाधितविमर्शतया। – तदेव

आप्तत्व के प्रकार–भेद

प्रश्न है कि आप्तत्व का निश्चय कैसे होता है। आप्त के तीन रूप हैं लोक, शास्त्र या नियताकार कर्ता अर्थात् पुरुष। अत: लोकवचन, शास्त्रवचन या पुरुषवचन इनमें से कोई भी आप्तवाक्य हो सकता है।[१९६] यही भेद अभिनव के आप्तोपदेश के अवान्तर वर्गीकरण में निमित्त बनते हैं। उत्पल के अनुसार आप्तत्व का निश्चय होता है आप्तों की विशेष चेष्टाओं की विवेचना से।[१९७] चेष्टागत विवेचना से निर्णीत आप्तवाद के दो प्रकार हैं। पहला है शास्त्रोपजीवी प्रकार, जिसे शास्त्राप्तवाद या चरणाप्तवाद कहा गया है। उदाहरण के लिए व्याकरण में पाणिनि ओर वररुचि की आप्तता विख्यात है, पर अक्षपाद की नहीं। दूसरा है पुरुष या लोक पर आश्रित, जिसे पुरुषाप्तवाद कहा गया है। यह इस अर्थ में अपेक्षाकृत व्यापक वर्ग है, क्योंकि यह लोकाप्तवाद को भी अपने में समाहित कर लेता है।[१९८] पुरुषाप्तवाद की व्याख्यागत उपलब्धियों को जब लोक में पूर्ण समादर प्राप्त हो जाता है, तब पुरुषाप्तवाद ही लोकाप्तवाद के रूप में परिणत हो जाता है।[१९९] इसका कोई दृष्टान्त अभिनव नहीं देते। इन दोनों वर्गों में भी उत्पल और अभिनव भर्तृहरि से प्रभावित जान पड़ते हैं।[२००]

इस बिन्दु पर कतिपय संक्षिप्त टिप्पणियाँ उपयोगी होंगी। आप्त के प्रकार–भेदों में अभिनव लोकवचन की भी गणना करते हैं। परन्तु आप्तवाद के प्रकार–विश्लेषण में इसका उल्लेखन नहीं करते। वस्तुत: लोकवचन पर वह प्रसिद्धि के भेद अनिबद्धप्रसिद्धि के अंतर्गत विचार करते हैं। वहाँ अनिबद्धप्रसिद्धि के दो उपभेदों की परिगणना हुई है – लोकप्रसिद्धि और महाजनप्रसिद्धि। आप्त और प्रसिद्धि के भेदों में अतिव्याप्ति और अंतर्व्याप्ति को तभी बचाया जा सकता है, जब आप्तवाद के सभी भेदों में दृष्टि को व्यक्ति या पुरुष के रूप में केन्द्रित किया जाए। अभिनव के दो दृष्टान्तों से यह बात स्पष्ट की जा सकती है। शास्त्राप्तवाद के दृष्टान्त में वह शास्त्र या शास्त्रवचन 'की' आप्तता को नहीं, अपितु शास्त्र 'में' आप्तता को उदाहृत करते हैं। पाणिनि और वररुचि व्याकरण में आप्त हैं, अक्षपाद नहीं।

---

१९६. लोकवचनरूपो वा, शास्त्रवचनरूपो वा नियताकारं कर्तारं चापेक्ष्य वर्तमानोऽपि। – तदेव, पृ. १०२

१९७. ननु आप्तत्वमस्य कथं निश्चितम् इति चेत्, आह 'चेष्टाविशेषै:' इति। तत्रापि हि कार्यस्य सुविवेचना किं न सह्यते। – तदेव

१९८. 'प्रतिचरणम्' इति शास्त्राप्तवाद:। तथाहि पाणिनिवररुचिप्रभृतेर्व्याकरणे आप्तता प्रसिद्धा, न अक्षपादादे:। पुरुषाप्तवादेन तु लोकाप्तवादपरिग्रह:। – तदेव

१९९. प्र.प्र.मी., पृ. ३०७

२००. मिलाइए : सन्ति प्रतिचरणं प्रतिपुरुषं चाप्ता:। – वाक्य. वृत्ति, १, पृ. ९७

ठीक इसी के समानानन्तर जब वह महाजनप्रसिद्धि को दृष्टान्तित करते हैं, तो वेदानुष्ठान में छान्दसों के वर्ग या समूह को, वैष्णवों में भागवतों के वर्ग या समूह को वे चिह्नित करते हैं। लोकप्रसिद्धि में वह लोकपरम्परा या लोकप्रतिभामुख का प्रस्तावन करते हैं, व्यक्ति का नहीं। दूसरे अपने अत्यन्त व्यापक विश्लेषण के बावजूद भी अभिनव इसकी अंतरिमता (tentativeness) या सीमा से परिचित हैं। इसलिए उनका मन्तव्य है कि यह आप्तवाद पूर्वोक्त आगमभेदों की यथावसर, यथाप्रसंग व्याख्या करते हुए उन्हें अपने में संगृहीत कर लेता है। यह कहकर वे पतंजलि की मान्यता से सहमति भी प्रकट कर देते हैं कि आप्तोपदेश के अंतर्गत सारे आगमों का अन्तर्भाव हो जाता है।[२०१]

आप्ति की प्रसिद्धि-रूपता

यदि हम स्मरण करें तो आप्तोपदेश की अवधारणा, जिसका बीज प्रत्यय शैवों में पतंजलि की परम्परा से आता है, का आसूत्रण अभिनव ने गुणात्मक रूप से भिन्न प्रमाणान्तरोपजीवी आगमप्रकार के रूप में किया था। प्रश्न है कि क्या इसे आगम का अवर भेद मानकर छोड़ दिया जाए या यौक्तिक पुनर्मूल्यन द्वारा इसे शैवों को अभिमत आगम की मुख्य धारा में अङ्गतया आत्मसात् किया जाए। स्वाभाविक है अभिनव दूसरा विकल्प चुनते हैं। परिणामतः अभी तक प्रसिद्धि के आप्ति-परिकल्प को पलटकर वे आप्ति को प्रसिद्धितया ढालने का ऐतिहासिक प्रयत्न करते हैं।[२०२] यह काम वह शब्द को आगम के साथ जोड़कर करते हैं।

२०१. अयं चाप्तवादः पूर्वोक्तम् आगमभेदं यथायोगं व्याख्यानादिद्वारेण अनुगृह्णाति। तत एव सर्व आगम आप्तोपदेशशब्देन भगवत्पतंजलिप्रभृतिभिः संगृहीतः। – तदेव

२०२. ननु न सर्वैरागमस्य प्रामाण्यमभ्युपेतं, तत्कथमस्य विमतिपदपतितस्य अनपेक्षत्वं भवता उक्तम्। अभ्युपेतमेवेत्याह 'प्रसिद्धिः' इति। [.....] किमत्र प्रसिद्ध्या। [.....] तत्रापि प्रसिद्धिशरणत्वं न विघटते। – तदेव, पृ. १०४। अभिनव के लिए इस प्रयत्न की एक गहरी सांस्कृतिक प्रयोजनीयता भी है। तान्त्रिक दृष्टि के पुरोधा होने हुए भी उन्हें भारतीय सांस्कृतिक चेतना में प्रतिष्ठित वेद की श्रद्धापूत गरिमा की रक्षा भी करनी है जो सर्वागमप्रामाण्यवाद के उनके प्रतिश्रुत लक्ष्य से समंजस भी है (सर्वागमाविसंवादितां वेदागमस्य– तदेव, ३, पृ. ९९)। वेदानुष्ठान में छान्दस वर्ग की आप्तता आदि तो शास्त्र-दृष्टि है और केवल वेद के एकदेश का ही संग्रह करती है। पतंजलि के उपरि निर्दिष्ट यथावसर, यथाप्रसंग व्याख्यान के लचीलेपन का लाभ उठाते हुए उन्हें सारे आगम-भेदों को आप्त में संगृहीत कर लेना है। यह काम आप्ति के प्रसिद्धितया आत्मलाभ से ही संभव हो सकता है। आगम की ही भांति वह श्रुति की संकल्पना भी प्रमाण रूप में करते हैं। प्रमाण कितना ही अभेदप्राण क्यों न हो, प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय के संदर्भ में ही उसकी चिन्तना के कारण वह भेदात्मक होकर ही वस्तुतया ग्राह्य होता है। इसलिए ब्रह्माद्वैतवादियों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि भासन का तिरस्कार कर आगम के प्रमाण से अभेद की सिद्धि वदतोव्याघात है, अभेद तो आदिसिद्ध है,

लोक परम्परा या अनिबद्धप्रसिद्धि के संदर्भ में अभिनव आगम की काया को शब्दन द्वारा होने वाली संक्रान्ति से समीकृत करते हैं। इसकी पुष्टि में वह पतंजलि को उद्धृत करते हैं कि अपने बोध को दूसरे में संक्रान्त करने के लिए उपदेश का माध्यम शब्द है।[२०३] वे पतंजलि के मत का विश्लेषण तीन चरणों में करते हैं – व्याख्यान, संपादन और संरचनात्मक पुनर्मूल्यांकन।

पतंजलि, यदि ठीक से कहा जाए तो व्यास, के उद्धरण में कहा गया है कि आप्त

वह प्रमाणमुखापेक्षी नहीं है, भले ही वह प्रमाण आगम क्यों न हो : भासनमवधीर्य आगमप्रमाणकोऽयम् अभेदः इति चेत् आगमोऽपि भेदात्मक एव वस्तुभूतः प्रमातृप्रमेयप्रमाणविभागश्च इति न किंचिदेतत्। – (ई.प्र.वि., २, पृ. २०३)। शैवों की दृष्टि में आगम प्रतिभारूप लोकप्रसिद्धि के रूप में सदोदित रहता है और सम्यक् द्रष्टा के रूप में मान्य आप्त ऋषि के द्वारा उत्थापित होता रहता है। अतः प्रमाणतया श्रुति अनुमान से बलवत्तर होने के नाते उसकी बाधक होती है (इस मान्यता में पतंजलि और भर्तृहरि दोनों प्रतिध्वनित हैं) : प्रतिभारूपवेदादिप्रसिद्धिरूपसदोदितलोकप्रसिद्ध्यात्मकम् ऋषिणा सम्यक्दृष्ट्रभिमतेन आप्तेन उत्थापितमनुमानस्य बाधकमेव। (तदेव, ३, पृ. १०३) अभिनव की विचार पद्धति की तार्किक परिणति स्मृति और श्रुति दोनों को प्रमाणतया स्वीकार करने में होती है। स्मृतिकार मनु आदि भी आप्त हैं और वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि भी। अंतर केवल इतना है कि अपने से पूर्व हुए प्रकाश में योगी का तादात्म्यपूर्वक प्रवेश ही उसका तत्कालीन स्मृतिकारित्व है। इसीलिए मनु आदि स्मृतिकारों का सर्वज्ञता के नाते होने वाला धर्मविषयक प्रकाशन 'अनादि परमेश्वर का यह ऐसा प्रकाश है' इस प्रकार अनादि परमेश्वर के उस 'पूर्व' प्रकाश का प्रमाणीकरण ही स्मृति है और परमेश्वर के 'अपूर्व' प्रकाश के अनुग्रह से उठने वाला ऋषि के द्वारा साक्षात्क्रियमाण प्रमाण श्रुति है : तत्पूर्वप्रकाशतादात्म्यप्रवेश एव हि योगिनस्तदानीं स्मर्तृता। तत एवं मन्वादीनां धर्मविषये प्रकाशनमपि सार्वज्ञ्यात् भवत् परमेश्वरस्य अनादेरयमित्थं प्रकाश इति तत्प्रकाशप्रमाणीकरणेन भवत् स्मृतिरुच्यते। तदपूर्वपारमेश्वरप्रकाशानुग्रहोत्थं हि प्रमाणं श्रुतिः। (ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ५१)। प्रकृत विषय से हटकर भी अभिनव की इस विलक्षण प्रतिपत्ति की अविचारितसार्थकता श्रुति के प्रति उनकी 'प्रह्वता' (यदि उन्हीं की शब्दावली में कहा जाए) प्रकट करने में है।

२०३. आगमो हि नाम अयं शब्दनसंक्रान्तिशरीरः। यथाह भगवान् अनन्तः 'परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देन उपदिश्यते' (यो.सू.भा. १/७) इति। – तदेव, पृ. ८९

पूरा उद्धरण इस प्रकार है : आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात् तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्य अश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स्यात्, स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात्। – यो.सू. पर व्या.भा. [इस स्थान पर यह याद दिलाना आवश्यक होगा कि पूरी प्रत्यभिज्ञा परम्परा पतंजलि और व्यास में भेद नहीं करती।] यहाँ पर हरिहरानन्द आरण्य अभिनवगुप्त का नामोल्लेख करते हुए एक मनोरञ्जक टिप्पणी करते हैं (पातंजलयोगदर्शनम्, पृ. २८): अभिनवगुप्त ने इसे ही पौत्रिकी (सस्नेह) शक्तिपात कहा है। हमें इस वक्तव्य को बहुत गंभीरता से नहीं लेना चाहिए, वैसे भी यह अप्रासंगिक है।

पुरुष अपने देखे या अपने द्वारा अनुमित विषय का दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिए शब्द द्वारा उसका उपदेश करते हैं। उस समय शब्द से जो अर्थविषयक वृत्ति उपदेश्य श्रोता में जन्म लेती है, वह उस उपदेश्य श्रोता का आगम (नामक) प्रमाण कहलाता है। यद्यपि अभिनव व्यासभाष्य का पूरा कथन (देखिए पिछली पादटिप्पणी) उद्धृत नहीं करते, पर उचित होगा कि हम उस अंश पर भी दृष्टि डाल लें। जिस आगम के वक्ता की अपने अर्थ में श्रद्धा नहीं है (जिसका वक्ता श्रद्धेय नहीं है, यह अर्थान्तर भी संभव) और जिसका विषय वक्ता के प्रत्यक्ष या अनुमान से गृहीत नहीं हुआ है, वहाँ आगम प्रमाण नहीं होता। आप्त मूल वक्ता के द्वारा दृष्ट या अनुमित अर्थ के विषय में ही आगम प्रमाण विप्लव से रहित अर्थात् प्रामाणिक होता है।[२०४] इससे स्पष्ट है कि अभिनव के द्वारा आप्त को प्रमाणान्तरोपजीवी मानने के पीछे स्वयं पतंजलि की प्रतिपत्ति रही है। पतंजलि की व्याख्या करते हुए अभिनव कहते हैं कि यहाँ स्वबोध से तात्पर्य है आप्त द्वारा स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष से गृहीत ज्ञान और शब्द (**'शब्देन'**) का तात्पर्य है श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा श्रावण प्रत्यक्ष का विषय। शंका होती है कि यदि प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता में दुर्बलता हुई तो वह आगम में भी परिलक्षित होगी।[२०५] अभिनव के अनुसार यह शंका निरवकाश है, क्योंकि आप्त के द्वारा साक्षात् गृहीत वस्तु का व्यवस्थापन उसके अबाधित विमर्श के फलस्वरूप होता है।[२०६] कोई

२०४. आप्तसंबंधी योग की दृष्टि और आप्त की वैदिक दृष्टि का सुन्दर समन्वय मधुसूदन ओझा में मिलता है। द्रष्टा और आप्त दोनों की एकरूपता में पतंजलि का अनुवाद स्पष्ट देखा जा सकता है : अयमेवार्थो निष्कृष्येत्थं द्रष्टव्यः। द्रष्टा, आप्तः, अनूचान इत्येकार्थाः। योऽर्थमीक्षते, अन्वीक्षते–परीक्षते–समीक्षते, स विपश्यति, स द्रष्टा। अथ चक्षुरादीन्द्रियजन्यं लिङ्गजन्यं वा यज्ज्ञानं तज्जन्यं पार्ष्टिकं निर्विकल्पकं ज्ञानमवगमः। सोऽधिगमः, तत्प्रत्यक्षम् सा प्रमा, सोऽर्थस्याप्तिः, तत्संपन्न आप्तः। अथ योऽर्थं दृष्ट्वा याथातथ्येनावगम्य यथादृष्टमन्वाचष्टे, स उपदेष्टा, सोऽनुशास्ता, सोऽनूचानः। एवमेषां सामानाधिकरण्यं भवति। – महर्षिकुलवैभवम्, पृ. ६०

२०५. आपाततः काश्मीर शैवों की स्थिति योग से थोड़ी भिन्न है। योग में प्रत्यक्ष श्रुत और अनुमान का बीज है, जब कि शैवों और भर्तृहरि में श्रुत (यहाँ आगम) प्रत्यक्ष और अनुमान का बीज है (प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पः ई.प्र.वि., २, पृ. ८५)। योगसूत्र १/४३ की अवतरणिका (संपादक के शब्दों में सूत्रपातनिका) में व्यास कहते हैं : तत् परं प्रत्यक्षम्, तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम्, ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः। न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम्, तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति। यहाँ जिस प्रत्यक्ष की बात की जा रही है वह निर्वितर्क और निर्विचार समाधि का दर्शन है। आप्त का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान का उपजीवी है, परन्तु सूक्ष्म विचार में यह अन्तर उतना गहरा नहीं रहता। यह बात सही है कि प्रसिद्धि या आगम शैवों का सबसे मूलभूत आत्मसिद्ध प्रमाण है, वहाँ पर भी प्रतीति का रूप वैश्विक निर्विकल्प साक्षात्कार का ही रहता है।

२०६. तत्र स्वबोधः प्रत्यक्षेण स्वसंवेदनात्मना, शब्दश्च श्रोत्रेन्द्रियाध्यक्षेण प्रमेय इति प्रत्यक्षस्य चेत् प्रामाण्यं प्रति दौर्बल्यं स्यात्, तदा आगमस्य अपि आपतेद् इत्याशंकां शमयति [.....] अबाधितविमर्शेन हि प्रतिभासेन तदवस्थापितं साक्षात्, तत् कथमन्यथा भवेत्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८९–९०

भी देख सकता है कि पतंजलि की व्याख्या में अभिनव शैव प्रमाणशास्त्रीय भङ्गिमा का अनुप्रवेश करा रहे हैं। साथ ही पतंजलि का संपादन भी कर रहे हैं। उनका 'शब्द' अभिनव की प्रस्तुति में 'शब्दन' (**'शब्दनसंक्रान्तिशरीरः'**) का कलेवर धारण कर अभिनव को पुनर्मूल्याङ्कन के लिए एक सशक्त उपकरण उपलब्ध करा देता है। शब्दन श्रोत्रग्राह्य शब्द न रहकर शब्द के शब्दनाकार संक्रमणात्मक व्यापार की धुरी बन जाता है।

शब्दन के बिन्दु पर हम आगे चर्चा करेंगे, पर शब्द के शब्दनतया संस्कार का तात्कालिक उपयोग अभिनव पतंजलि के आप्त के अभिधेय–क्षेत्र का बृंहण, अतिदेशन, करते हुए आप्त का मानक ही बदल देने में करते हैं : आप्त केवल वही नहीं है जिसने विषय को अपने साक्षात्कार या अनुमान से पाया है, अपितु वह भी है जिसे विषय का बोध दूसरे आप्त से भी (आप्तान्तरोपजीवी) हुआ है।[२०७] यहाँ अवधेय यह है कि जहाँ दृष्ट और अनुमित विषय का ग्रहण प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से होता है, वहाँ आप्तान्तर से अवगत विषय का शब्दनात्मक संक्रान्ति के अतिरिक्त अन्य साधन संभव नहीं है। यही वह बिन्दु है जहाँ से अभिनव का आप्ति को प्रसिद्धि में ढालने का उपक्रम अत्यन्त कुशलता और सूक्ष्मता पूर्वक आकार ग्रहण करने लगता है। अभिनव प्रश्न उठाते हैं – आगमों में गुरुओं को आप्त कहा गया है। प्रश्न है : जो शास्त्र का विषय है, उसको जिन्होंने स्वयं नहीं पढ़ा है परन्तु परम्परा से उसके वेत्ता हैं, उनको उस विषय में प्रमाण माना जाएगा या नहीं? उनका स्पष्ट अभिमत है उन्हें प्रमाण माना जाएगा, क्योंकि आगम ग्रन्थ के पाठ के बिना भी विशुद्ध उपदेश–परम्परा में भी जिसने आगम प्राप्त किया है केवल उसी व्यक्ति में आप्तागमता मानना प्रासंगिक है। आप्तागमता की यह प्रसक्ति अंततः प्रसिद्धि का ही रूप है।[२०८] अभिनव इस प्रक्रिया में तीन सोपान देखते हैं। मूल सोपान है, पारमेश्वरी अनादि प्रसिद्धि का। मध्य सोपान है उस आप्त का, जिसने उपदेशपरम्परा से आगम प्राप्त किया है और जो उपदेश्य आप्त का उपजीव्य उपदेष्टा है। अग्र सोपान है उस व्यक्ति का, जो मध्य आप्त का उपजीवी है और जो पूर्व आप्त का उपदेश्य और भविष्यत् शिष्य का उपदेष्टा होने के नाते आप्त भी है।[२०९] इस प्रकार – प्रसिद्धि → आप्त → आप्तान्तरोपजीवी आप्त, यह क्रम है। आगम की यही अन्वर्थता सारे आगमों का सर्वाभिमत प्रतिपाद्य है कि ज्ञान एक मुख से दूसरे

२०७. न केवलं दृष्टानुमितार्थ एव आप्तः, यावत् आप्तान्तरोपजीवी अपि इत्याह 'उपदेश' इति। – तदेव, पृ. १०४

२०८. आगमग्रन्थावबोधेन विनापि उपदेशपरम्परायां केवलायामपि आप्तागमस्यैव तत्र प्रसङ्गाद् आप्तागमता प्रसज्यते प्रसिद्धिरूपता च पर्यवस्यति। – तदेव

२०९. येन आप्ततया मध्यवर्तिन्या मौलिक्या च पारमेश्वरानादिप्रसिद्धिरूपतया तादृशा अपि गुरवोऽन्यस्य उपदेष्टारो भवन्ति। – तदेव, पृ. १०४–१०५। यहाँ पर मध्य और मूल की चर्चा तो हुई है, पर

मुख, दूसरे से तीसरे और एक कान से दूसरे कान, दूसरे से तीसरे इस प्रकार संक्रान्त होता आया है।[२१०]

अभिनव आप्त ज्ञान के संदर्भ में शब्दन को लेकर प्रश्न पूछते हैं। आप्त से जुड़ा हुआ जो शब्दनात्मक ज्ञान है वह श्रोता में, शिष्य में, संवेदनरूप प्रमाण कैसे बन पाएगा, क्योंकि श्रोता में उच्चरित शब्द के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह तो श्रोतृविश्रान्त है, वह आप्त वक्ता का संबंधी कैसे होगा? अभिनव इसको समाहित करते हुए कहते हैं कि प्रयोक्ता, प्रतिपादयिता या आप्त का सक्रम शब्द प्रतिपाद्य/उपदेश्य की अक्रमविमर्शात्मक प्रतीति में पर्यवसित होकर प्रतिपाद्य से भिन्न नहीं रहता।[२११] यही उसकी संवेदनरूप प्रमाणता है। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो श्रवण या श्रोत्रज्ञान का विषय रहने तक तो यह रूप आदि की तरह से विषयमात्र है, प्रमाण नहीं।[२१२] अभिनव की टिप्पणी से स्पष्ट है कि वह यहाँ पर आगमरूप शब्द की बात कर रहे हैं। आप्त को लेकर एक दूसरा प्रश्न भी पूछा जा

अग्र की नहीं। हमने अग्र की परिकल्पना 'आप्तान्तरोपजीवी' में आप्तान्तर और यहाँ 'अन्यस्य उपदेष्टारः' के आधार पर की है, अन्यथा 'मध्य' का कोई अर्थ नहीं होता।

२१०. यत एवं समस्तेषु आगमगग्रन्थेषु पठ्यते
'मुखान्मुखागतं ज्ञानं कर्णात्कर्णमुपागतम्।' इत्यादि। – तदेव, पृ. १०५
यहाँ पर इस पंक्ति के पाठभेद (समस्तागमग्रन्थपाठान् [न-ज्ञानमुपागतम् ?]) से अभिनव इस आप्तान्तरोपजीवी के दो प्रकारों पर विस्तृत विचार करते हैं। दार्शनिक या प्रमाणशास्त्रीय दृष्टि की अपेक्षा इस विवेचन का संदर्भ मुख्यतः तान्त्रिक है। पहला प्रकार है एकगुरुता। यह केवल उपदेश्य आप्तविशेष की ही उपकारक है। इनमें उपकार्य आप्तों में गणना तांत्रिक प्रशिक्षुओं की प्रथम तीन कोटियों की होती – है समयी, पुत्रक और साधक। यहाँ आप्तागमता का आधार केवल उपदेशपरम्परा ही है। यह केवल स्वात्ममात्रोपकारिणी है। विशुद्ध तान्त्रिक सन्दर्भ से हटकर यह प्रसिद्ध लौकिक व्यवहारों के निष्पादन में भी उपयोगी होती है। दूसरा प्रकार है समस्तगुरुता या समस्तागमपाठगत गुरुता। इसका संबंध आचार्य, तांत्रिक अधिकारिता की चरम कोटि, से है। यह अपनी और दूसरे की अर्थात् गुरु और शिष्य दोनों की उपकारक है। यहाँ उपदेश-पारम्पर्य की अपेक्षा समस्त आगम का अर्थावबोधपूर्वक पाठ ही आप्तागमता का उपजीव्य होता है। परन्तु स्मरणीय है कि आप्त की स्थिति मध्यवर्तिनी होती है और प्रसिद्धि सर्वदा मूल में रहती है : एवमेतत् लोकप्रसिद्धसमस्तव्यवहारो-पयुक्तैकदेशगुरुताभिप्रायेण पूर्वं व्याख्यातम्, अन्यत्तु प्रक्रियाक्रमायातशास्त्रोक्तसमस्तगुरुताभिप्रायेण इति उभयथा अपि इदमस्मद्गुरुभिर्निरूपितम्। मध्यगत आप्तः, प्रसिद्धिश्च मूलतः इति प्रधानम्। यतः सर्वेषु ग्रन्थेषु गुरवः पठ्यन्ते 'एवं परम्पराख्यातमिदम्' इति। – तदेव.

२११. प्रतिपादयितरि हि असौ सक्रमः शब्दोऽक्रमविमर्शात्मकप्रतीतिमूल इति तथैव प्रतिपाद्ये संक्रामन् प्रतीतिपर्यवसायी ततोऽनन्यत्वात् तस्य।'उपयोगः' इति आगमत्वेन इति शेषः। – तदेव, पृ. १०६

२१२. श्रोत्रज्ञानगम्यत्वे हि असौ रूपादिवत् विषयमात्रं, न प्रमाणरूपः। – तदेव

सकता है कि शब्द वाचक होकर ही आगम बन पाता है। वाचक शब्द पहले वक्ता में होगा, तब श्रोता में। परन्तु तब दोनों का काल अलग–अलग होगा, ऐसी स्थिति में दोनों का तादात्म्य असंभव है। शैव इस प्रश्न से विचलित नहीं होते। उनके वाग्दर्शन में उच्चरित शब्द की वाचकता नहीं होती, वाचकता होती है मनोभूमि में अवस्थित शब्द या शब्द के मानसिक रूप की। अत: अंत:संवेदनभूमि में विद्यमान वाचकता काल से अछूती है। कालभेद इत्यादि व्यवहार देह आदि के उपचार से होता है।[२१३] अत: वक्ता और श्रोता के विमर्शन–तादात्म्य में कोई विसंगति नहीं दीख पड़ती। यदि आप्त का अभिप्राय सर्वज्ञों से है (शैवों में 'सर्वज्ञ' से योगी और ईश्वर दोनों का ग्रहण होता है) और उनमें कालस्पर्श माना जाए तो ऐसी स्थिति में असंकुचित प्रमातृता के कारण उनके सारे प्रमेयों में कालस्पर्श मानना होगा, किंतु तब इस काल का स्वरूप होगा नित्यप्रवृत्तवर्तमानता, तभी उनकी सर्वज्ञता सिद्ध हो सकेगी और निहितार्थतया वक्ता और श्रोता की अभेद प्रतिपत्ति में कोई विप्रतिपत्ति भी नहीं होगी।[२१४]

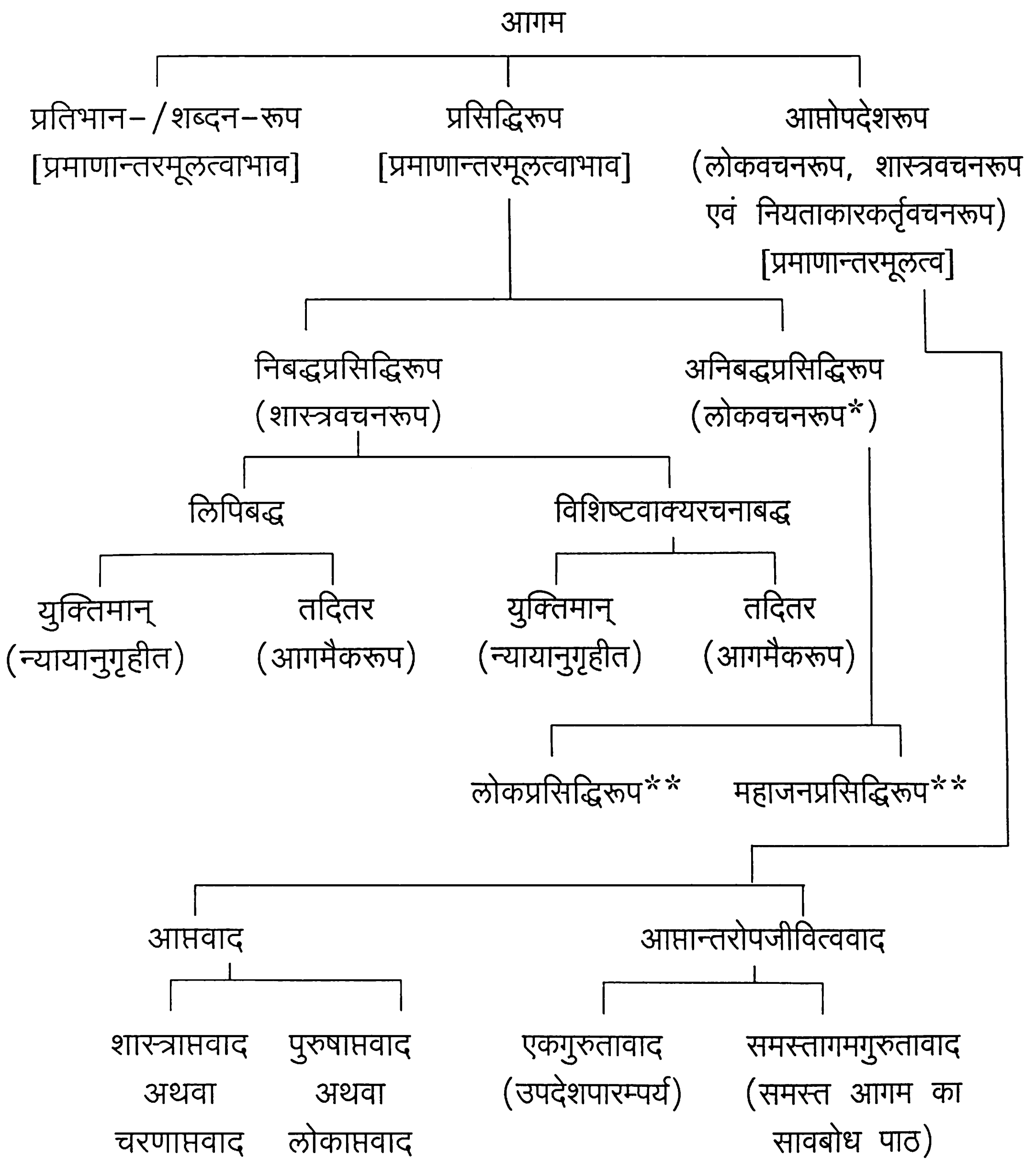
एक प्रकार से यहाँ तक आगम और इसके वर्गों और उपवर्गों का जो विवरण शैव आचार्य, विशेषत: अभिनवगुप्त, प्रस्तुत करते हैं उसका एकत्र संग्रह अग्र पृष्ठांकित सारणी में इस प्रकार कर सकते हैं :–

---

२१३. 'प्रमातृता' इति। अंत:संवेदनभूमौ वाचकत्वं, सा च कालास्पृष्टा, देहाद्युपचारात्तु कालभेदव्यवहार: इति सर्वमनवद्यम्। – तदेव

२१४. सर्वज्ञानामपि कालस्पर्शे तत्प्रमातृतासंकोचादशेषमपि प्रमेयनिष्ठमपि ज्ञानं कालस्पृष्टमेव, यदि परं नित्यप्रवृत्तवर्तमानतोद्रेकेणैव तेषां ज्ञानं व्यवह्रियते तदा सर्वं विदन्तीति। – तदेव, पृ. १०७

[सारणी–७]



* आप्तोपदेश में संग्रह के बाद भी अनिबद्धप्रसिद्धि के अंतर्गत विचार

** सिद्धान्ततः 'युक्तिमान्' और 'तदितर' भेद इनके भी होने चाहिए, पर न इन भेदों पर विचार, न संकेतन अतः यहाँ असंगृहीत

आगम की प्रमाणमूलक संरचना

अभिनव आगम प्रमाण की आधारगत संरचना पर गहरा विचार करते हैं। जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों अर्थ या विषय पर आश्रित प्रमाण हैं, आगम का मूल आश्रय प्रमाता है। इस बात का महत्त्व इसलिए बढ़ जाता है क्योंकि शिवाद्वयवाद की सारी धाराएँ केन्द्र में प्रमाता को लेकर चलती हैं। सत्ता और प्रमातृता अंतिम विश्लेषण में एकाकार हैं। आगम प्रमाण के सर्वातिशायी महत्त्व के पीछे भी यही कारण है। तीनों प्रमाणों के अंतर को अभिनव की दृष्टि से समझना हो तो कहेंगे कि प्रत्यक्ष अर्थ के सामर्थ्य से उत्पन्न होता है, अनुमान अर्थान्तर के सामर्थ्य से, और आगम प्रमाता के सामर्थ्य से।[२१५] प्रमातृ–सामर्थ्य दो प्रकार से क्रियाशील हो सकता है : (एकल) प्रमाता के सामर्थ्य से या वितत और अवितत प्रमाताओं के सामर्थ्य से। हम देख चुके हैं कि प्रत्यक्ष अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान है, अनुमान हेतु (साध्य से भिन्न = अर्थान्तर) की नान्तरीयकता–सामर्थ्य से होने वाला ज्ञान है। इसके विपरीत आगम परम प्रमाता महेश्वर की सामर्थ्य, जिसे पारमेश्वरी वाक्, शब्दन या विमर्शन कहा गया है, से उत्पन्न (वस्तुतः तदाकार) ज्ञान है। यह ज्ञान सीमित और असीमित प्रमाताओं की श्रृंखला से तत्तत्प्रसिद्धिरूप, पारम्पर्यरूप भी है, जो ऐतिहासिक और तदितर प्रमाताओं को समेटता हुआ अनादि प्रसिद्धि में विश्रान्त होता है।

एकल सत्ता के यौक्तिक विश्लेषण की दोनों घटक कोटियों प्रकाश ओर विमर्श की दृष्टि से देखा जाए तो संरचनया प्रत्यक्ष एक प्रमाता के प्रकाश में निष्ठ ज्ञान है, जब कि आगम परम प्रमाता का विमर्शरूप है। इसे यदि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणशास्त्र की पारिभाषिक पदावली में कहा जाए तो प्रत्यक्ष (ज्ञान) एक प्रमाता की संकुचित प्रकाशरूपता में आविष्ट होने वाले (नीलादि) विषय का विमर्शन (प्रतीति) है, जब कि आगम (ज्ञान) सारे प्रमाताओं की अपरिच्छिन्न अखंड प्रकाशरूपता में विश्रान्त समस्त भावजात का अबाधित विमर्शन है।[२१६] (इसलिए परस्पर तुलना में आगम को प्रत्यक्ष से बलवान् माना गया है।) सरल शब्दों में जहाँ प्रमाता की व्यष्टिता और बोधगत प्रकाशरूपता प्रत्यक्ष की नियामक है, वहाँ प्रमाता की समष्टिरूपता और प्रतीति की विमर्शनात्मकता आगम की। इस क्रम में अभिनव की महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि प्रत्यक्ष और आगम में प्रमेय का पारिभाषिक स्वभाव क्रमशः 'प्रकाश्य' (प्रकाश का विषय) और 'विमृश्य' (विमर्श का विषय) का होता है। 'प्रकाश्य'

---

२१५. प्रत्यक्षम् अर्थसामर्थ्यात्, अनुमानम् अर्थान्तरसामर्थ्यात्, आगमः प्रमातृसामर्थ्यात् विततावितत–प्रमात्रन्तरसामर्थ्यादिति विशेषः। – तदेव, पृ. ८२

२१६. एकप्रमातृरूपसङ्कुचितप्रकाशावेशिनीलाद्यवभासविमर्शनरूपात् प्रत्यक्षात् समस्ताविगीतविमर्शनरूप–परिच्छेदशून्यासंकुचितप्रकाश–विश्रान्तभावतत्त्वावभासविमर्शनस्वभाव आगमो बलवान् इति। – तदेव, पृ. ९२

(के प्रकाशन) में प्रत्यक्षगत प्रकाश की विमर्शनिरपेक्ष भूमिका होती है। ठीक इसी प्रकार 'विमृश्य' (के विमर्शन) में आगमगत विमर्श को प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती। सरल शब्दों में प्रत्यक्ष में विषय का ग्रहणमात्र प्रकाशाधीन होता है और आगम में मात्र विमर्शाधीन। अतः प्रकाश और विमर्श परस्परापेक्षी नहीं होते।[२१७] चूँकि यहाँ प्रमाण और प्रमा (प्रमाणफल) में बौद्धों की तरह अभेद माना जाता है जहाँ प्रमाण बहिर्वेदनरूप प्रकाशांश को और प्रमा अंतर्मुखविमर्शन रूप विमर्शांश को उपलक्षित करती है, अतः उपर्युक्त बात को ऐसे भी कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष में हम प्रकाश के द्वार से विमर्श तक पहुंचते हैं और इसके विपरीत आगम में विमर्श के द्वार से प्रकाश तक। दोनों ही स्थितियों में विषय या प्रमेय और प्रमाण के मध्य अपेक्षाशून्य अव्यवहित संबंध होता है – प्रत्यक्ष में विषय का प्रकाश से, आगम में विषय का विमर्श से। परन्तु अनुमान में स्थिति इससे भिन्न होती है। अनुमान में नान्तरीयक या अविनाभूत अर्थान्तर (हेतु के लिए अनुमेय/साध्य अर्थान्तर है और अनुमेय के लिए हेतु) के प्रकाश और विमर्श दोनों की अपेक्षा होती है, इसलिए अनुमेय में प्रकाश और विमर्श दोनों का योग रहता है।[२१८] फलतः दोनों परस्परापेक्ष होते हैं। अनुमान का आधार है नान्तरीयकता या व्याप्ति संबंध जो दो अर्थों (एक दूसरे के लिए अर्थान्तर) के मध्य होता है। अनुमान के समय अर्थान्तर के प्रकाशन (दर्शन/ग्रहण), जो प्रतिबंधनियम की चेतना (विमर्शन) से अविनाभूत है, से साध्य (नान्तरीयक अर्थान्तर) का विमर्शन होता है। एक को दूसरे की – प्रकाश को विमर्श की, विमर्श को प्रकाश की – अपेक्षा से विषय-बोध हमेशा व्यवहित रहता है, अतः अनुमिति को सर्वदा व्यवहित ज्ञान माना गया है। इससे किसी को यह शंका नहीं करनी चाहिए, अभिनव आगाह करते हैं, कि आगम में शब्दविमर्शनपूर्वक अर्थविमर्शन होने के कारण वहाँ भी अन्यापेक्षा – अर्थ को शब्द की अपेक्षा– होगी, (फलतः आगमजन्य बोध भी व्यवहित होगा)। शैव अर्थविमर्शन की शब्दविमर्शन से भिन्न सत्ता स्वीकार नहीं करते,[२१९] क्योंकि शब्द का स्वभाव है एक साथ स्व–पर विमर्शन, या अपना ग्रहण कराते हुए ही अर्थ का ग्रहण कराना।[२२०]

---

२१७. प्रत्यक्षागमयोः यत् प्रकाश्यं च विमृश्यं च, तत् यथाक्रमं प्रकाशविमर्शमुखेन अन्यापेक्षाशून्यम्। – तदेव, पृ. १०४; प्र.प्र.मी., पृ. ३००

२१८. प्रत्यक्षे हि प्रकाशद्वारेण विमर्शोऽस्ति अन्यत्र तु विपर्ययः। अनुमाने नान्तरीयकवस्त्वन्तरप्रकाशविमर्शापेक्षे अनुमेये प्रकाशविमर्शयोगः इति सापेक्षत्वात् दूरा इयं प्रमितिः प्रमेयात्। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. १०४

२१९. न च वाच्यमागमेऽपि शब्दविमर्शनपूर्वकम् अर्थविमर्शनमिति तत्रापि सापेक्षतादि भवेदिति। नहि शब्दविमर्शनादपरम् अर्थविमर्शनं किंचित् शब्दस्य स्वपरविमर्शात्मकत्वात्। – तदेव

२२०. दीपः स्वपरदीपनः, शब्दः स्वपरशब्दनात्मकः, ज्ञानं स्वपरप्रथारूपम्, विमर्शस्तु स्वपरविमर्शरूपो न पृथग् गण्यते। – तदेव, २, पृ. २४८

प्रकाश-विमर्श को लेकर प्रमाण की मूलभूत संरचना की दृष्टि से अब तक यह प्रश्न (जो हम अब उठाने जा रहे हैं) उठ जाना चाहिए था। प्रमाण और प्रमाणफल को एक मानने पर भी इनका प्रत्ययात्मक विश्लेषण प्रमाणांश को प्रकाशतया और प्रमांश को विमर्शतया परिघटित कर किया जाता है। प्रत्यक्ष और अनुमान में समस्या नहीं होती, क्योंकि दोनों स्थलों पर आभासांश प्रमाण और विमर्शांश फल है। परन्तु आगम में क्या स्थिति होगी, क्योंकि आगम का प्राथमिक स्वरूप ही विमर्शात्मक है। अतः आगम प्रमाण की आभासांशता, शब्दान्तर से प्रकाशरूपता, क्या होगी? ऐसा लगता है कि उत्पल और अभिनव को इसकी चेतना है[२२१] और वह प्रश्न उठाते से लगते हैं, पर इस स्थल पर न तो उत्तर देते हैं और न ही इस विचार को आगे बढ़ाते हैं। किन्तु प्रश्न का उत्तर तो होना ही चाहिए। अन्यत्र अभिनवगुप्त ने जो विचार किया है, उसके आधार पर प्रयास किया जा सकता है। आगम की विमर्शरूपता का प्रतिपादन उसके अंतरंग स्वभाव का प्रतिष्ठापन है, प्रमाण के रूप में उसका उपस्थापन नहीं है। प्रमाणतया और प्रमाणफलतया आगम में भी आभासांशता और विमर्शांशता का होना पारिभाषिक अनिवार्यता है। निम्नलिखित समीकरणों से हम दोनों को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

आभासांश = (शब्द का स्वरूप + शब्द की विषयरूपता) + प्रयोक्तृगतशब्दनात्मकपरामर्श

विमर्शांश = (शब्दस्वरूपपरामर्श + शब्दाद्यर्थपरामर्श) + प्रयोक्तृगतशब्दनात्मकपराम-र्शपरामर्शन[२२२]

इसका आधार और अर्थ आगे आगम-प्रमाण की शब्दनगत संरचना की मीमांसा से व्यक्त होगा।

पिछले पृष्ठों में आगम की शब्दनरूपता का कई प्रकार से उल्लेख हुआ है, पर शब्दन की दृष्टि से प्रमाण के भेदों का समीक्षण अभी शेष है। शैवों की बद्धमूल धारणा है कि

---

२२१. 'प्रत्यक्षस्येव च' इति आभासांशः प्रमाणं, विमर्शांशः फलमिति। – तदेव, पृ. १०६ 'प्रत्यक्ष की भांति आभासांश प्रमाण है, विमर्शाश फल है', इस भूमिका के साथ 'आगम तो शब्दरूप होने के कारण जड है, वहाँ ऐसी व्यवस्था कैसे होगी', कहकर वे इस प्रश्न की दिशा ही बदल देते हैं : ननु अनुमाने एतदस्तु ज्ञानात्मके, आगमस्तु शब्दरूपत्वात् जडः, तत्र कथमियं व्यवस्था इत्याशंक्य अस्मन्नये तस्य अपि अजाड्यम्।– तदेव

२२२. स्पष्टता के लिए पुनरुक्ति करना उचित होगा। इस समस्त पद में पहला 'परामर्श' प्रकाशांश, आभासांश या प्रमाणांश का द्योतक है, और बाद वाला 'परामर्शन' विमर्शांश या प्रमांश का।

सारा व्यवहार संकेतोपजीवी न होकर शब्दनोपजीवी होता है।[२२३] इस प्रसंग में अभिनव का कहना है कि प्रत्यक्ष से होने वाला शब्दन स्वगत अर्थात् प्रमातृगत या प्रयोक्तृगत होता है और यह प्रमाता के स्वसंवेदन का अंग होता है।[२२४] अनुमान का तात्पर्य है परार्थानुमान से।[२२५] परार्थानुमान में दो प्रकार की गति हो सकती है। एक, जब पंचावयवी (पञ्चवाक्यात्मक, जो शब्दन की ही विधा है) अनुमान से अनुमातृसंमत अन्य के द्वारा अनुमान कराया जाता है। बौद्ध भी इसे स्वीकार करते हैं, केवल न्याय का आकार पंचावयवी से त्र्यवयवी हो जाता है।[२२६] और दूसरे, जब शब्द का शब्द से अनुमान करते हैं। दोनों ही स्थितियों में शब्दन परगत अर्थात् अनुमातृगत होगा। दूसरी स्थिति, शब्द से शब्द का अनुमान, के विषय में अभिनव का कहना है कि अनुमान से होने वाला शब्दन परनिष्ठ है। शब्द का अनुमान करने में स्थूल शब्द, स्थूल दृष्टि से, वस्तुत: कार्यहेतु होता है, स्वभावहेतु नहीं। शब्दनावस्था की पहुंच वहीं तक है। देखा जाए तो बौद्ध भी शब्द की आनुमानिकता को स्वीकार करते ही हैं।[२२७]

आगम प्रमाण में परगत शब्दन और स्वगत शब्दन का अभेदन होता है। यहाँ प्रक्रिया देखने में थोड़ी जटिल है। शब्द प्रमाण में शब्दन है प्रमाता या प्रतिपत्ता द्वारा प्रयोक्ता के परामर्श का परामर्शन (शब्दन = प्रयोक्तृपरामर्श-परामर्शन)। परिणामत: शब्द-प्रमा में, आगमजन्य प्रमा में, प्रयोक्तृगतपरामर्श का स्वपरामर्श से अभेदन होता है। प्रयोक्ता का अर्थ है शब्द का प्रयोग करने वाला अर्थात् वक्ता, उपदेष्टा, गुरु, शास्त्र, आप्त, प्रसिद्धि या परम्परा। स्व है श्रोता, प्रमाता, प्रतिपत्ता, शिष्य। अभिनव का निरूपण यहाँ अत्यन्त जटिल,

---

२२३. संप्रति यह प्रत्यभिज्ञा के भाषादर्शन या वाग्दर्शन की समस्या है। यह अलग से अनुसंधान का विषय है। इस विषय में द्रष्टव्य 'वाक्' नामक अध्याय, का.शि.मू.अ., और 'अभिनवगुप्त का वाक्-तत्त्व विचार' नामक मीरा रस्तोगी का लेख, अभिनवा (प्रकाशनाधीन), सं. नवजीवन रस्तोगी

२२४. शब्दनं स्वगतं स्वसंवेदनात्। - ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २६२

२२५. लक्षणया स्वार्थानुमान में शब्दन स्वगत होगा यद्यपि इस तरह का कोई अभिमत दिखाई नहीं पड़ता।

२२६. बौद्ध न्याय में परार्थानुमान की परिभाषा ही त्रिरूप लिङ्ग के 'कथन' के शब्दावली में की गयी है : त्रिरूपलिंगाख्यानं परार्थमनुमानम्। (न्या.वि. ३/१); धर्मोत्तर की टीका है :.आख्यानं हि पुनस्तत्? वचनम्। वचनेन हि त्रिरूपं लिङ्गम् आख्यायते। धर्मोत्तर की न्या.वि. ३/२ पर टिप्पणी द्रष्टव्य है : औपचारिकं वचनम् अनुमानम्, न मुख्यम् इत्यर्थ:। [.....] तस्माल्लिङ्गस्य स्वरूपं च व्याख्येयम्, तत्प्रतिपादकश्च शब्द:। तत्र स्वरूपं स्वार्थानुमाने व्याख्यातम्। प्रतिपादकश्च शब्द: इह व्याख्येय:।

२२७. परगतं च अनुमानात्, तदनुमाने कर्तव्ये शब्द एव स्थूल: स्थूलदृष्ट्या कार्यहेतुर्वस्तुवृत्ते, न तु स्वभावहेतुरेव। शब्दनावस्था हि तत्पर्यन्ता। आनुमानिकत्वं तावत्परैरपि उपगतम्। - ई.प्र.वि.वि., २, पृ. २६२-२६३

सघन, संश्लिष्ट और बहुचरणात्मक है। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, उसके अनुसार उनका मन्तव्य इस प्रकार है। शब्द का क्षेत्र परस्पर व्यवहार का क्षेत्र है – दो के मध्य परस्पर संप्रेषण या संक्रान्ति का क्षेत्र है, जहाँ वक्तृगत परामर्श तथा श्रोतृगत परामर्श की एकात्मता होती है। प्रमाता का अहंविमर्श ही इस एकाकारता का अधिष्ठान होता है। व्यवहार और कुछ नहीं, 'मेरे परामर्श का यह परामर्श कर रहा है, इसके परामर्श का मैं' इसकी पारस्परिक व्याप्ति ही व्यवहार है।[२२८] संदर्भ है कि शब्द कैसे शब्दनात्मक होता हुआ व्यवहार को अनुप्राणित करता है। अभिनव कहते हैं कि शब्द का यह व्यापार ठीक वैसा ही होता है, जैसा वह शब्दप्रमाण के रूप में करता (यही कारण है अभिनव के इस वक्तव्य के शब्दप्रमाण के संदर्भ में अध्याहार का)। अनुमान व्याप्तिगत–स्मरण जैसे संवेदनगत विघ्नों के अभाव में अविगीतता के कारण शब्द का आचरण शब्दप्रमाणतया ही होता है। सबसे पहले शब्द अपने रूप की तरह, फिर नीलादि विषय की तरह और फिर प्रयोक्ता में होने वाले शब्दनात्मक परामर्श को भी अपने परामर्श रूप से ही ग्रहण करता हुआ दूसरे(अर्थात् श्रोता) की शब्दस्वरूप की परामर्शमयता की भांति और फिर उस नीलादि–अर्थ की परामर्शमयता की ही तरह (श्रोता में) उस प्रयोक्ता के परामर्श की परामर्शन–मयता को भी उत्पन्न करता है।[२२९]

उपसंहार

अब तक के विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि त्रिक दार्शनिकों की प्रमाण–मीमांसा में आगम का असामान्य महत्त्व है और उनकी दृष्टि तलस्पर्शिनी रही है। जहाँ प्रत्यभिज्ञान ज्ञान की सामान्यीकृत प्रकारता को उपलक्षित करता है, वहाँ आगम प्रमाण–चिन्तन की आधार–भूमि को। फिर भी तीनों प्रमाणों की विशिष्ट भूमिकाएँ हैं और सबसे बड़ी बात है कि सारे प्रमाण परस्पर एक दूसरे को अनुगृहीत करते हैं।[२३०] हम विस्तार में न जाकर कतिपय संक्षिप्त संकेतों के साथ अपनी बात को समाप्त करेंगे।

यद्यपि प्रमाणमात्र वस्तुस्वरूप का ही व्यवस्थापन करता है, फिर भी अनुभव रूप साक्षात्कार अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्ष में जो भासित होती है वही वस्तुतः वस्तु है। ज्ञान

२२८. मदीयं परामर्शमयं परामृशति, एतदीयं च अहमित्येष एव परस्परव्याप्तिलक्षणो व्यवहारः। – तदेव, २, पृ. २६३

२२९. परमार्थतस्तु व्याप्तिस्मरणादिसंवेदनविघ्नाभावात् शब्दप्रमाणरूपतयैव शब्दः स्वरूपमिव नीलादिमिव च प्रयोक्तृगतं शब्दनात्मकं परामर्शमपि स्वपरामर्शाभेदेनैव परामृशन्, परस्य तत्स्वरूपपरामर्शमयतामिव च तत्प्रयोक्तृपरामर्शपरामर्शनमयतामपि विधत्ते। – तदेव

२३०. परस्परानुग्रहतन्त्रत्वं प्रमाणानाम्। – तदेव, ३, पृ. ८३

की सारी विधाओं में उसी का भिन्न–भिन्न रूप से अनुसंधान होता है। यद्यपि स्मृति, विकल्प आदि में भी वस्तु का अनुप्रवेश अनिवार्य है, तथापि अपने जीवन के लिए प्रत्यक्ष पर आश्रित होने के नाते उन ज्ञानों में वस्तु–स्वरूप को लेकर विचार नहीं होता क्योंकि वस्तु अपने स्वरूप में वहाँ स्फुरित नहीं होती। जहाँ तक अनुमान और आगम जन्य ज्ञानों का प्रश्न है उनमें भी अनुभवनिर्णीत वस्तु का ही भासन होता है, केवल प्रमाणगत योजनांश को लेकर भेद होता है।[२३१]

अनुमान प्रत्यक्ष और आगम दोनों पर आश्रित ज्ञान–साधन है। जहाँ तक व्याप्ति–ग्रहण का प्रश्न है, प्रत्यक्ष की उपजीव्यता सभी को मान्य है। परन्तु अनुमान आगम पर भी आश्रित है, इस विषय में शैव अपने को पतंजलि के साथ खड़ा पाते हैं। अनुमान पर विचार करते समय हम इस पर विस्तार से विचार कर आए हैं। हेतु–निर्धारण में, योगि–निर्माणता के अभाव के निश्चय में हमारा एकमात्र अवलम्बन लोकप्रसिद्धि है।[२३२] सच पूछा जाए तो शैवों में व्याप्ति–निर्णय भी नियति के क्षेत्र का निर्णय किए बिना संभव नहीं है, और उसके लिए प्रसिद्धि की आवश्यकता पड़ती है।[२३३]

ऐसा नहीं है कि प्रत्यक्ष और आगम सर्वदा आगम का सहारा लेते हों, कभी–कभी वे आगम को भी सहारा देते हैं। उदाहरण के लिए किसी चित्र में यदि विशेषता और अतिशय को ढूँढना हो और उसका विषय दृष्ट हो तो ऐसी स्थिति में दृष्ट विषय वाले होने के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान, (अदृष्ट विषय वाले) आगम को अनुगृहीत करते हैं।[२३४] ठीक इसके विपरीत ऐसा विषय, जो प्रत्यक्ष से गृहीत हुआ है, अपने अतिशयान्वेषण में शिष्ट जनों के द्वारा मान्य आगम रूप प्रसिद्धि का आश्रय लेता है जैसे 'यह वह गाय है जिसका दूध स्वास्थ्यकारक और पवित्र है', 'यह वह गर्दभी है जिसका दूध आग जैसा दाहक और

---

२३१. साक्षात्कारे अनुभवात्मनि यत् प्रतिभासते तदेव वस्तु इति [.....] अनुभववासनोपजीवितत्वात् स्मृतेर्मनोराज्यादिविकल्पानां च न तद्विचार इति। [.....] संभावनानुमानागमजनितेष्वपि ज्ञानेषु तदेव भासते, केवलं योजनामात्रमधिकम्। – तदेव, पृ. ९२–९३

२३२. यदि प्रमाणान्तरेण लोकप्रसिद्ध्या योगिनिर्माणत्वास्याभावो निश्चितो भवति। – ई.प्र.वि., २, पृ. १७६

२३३. ननु एव धूमाभासार्थी किमुपादत्ताम्। उक्तमत्र 'यत्रैव आभासांशे नियतिशक्त्या कार्यकारणभावो गृहीतः तत्रैव उपादानं तदर्थिनः' (आकर अज्ञात) वक्ष्यते च एतत् 'योगिनिर्माणताभावे' इत्यत्र। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १७२

२३४. एवमियता प्रत्यक्षानुमानयोर्दृष्टविषयतया सातिशयान्वेषणीयं सत्यादौ चित्रादौ दृष्टविषयतायाम् आगममपि अनुगृहीतुमस्ति सामर्थ्यमिति दर्शयता परस्परानुग्रहतन्त्रत्वं प्रमाणानामुक्तम्। – तदेव, ३, पृ. ८३

अपवित्र है'।[२३५] इसलिए जहाँ तक अर्थार्थी या व्यक्ति की प्रवृत्ति का प्रश्न है, वह प्रमाणसमूह से ही होती है। इसीलिए समस्त प्रमाण उपयोगी हैं।[२३६]

---

२३५. तथाहि प्रत्यक्षदृष्टमपि अर्थक्रियासु शिष्टैर्योज्यमानाम् आगमलक्षणां प्रसिद्धिमपेक्षते एव, इयं सा गौर्यस्याः क्षीरं पथ्यं पवित्रं च, इयं सा गर्दभी यस्या पयोऽग्रिसादनम् अपवित्रं चेति। – तदेव

२३६. तत एव प्रमाणसमूहादेव प्रवृत्तिरिति वक्ष्यते 'सा तु देशादिका' (२/३/९) इति। – ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ८३

परिशिष्ट

Manas and Jñānendriyas in Kashmir Śaivism

The senses occupy the centrestage in our existential space. In fact what we call transmigration, *saṁsāra*, is but the incessant flow of the present and future connection with body, sense-instruments and sense-objects.[1] In breaking this nexus lies our achievement. That is precisely the starting point of any intellectual enquiry in India.

To begin. The Kashmir Śaivist view of our world consists of thirtysix categories, twentyfour of which (from Prakṛti to Earth) are broadly adopted from Sāṁkhya with systemal variations constituting impure or mayic or empirical world. Above Prakṛti lies *Māyā*, the principal power of obscuration and determination with its five part-revealing powers called *pañca kañcukas*, "sheaths", constitutive of the limited subjectivity of the individual subject. Beyond lie the five categories from Śiva to *Śuddhā Vidyā* in descending order forming the pure order of creation. The ultimate reality, called *Parama Śiva* or *Maheśvara*, is *prakāśavimarśamaya*, "unity of self-luminosity and self-consciousness", the principle of self-unfolding and self-enfolding I-consciousness. What is important for us to note, as pointed out by Maheśvarānanda, a great savant of Kashmir Śaivism from Chola, that all the *tattvas*, "categories," from Śiva to Earth represent stages of gradual coagulation (*styānibhāva*) of the light of consciousness.[2] Deriving seed idea from Somānanda,[3] the

१. तनुकरणविषयसंबंध एव च वर्तमानो भविष्यंश्च इत्यनवरतं प्रबन्धतो वर्तमानः संसरणमुच्यते। - Īśvarapratyabhijñā-Vimarśinī (IPV) of Abhinavagupta, together with *Bhāskarī* of Bhāskarakaṇtha (Bhās) under the title, *Bhāskarī*, eds. KAS Iyer and KC Pandey, Allahabad, 1950, II, p. 255

२. शिवात्मा खलु प्रकाशः शक्तिशिवादिपरिपाट्यानुसारेण प्रस्तुतभूतपञ्चकपर्यन्तं स्त्यानीभवति। - Mahārthāmañjarī (MM) with auto commentary *Parimala* (MMP), ed. BV Dviveda, Varanasi, 1992, p. 64

3. [.....] इत्यादिषट्त्रिंशत्तत्त्वरूपताम्।
बिभ्रद् बिभर्ति रूपाणि तावतो व्यवहारतः।।
यावद् स्थूलं जडाभासं संहतं पार्थिवं घनम्। Śiva-dṛṣṭi (Ś. Dr.) of Somānanda with *Vṛtti* of Utpaladeva, MS Kaul, Srinagar, 1934, 1/32-33

greatgrand teacher of Abhinavagupta, Maheśvarānanda understands by "coagulation" solidification or concretization in the form of growing predominance of objectivity consequent upon corresponding subjugation of subjectivity.[4] Thus *inter se* distinction of all the categories consists in successively rising quantum of coagulation.[5] Certain conclusions may be logically deduced from such a formulation. First, in *Pṛthvī* ("earth"), the grossest category, figure all the preceding thirtyfive categories from Śiva to *Jala* ("water") in the form of abiding causal residuam (*kāraṇavāsanānuvṛttidvārā*).[6] Second, Śiva, the first ever emanation, contains all the succeeding thirtyfive categories from *Pṛthvī* to *Śakti* exactly as effects exist in cause, the way we find in the *satkārya* doctrine.[7] Third, in respect of each of the intervening categories both these processes operate and as a result thereof respective categories, both above and below, mark their presence.[8] Fourth, such a thesis supports and in return is reinforced by the Sāṁkhya dictum, religiously adopted by the Kashmir Śaivist, "everything contains all things" (*sarvaṁ sarvātmakam*).[9] Thus each category contains all the thirtysix categories.[10] This is important because the *Jñānendriyas* and *Manas*, belonging as they do to the intermediary realm of categories, are in themselves the graded manifestation of self-awareness geared to participate fully in the psychological, sociological and soteriological dispensation of the system.

According to Utpaladeva, the first proponent of the Pratyabhijña system, the objective world, the world we are exposed to in our daily life, is an evolute of *Prakṛti* or *Pradhāna* which is the root cause and is an undifferentiated unity of all that is object of knowledge. The cognizable reality consists of twentythree types divided into two classes of means and

---

4. वेदितृस्वभावन्यग्भावाधीनवेद्यतोत्कर्षात्मकं काठिन्यमनुभवति। MMP, p. 64
5. केवलं शिवात् स्वच्छस्वभावत्वात् स्त्यानताधिक्यमेतेषां भेदः। ibid.
6. ततश्च पृथिव्यामनाश्रितशिवप्रभृतीनि पञ्चत्रिंशदपि तत्त्वानि कारणवासनानुवृत्तिद्वारा परिस्फुरन्ति। – ibid., p. 65
7. इत्यनया भङ्ग्या तत्र शिवतत्त्वे पृथिव्यादीनि सत्कार्यवादमर्यादया अवतिष्ठन्ते। – ibid.
8. एवं प्रकृतिपुरुषादिषु मध्यवर्तिष्वपि उक्तोभयप्रक्रियया सर्वाण्यपि उपरितनान्यधस्तानि च तत्त्वानि संमिलन्ति। ibid.
9. इति सर्वं सर्वात्मकमित्यर्थनिष्कर्षः स्यात्। ibid.
10. Cp. एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता। Tantrāloka-viveka(TAV) of Jayartha, ed. R.C. Dwivedi and N.Rastogi, Delhi, 1986, vol.2, p. 408.

effect. The means, comprising the external and internal, are thirteen in number and the group of effects is tenfold owing to its division into subtle and gross.[11] The subtle effects stand for what is popularly known as *tanmātrās* and the gross for five elements (*pañca mahābhūtas*). Both of them are universals where former is cause-universal as clay (*mṛt*) in jar and may be likened to *para-sāmānya*, the latter is similarity-universal like jarness in a jar and may be likened to *apara-sāmānya*. Abhinavagupta in his *Vivṛtivimarśinī* pointedly underscores the notion of subtlity and grossness. The subtle does not mean atomic in nature, but partless and pervasive as compared to the effect-class. The grossness is just the opposite.[12] This criterion holds good elsewhere also viś-a-vis inter se relationship of the categories. Taking the perspectival overview of the role played by each constituent in whole psychological and epistemological process Abhinavagupta sums up "According to this system, the Abhāsas such as earth etc mixing up with one another, assume the form of a definite object, such as jar etc. They rest (*viśrāmayanti*) in the subject, when they are approached by organs of action, perceived by perceptive senses, desired by *Manas*, taken as "this" by *Ahaṁkāra*, ascertained by Buddhi, differentiated by (Aśuddha) Vidyā and affected by Kalā etc. This is the implication."[13] Virtually reproducing this statement in his Vivṛti-vimarśinī with a significant addition he overturns the basic stance. He adds "Even though the objects achieve a sort of identity with the empirical subject through rest in him (as per the process outlined above) they, finally get reposed in the Real Self along the gradual melting away of the self-differentiations."[14]

11. त्रयो विंशतिधा मेयं यत्कार्यकरणात्मकम्। तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम्।।
त्रयोदशविधा चात्र बाह्यान्तःकरणावली। कार्यवर्गश्च दशधा स्थूलसूक्ष्मत्वभेदतः।।
– Īśvarapratyabhijñākārikā(IPK) of Utpaladeva published wirh IPV and Bhās, 3/1/10-11

12. सूक्ष्मम् इति न परमाणुरूपम् अपितु विभागरहितं परिपेलवात्मकं कार्यवर्गापेक्षया व्यापकरूपम्। स्थूलता अपि एतद्विपरीता मन्तव्या। – Īśvarapratyabhijñā-vivṛti-vimarśinī (IPVV) of Abhinavagupta, ed. MS Kaul, Srinagar, Vol.3, 1943, p.296, also see p. 297

13. अत्र पृथिव्याद्याभासा एव मिश्रीभूय घटादिस्वलक्षणीभूताः, कर्मेन्द्रियैरुपसर्पिताः, बुद्धीन्द्रियैरालोचिताः, अन्तःकरणेन संकल्पिताभिमतनिश्चितरूपाः, विद्यया विवेचिताः, कलादिभिरनुरञ्जिताः, प्रमातरि विश्राम्यन्ति,इति तात्पर्यम्। IPV, II, p.242; translation Pandey's, IPV, K.C. Pandey, Delhi, 1986, Vol.3, p. 200.

14. ...मायाप्रमातरि विश्रान्तिद्वारेण अभिन्ना अपि सन्तो 'यद्यप्यर्थस्थितिः' (अजडप्रमातृसिद्धि २०) इति न्यायेन सत्यप्रमातरि एव भेदविगलनतारतम्येन विगलितस्वकभेदाः प्रकाशविमर्शपरमार्थतया एव विश्राम्यन्ति इति। *IPVV, III,* p. 304

As noted above, the two classes of *karaṇa* and *kārya* share one thing in common, that is, their cognizability. Even their genesis, Pradhāna, is also an object of yogins and super-empirical subjects. Through recourse to inferential reasoning they fall within the knowability frame-work of the worldly beings. In fact, the five *kañcukas* e.g. *Kalā, Vidyā, Kāla, Rāga* and *Niyati*, are really objects of knowledge but they are not so treated since they emerge as powers of the limited subject. Even the individual subject in the system is strictly speaking a *meya*, an object, but is projected as a subject, *pramātā*, since its objectivity is concealed in the context of our worldly transaction.[15] Another thing worth remembering is that these thirteen means and ten objects are products of *Prakṛti* and as such they are the effects of pleasure, pain and stupor because they are constitutive of our world of shared experiences essentially in the nature of pleasure, pain and stupor *(sukha, duḥkha and moha)*.[16] Another connected point that Abhinavagupta makes in his Tantrasāra is to draw attention to the twin facets of all the categories (*tattva*) from *Kalā* down to *Pṛthvī* which obviously include twentythree categories comprising two groups of the instruments and effects.[17] These two facets are their Śakti-character and tattva- character. About the former we will talk later. A category represents essential nature of a thing, called universal, shining undivided in various groups of things and is responsible for their subsumption into one class. Vertically it may be pervasive as a cause or horizontally by providing common property. Thus each *indriya*, whether cognitive or motor, is a sort of universal consisting of a definitive modality of reception or action shared by all the members of its class and represents a kind of isomorphism. In vertical pervasion they exhibit an element of subtle causality. In Śaiva scheme of things there are three parallel but homologous layers. The first layer consists of *jñātṛtva* and *kartṛtva* (the absolute subjectivity and agency) which evolves into the second layer of *Aśuddha Vidyā* and *Kalā* (limited powers of knowerhood and agency of the individual subject) which further evolves into the third layer of *Jñānendriyas* and *karmendriyas* (cognitive and motor faculties). Against

---

15. Vide *IPV, II, p. 240*

16. इह सुखदुःखमोहपरिणामरूपमेतत्करणत्रयोदशकं कार्यदशकं च सुखादिस्वभावत्वेनानुभूयते इति सुखदुःखमोहाः करणकार्यवर्गतादात्म्यवृत्तयः। *IPV, II*, p. 288 on IPK 4/1/5

17. एवं कलादितत्त्वानां धरान्तानामपि द्वैरूप्यम् निरूप्यम्। *Tantrasāra* (TS), Abhinavagupta, Hindi trans., H.N. Chakravaty, Varanasi, 1986, p. 75

this linear progression, the latter two may be viewed as constituting two corresponding horizontal structures in the sense that *Vidyā* and *Kalā*, on the subjective side, are the counterparts of *Jñānendriyas* and *karmendriyas* on the objective side.[18]

Jñānendriyas (faculties of sensing), and *Manas* have been discussed under the broad category of *karaṇa* which includes *Buddhi*, *Ahaṁkāra* and *Karmendriyas* as well. Although Kashmir Śaivists are fully aware of the role of *karaṇa* as a facilitator of the subjective functioning – *pramātuḥ pūrvaṁ karaṇopayogaḥ*,[19] apparently no serious attempt seems to have been made to define the term.[20] Generally it stands for the most congenial (*sādhakatama* or *ekasādhana*)[21] or the sole instrument and accords with the meaning assigned to it by the science of grammar.[22] It is only from this angle that a guru (spiritual guide) is described as *karaṇa* since he is the most instrumental to the dispensing of true knowledge.[23] In the epistemic context this instrumentality is defined as *pramāṇa*, "means or source of knowing"[24] and is extended to include *Jñānendriyas*[25] as well as two internal means i.e., *Manas* and *Buddhi* whose common

18. Incidentaly an allusion may be made to a cosmogonical parallelism. The trans-māyic subjective entities like Rudras and Kṣetrajñas are deemed to occupy similar position as that occupied by senses in an organism. Just as an individual subject knows and acts upon the objective data provided by the manifold sense-faculties, the supreme godhead too knows and acts upon the cosmic objectivity grasped through innumerable Rudras and Kṣetrajñas who are like sense-organs: विचित्रबुद्धिकर्मेन्द्रियविषये हि यथा ज्ञातृत्वकर्तृत्वे एकस्यैवात्मन: तथेन्द्रियस्थानीयरुद्रक्षेत्रज्ञसहस्र-विषयस्य भावराशेर्यज्ज्ञानं करणं च तदेकत्र चिदात्मनि। *IPV, II, p.* 282. Comments Bhāskara : विचित्रबुद्धिकर्मेन्द्रियविषये साध्यत्वेन विचित्रबुद्धिकर्मेन्द्रियविषयभूते, [.....] आत्मन: देहावच्छिन्नात्मतत्त्वस्य। *Bhās, II,* p. 282

19. IPV, II, p. 240

20. करणस्य छिदिक्रियायां साधकतमस्य वास्यादे:। *TAV, III, p.*701;cf. also करणीकुरुते *(TA 9/244)*; साधनतां नयेत् *(TAV, IV, p.*1831); करणीकुरुते*(TA 9/245)* साधकतमतां नयेदित्यर्थ: *(TAV, IV,* p. 1832)

21. अहंकारस्तु करणमभिमानैकसाधन:। *TA 4/161*

22. तृतीयार्थ: करणत्वम्। *TAV, IV, p. 1840 on TA 9/256*

23. करणस्य गुर्वादि: तर्कज्ञानात्मिकायां मितौ [.....] साधकतमत्वम्। *TAV, III,* p. 703

24. प्रमाणविषयतां प्राप्ते। *TAV, III,* p. 743 on *TA 4/125:* मेये करणगोचरे।

25. बुद्धीन्द्रियात्मकरणलक्षणे प्रमाणे। *ibid.* p. 751 on TA 4/126

function is to admeasure or size up the object.[26] In the substantive-centric context *karaṇa* is a motivating or prompting factor,[27] but in the process-centric area it is the sole or most conducive causal factor.

It appears that by appropriating the grammarian's theory the Kashmir Śaivist gives an edge to his notion of *karaṇa*. *Karaṇa* as *sādhana* helps in the accomplishment of an action. The chief "doer" of an action is the agent, but all other *kārakas* are also "do-ers" in the sense that they accomplish part of the action and thereby they acquire name of Karaṇa etc.[28] The *karaṇa* is the most direct and effective helper in accomplishing the main action undertaken or contemplated by the agent. Besides *Karaṇa* is essentially of the nature of power, because whatever helps another and is dependent on it is power.[29] Going by what the word conveys, the grammarian takes the things and their powers as distinct from one another.

Taking cue and moving a step ahead, Abhinavagupta holds, that the power is called *karaṇa* when it fringes upon agency and is possessed with the essence of both the object as well as the agent.[30] Among the three, *kartā* is he who prompts (*preraka*), *karaṇa* is what is prompted (*prerya)* and *karma* is the object of prompting (*preraṇaviṣaya*). If *karaṇa* were other than *kartā,* then even *karma* may be mistaken as *karaṇa* because it is semantically confusing to distinguish one that prompted from

26. परिच्छेदकारीणि द्वादशापि करणानि। *ibid.* p. 791

27. Bhāskara defines *karaṇa as preraṇopāyaḥ* (करणं प्रेरणोपाय: Bhās., II, p. 223) on **अथ तदधिष्ठातृद्वयगतं करणं विद्यातत्त्वमाह।** (IPV, II, 222-23)

28. निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके।
व्यापारभेदापेक्षायां करणत्वादिसंभव:।। Vākyapadīya (Vāk), of Bhartṛhari with Helārāja's Commentary, Kāṇḍa III, pt. I, ed. KAS lyer, Poona, 1963, Sādhana Samuddeśa 18, p. 246

29. इति परोपकारि परतन्त्रं सर्वशक्तिलक्षणमनुपतति। – *ibid.* p. 242. For presentation of the grammarian's view point the author is indebted to lyer's Bhartṛhari, Poona, 1967, pp. 290-294.

30. With reference to the "binding" action whose object is the individual subject and agent is the universal subject (Śiva), Śakti emerges as *karaṇa* bordering on and assimilating both and yet depending more on the agent : तत्र बन्धनक्रियायां ना नरो बध्य:, कर्मकर्त्रविशमयी शक्तिश्च कर्तृतां स्पृशत्करणम्, शिवश्च कर्ता। *TAV,* V, p. 2308. It is declared time and again that instrumentality embraced by the instruments is never devoid of agential essence : करणानि अजहत्कर्तृभावां करणतामधिशेरते इत्यर्थ:। *TAV,* VII, p. 3434

the one which is the object of prompting.[31] An action is never without an instrument which must be different from the action. Now if the instrument is conceived to be different from the agent, it will necessarily lead to infinite regress, because the instrument being *prerya* will require someone else for prompting and the latter for doing the same, someone else. The Śaivist seeks a way out within the agential freedom. The agent's personality has two aspects – one relating to the object (of action) and the other to the agent. Let us figure out what happens when one hears sound through one's sense or faculty of audition. Here the inidividual subject is the agent of hearing-action, sound is the object and auditory sense is the instrument. What happens is that the agent embarks upon self-differentiation and renders object-touching part of the self that is the sense organ for hearing (*śrotra*) which has affinity with sound into the instrument i.e., cognitive faculty, of hearing (*jñānendriya*).[32] This process of self-instrumentalization is further extended to the external instruments where the agent with the aid of instrumentalized sensory and motor faculties identifies the walkman or axe etc. (which are quite different from agent) with his own self and instrumentalizes them also in the sense that they render exclusive service towards completion of action.[33]

As we saw earlier, all the senses of cognition and those of motor activity are respective expansions of *Aśuddha Vidyā* and *Kalā*, the empirical subject's powers of limited knowledge and action.[34] The latter two are considered general instruments (*sāmānyakaraṇa*) in respect of knowledge and action respectively, whereas *Buddhīndriyas* and *Karmendriyas* are particularized versions of *Vidyā* and *Kalā*.[35] The primary

31. करणत्वमतो युक्तं कर्त्रंशस्पृक्त्वयोगतः।।
कर्तुर्विभिन्नं करणं प्रेर्यत्वात् करणं कुतः। *TA 9/242-243*

32. करणान्तरवाञ्छायां भवेत्तत्रानवस्थितिः।।
तस्मात् स्वातन्त्र्ययोगेन कर्ता स्वं भेदयन् वपुः।
कर्मांशस्पर्शिनं स्वांशं करणीकुरुते स्वयम्।। *ibid.* 9/243-244

33. करणीकृतस्वांशतन्मयीभावनावशात्।
करणीकुरुतेऽत्यन्तव्यतिरिक्तं कुठारवत्।। *ibid.* 9/245

34. विद्याकलयोः प्रपञ्चभूतौ यौ क्रमेण बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियवर्गौ। *IPV, II,* p. 263

35. तेनाशुद्धैव विद्यास्य सामान्यं करणं पुरा।
ज्ञप्तौ, कृतौ तु सामान्यं कला करणमुच्यते।। *TA 7/246.* Jayaratha adds, पुरेति। पूर्वम् विद्याकलयोरेव हि अनन्तरं बुद्धिकर्मेन्द्रियाद्यात्मा विशेषवपुःप्रसरः। *TAV,* IV p. 1833

instrumentality of *Vidyā* and *Kalā* is amply evinced when a blind person has a generic apprehension of colour or form even though he is devoid of sense of vision and a lame that of movement, even though he is without his motor organs of locomotion. But it does not impair the role of *Jñānendriyas* and *Karmendriyas* because the blind and the lame, thereby, do not acquire definitive capacity to approach the external object, hence external senses *(bahiṣkaraṇa)* are the special or particular instruments.[36]

Kashmir Śaivism subscribes to the commonly accepted division of instruments into two sets of inner psychic apparatus and external faculties, popularly known as *antaḥkaraṇa* and *bahiṣkaraṇa*. As the very name implies, *antaḥkaraṇa* is threefold[37] - *buddhi, ahaṁkāra* and *manas*. The general ascertainment of the object is *Buddhi*. *Ahaṁkāra* is the attribution of ego-sense to the knower and the known. *Manas* is the cause of determinate resolution or will (*saṁkalpana*[38]) etc. The use of *ādi* ("etc." in *saṁkalpādi*) is somewhat cryptic. Abhinavagupta nowhere explains it. But he did intend to include *vikalpana* also as a mental function becomes clear, if we go by what Maheśvarānanda says. As in the *Sāṁkhya-Kārikā,* Abhinavagupta too does not distinguish between the function (*vṛtti*) and its functionary in the case of *Buddhi* and *Ahaṁkāra*, though he does see such a distinction in the case of Manas. But it will appear too naive to take it that way, because he underscores the causal relationship while describing the whole process to which we have referred to at the outset.[39] Maheśvarānanda in his presentation sets all doubts aside treating them as being instrumental to their designated function.[40]

Abhinavagupta tries to look into the basis of designating one set as

---

36. अतएव विहीनेऽपि बुद्धिकर्मेन्द्रियैः क्वचित्।
 अन्धे पङ्गौ रूपगतिप्रकाशो न भासते।। *TA 9/251.*
 Comments Jayaratha : अनुल्लिखितरूपादिप्रतिभासत्वे हि एषां बाह्यमर्थं प्रति प्रवृत्तिरेव न स्यात्। *TAV,* IV, p. 1836
37. अंतःकरणं त्रिधा। – *IPV, II, p. 241*
38. बुद्धिरध्यवसायसामान्यमात्ररूपा, ग्राह्यग्राहकाभिमानरूपोऽहंकारः, संकल्पादिकारणं मनः। *ibid.;* also vide note 13 : अंतःकरणेन संकल्पाभिमतनिश्चितरूपाः।
39. *Ibid.*
40. तत्र ममेदं न ममेदम् इत्यभिमानसाधनम् अहङ्कारः, अध्यवसायनिमित्तं बुद्धिः, संकल्पविकल्पहेतुर्मन इति प्रत्येकं लक्षणम्। *MMP, p. 61*

antaḥkaraṇa and other as *bahiṣkaraṇa* because all organs could be considered external because of their māyic origin. They could equally well be considered internal because of their serving the cause of the limited subject.[41] According to Abhinavagupta, Utpaladeva considers that all the three, Manas, Ahaṁkāra and Buddhi, need be viewed as causal to the conceptualization of *antaḥkaraṇa*,[42] because their operations are internal. An action requires instrument, and an internal action for that matter must require an internal instrument. *Manas, Buddhi* and *Ahaṁkāra* as constituting *antaḥkaraṇa* is in answer to that.[43]

These internal functions cannot be discharged by external senses. Because in that case the external senses which, though external, have to turn inwards in order to facilitate occasioning of knowledge, resolution and ego-proclivity (*bodha, eṣaṇa and saṁrambha*) which fall within the exclusive domain of the internal senses.[44] The problem is that the external senses apprehend (*ālocanā*) their respective objects separately, whereas the internal organs function collectively. How can the same set of senses (that is external) execute two different operations at the same point of time? Since in actual experience the two functions are synchronous the possibility of external donning the role of internal is to be ruled out.[45]

Internality being common ingredient, one is tempted to ask, why not think of just one *antaḥkaraṇa* instead of three. According to Abhinavagupta this is not feasible because of their essentially diverse

---

41. ननु सर्वाणि करणानि मायाकृतभेदानुसारेण बहिरिति युक्तम्, मायाप्रमात्रुरुपयोगादन्तरङ्गत्वेन वा अन्तरिति इति चोद्यमाशङ्क्य अन्तर्बहिष्करणताविभागं घटयितुं [.....]। – *IPVV,* III, p. 301
42. ''सर्व'' इत्यादि त्रितयेऽपि अन्त:करणतायां हेतुत्वेन योज्यम्। *ibid*
43. क्रियात्वात् करणेन भाव्यम् [.....] तस्मादन्त:कृतिसाधकत्वात् तदन्यदेव अन्त:करणाख्यमित्युक्तं . 'बुद्ध्यहंकृन्मन' इति। – *TAV,* IV, p. 1824
44. The vocabulary of Abhinavagupta in describing the inner functions of *antaḥkaraṇa* is reminiscent of the great Śaiva Siddaāntin Saddyoyoti :''[.....] **इच्छासंरम्भबोध-वृत्त्यन्यत् अन्त:करणं त्रिविधम्।**'' *Tattva-saṁgraha 6.7, Tattva-saṁgraha (Tsam.)* of Sadyojyoti with comm. by Aghoraśivācārya; published with other texts under the title Aṣṭaprakaraṇa (AP), ed. B.V. Dviveda, Varanasi, 1988, p. 118.
45. ननु बहिष्करणत्वेऽपि श्रोत्रादीन्येव प्रत्यावृत्त्यान्तर्मुखानि सन्ति, संभूय बोधादीनां साधनत्वं प्रतिपद्यन्ते इति किमन्त:करणान्तरोपदेशनेन। [.....] एषां हि बहिरसंहतानां शब्दाद्यालोचनमिष्टम् अंतर्मुखतायां च संहतता बोधादिकमिति कथमेतत् एकस्मिन्नेव काले भवेत्, दृश्यते च युगपदेतत् इति न युक्तमुक्तं 'बाह्येन्द्रियाणि एव अंत:र्मुखानि सन्ति संभूय बोधादे: साधनम्।' – *TAV,* IV, p. 1824

functionality despite the fact that they all are directed to one single object.[46] Abhinavagupta is quite emphatic in pointing out that they are structured to discharge three exclusive functions and demonstrates that the three roots i.e. *kḷp* "to bring about/to formulate", *man* "to be proud/ to think", *syati* "to ascertain/to determine" from which the three terms have been derived respectively denote three different meanings e.g. will, ego-proclivity and understanding, underlining the triple character of inner operation and as such vouchsafe for the three modes of instrumentality.[47] This Abhinavan position on internality is at variance with that of Sāṁkhya stalwarts like Vācaspati Misra for whom internality arises from their residing or being located within the body.[48] One may not miss the patent physio-biological undertone of the Sāṁkhya position. Abhinavagupta also calls in question the followers of Vindhyavāsin who consider *Ahaṁkāra* and *Buddhi* only as cause (*kāraṇa*) and not as instrument (*karaṇa*). Contrary to this, Kashmir Śaivism subscribes to the twofold character of *antaḥkaraṇa as karaṇa* and *kāraṇa* both. However, it is owing to the functional distinction *(bhinnavṛttivaśāt)* they are treated as three, otherwise they are in essence one.[49] *Antaḥkaraṇa*, it may be posited, is a sort of composite unity whose separate aspects operate cooperatively in order to bring about a single effect.[50] Hence in carving out the precise role of the internal organs as part of the psycho-epistemic process Abhinava invariably uses the term *antaḥkaraṇa* in singular

46. अवसायोऽभिमानश्च कल्पना चेति न क्रिया।
एकरूपा ततस्त्रित्वं युक्तमन्तःकृतौ स्फुटम्।। *TA 9/238*

47. अन्यव्यवच्छेदेन अभिमतस्य अवसायो हि एषामेकविषयत्वेऽपि विभिन्नं कार्यं भवेदिति भावः। तदुक्तम्
'क्लपिर्मतिः स्यतिश्चैव जाता भिन्नार्थवाचकाः।
इच्छासंरम्भबोधार्थास्तेनान्तःकरणं त्रिधा। *TAV,* IV, p. 1826

48. शरीराभ्यन्तरवर्तित्वादन्तःकरणम्। – *Tattvakaumudī on Sāṁkhyā-kārikā 33 (Sāṁkhyā-tattva-kaumudī) (STK), ed.* R. S. Bhattacharya, Delhi, 1976, p. 222

49. 'अन्ये' इति विन्ध्यवासिप्रभृतयः। ते हि अहंकारबुद्ध्योः कारणस्कन्धतामेवाहुः, न करणस्कन्धताम्। स्वदर्शनस्य युक्ततामाह – इह तु द्वित्वेन उक्तमन्तःकरणं भिन्नवृत्तिवशात् योजना यतस्त्रिधा एव, अन्यथा हि एकमेव तत्त्वमिति उक्तम्। अतएव उक्तमागमे
''मनो गर्वस्तथा बुद्धिर्द्वारमेतत् सदात्मनः।
भूतये भूतनाथेन निर्मितं करणं त्रिधा।।'' (मतङ्गतन्त्र १८/३३) – *IPVV, III,* pp. 301-302
Here Abhinavagupta seems to have been inspired by Śaiva Siddhānta.

50. We can discover a veiled imprint of KS theory of causation advocating *sāmagrīvāda,* but that is not the issue at the moment.

number.[51] As a part of *prādhānika tattvasarga*[52] ("order of creation rooted in *Prakṛti* ") the order of emanation happens to be Buddhi, Ahaṁkāra and Manas but in objective grasp they function in reverse order, that is, Manas, Ahaṁkāra and Buddhi but as a composite functionary.[53] The view is supported by Abhinavan appropriation of the principal-subordinate relationship doctrine advocated by Sāṁkhya in relation to the internal organs vis-a-vis external sense organs. According to Sāṁkhya the former is principal and the latter is subordinate which serves the cause of the former i.e. *antaḥkaraṇa*.[54] Abhinavagupta, however, extends the application of *dvāradvāribhāva* even among the three internal organs as we noted above. In fact Abhinavagupta visualizes a homology that obtains between hieararchization of the constitutive powers of the limited subject with reference to the subjective functioning and different aspects of *antaḥkaraṇa*. Abhinavagupta, however, seems to say that though this order is fixed yet it may vary from subject to subject.[55]

Maheśvarānanda thinks of a metaphor and likens *antaḥkaraṇa* with large waves, *Jñānendriyas* with waves and *Karmendriyas* with sub-waves or ripples.[56] In so doing he comes out with a novel explanation. The three internal instruments are the individual subject's most conducive senses (sense-organs).[57] Maheśvarānanda makes two points here. First, inner organs or internal instruments subserve the purpose of the subject/ agent. Two, karaṇa is rendered in terms of sense-organs i.e., *indriya*. That is, the three *antaḥkaraṇas* happen to be *indriyas* of the limited subject at par with the external organs. This view again is not in agreement with the

51. अन्तःकरणेन (and not अन्तःकरणैः) सङ्कल्पिताभिमतनिश्चितरूपाः। *IPV, II,* p. 242; also see *IPVV,* III, p.304 : अन्तःकरणेन सङ्कल्पनाभिमननिश्चयनपर्यन्ततां नीताः।
52. Yogarāja's *Vivṛti* on *Paramārthasāra* (PS) of Abhinavagupta, ed. J.C.Chaterji, Srinagar, 1961, p. 51.
53. See note 51.
54. सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि।। – *SK 35*
55. अन्तःकरणस्य अपितु परस्परं द्वारद्वारिभावे नियतः क्रमो यथैव कालकलादीनां प्रभातृभावोपगमने यतोऽत्र अभिष्वङ्गः (रागकृतः), ततो वेदनम्, ततः करणम्, यतो वा वेदनकरणे, ततोऽत्र रागः इत्यादेः प्रमातृदेशकालादिभेदनक्रमस्य विचित्रत्वात्। – *IPVV, III,* p. 301
56. एतानि हि हृदयमहाम्बुराशौ महातरङ्गाः। ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि तु तरङ्गानुतरङ्गन्यायमनुवर्तन्त इत्यर्थः। – *MMP,* p. 61
57. प्रमातृरूपस्य कर्तुः साधकतमानि इन्द्रियाणि विद्यन्ते। – *ibid*

known Sāṁkhya position on the matter. The Sāṁkhya holds only *manas* to be an *indriya* besides being *karaṇa*, whereas Buddhi and Ahaṁkāra are no doubt instruments, but not *indriyas*. The reason accorded is that the common orgin of Jñānendriyas alongwith Manas from *sāttvika ahaṁkāra* offers a criterion for treating Manas to be an *indriya*. Etymologically that which is one's distinctive sign or mark is called *indriya*. But Manas is not an *indriya* in this sense because in that case it will overlap on Ahaṁkāra and Buddhi as well.[58] But Kashmir Śaivism has no problem in taking all the internal organs as being mark or sign of the individual self. For him the "most efficaciousness" *(sādhakatamatā)* towards subjective purpose consists in extracting this-ness from objects and refurbishing them with I-ness *(ahaṁtā)*.[59] "Extracting thisness" means letting internal experience of the externally apprehended objects take place and "offering of I-ness" means helping the external object realize its self-luminous essence so as to enable it to become fit to discover its identity as a subject through the self-reflected subjective awareness. Maheśvarānanda names it as a "technique of sacralization" (*pāvanīkaraṇa-yukti*). It is like making a medicine sacred by uttering a mantra or mantra-empowering *(abhimantraṇa)* a prescribed medicine[60]

Among the internal organs *Buddhi* is first to emanate from *Prakṛti*. Śaivas make a subtle departure from Sāṁkhya that they trace emanation of Buddhi to *guṇas* and not to *Prakṛti*.[61] Guṇas they equate with the agitated Prakṛti , but this is a cosmogonical issue and we may better leave it at this point of time. Absolutely translucent, owing to its genesis from *sattva*, Buddhi receives reflection of both, the subjective light of the self-

---

58. असाधारणव्यापारयोगिनौ यथा महदहंकारौ नेन्द्रियम् एवं मनोऽप्यसाधारणव्यापारयोगि नेन्द्रियं भवितुमर्हति इत्यत आह। [.....] सात्त्विकाहंकारोपादानत्वं च साधर्म्यम्, न त्विन्द्रलिङ्गत्वम्, महदहंकारयोरप्यात्मलिङ्गत्वेनात्मत्वप्रसंगात्। तस्मात् व्युत्पत्तिमात्रमिन्द्रलिङ्गत्वम्, न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्। *STK,* p. 196

59. कल्लोलायमानानि सदा हृदयाम्बुनिधौ त्रीणि करणानि।
आकर्षन्तीदन्तां तत्राहन्तां चात्रार्पयन्ति।। *MM 20*

60. अहंकारादीन्यात्मनोऽन्तःकरणानि न केवलं बहिरवलोकितान् विषयानन्तर् अनुभावयन्ति, किं तर्हि स्वसंक्रान्त्या प्रमातृचिच्छक्त्या तं बहिर्वर्तिनम् अखिलमपि वेद्यवर्गं विषयीभावयोग्यतानुप्रवेशार्थं प्रकाशमानस्वभावतापादनात्मकपावनीकरणयुक्त्या जिघत्सितौषधाद्यभिमन्त्रणन्यायेनानुगृह्णन्ति इति। *MMP,* p. 61

61. गुणेभ्यो बुद्धितत्त्वम्...। *TA* 9/227; 'ततो गुणान्...।' *MVT,* KSS edition, 1/30

luminous self and the object.[62] It may be noted, as aptly pointed out by Pandey, that *Puruṣa* here refers to the subject's individuated self unlike Sāṁkhya's pure *Puruṣa*. The reflection of *Puruṣa* is stated to be because of its immediacy. As a *karaṇa*, Buddhi receives reflection of the external objects through external sense-faculties as in the case of perception and without the intervention of the sense-organs as in the case of imagination, fancy or dream. In the latter event the external object is instantly produced on its own.[63] Thus the mode of *Buddhi (vṛtti)* which is nothing but the capacity to bear the objective reflection transpires as *bodha* that manifests or illuminates the object.[64] The difficulty is as to how *Buddhi*, which is an evolute of the (primordial) matter and as such is insentient, is able to manifest the object. The answer lies in *Buddhi's* synchronous ability to offer a base for the expression of subjective consciousness. It is by virtue of *Buddhi's* innate capacity to act as a locus for the reflection of the light of self-luminous consciousness that the modal apprehension *(vṛttyātmā bodhaḥ)*, though inert, acquires capacity to illuminate or manifest the object.[65] Jayaratha, therefore, deftly implies a fine distinction between the two instances of reflection. In receiving reflection of the object Buddhi only "bears" *(pratibimbasahiṣṇutā)* it because of its structural materiality, whereas in reflecting subjective consciousness it constitutes the "locus of reflection" *(pratibimbādhāra)*.[66]

The word *bodha* has been used as a synonym for *adhyavasāya* or *avasāya*[67] and appears to have been identified with *niścaya* in Kashmir Śaiva circles.[68] But as Ram Shanker Bhattacharya points out elsewhere

---

62. यत्र पुंप्रकाशो विषयश्च प्रतिबिम्बमर्पयतः। – *TS.* p. 77
63. विषयप्रतिबिंबं च तस्यामक्षकृतं बहिः।
अतदद्वारं समुत्प्रेक्षाप्रतिभादिषु तादृशी।। – *TA* 9/228
Jayaratha clarifies : तत्राद्यं प्रत्यक्षादौ, अन्यच्च उत्प्रेक्षादौ, आदिशब्दात् स्वप्नादि। अत्र हि स्वयमुपस्थापित एवाऽर्थोऽस्याः परिस्फुरेदिति भावः। – *TAV,* IV, p. 1817
The word 'स्वयम्' is somewhat vague. Because, as well shall see later, dream objects are projected by *manas,* not by *buddhi.*
64. वेद्यप्रतिबिम्बसहिष्णुतालक्षणा वृत्तिः बुद्धेर्विषयावभासको बोधो भवेत्। – *TAV,* IV, p. 1817
65. आत्मसंविदभिव्यक्तिस्थानत्वात् हेतोरस्या वृत्त्यात्मा बोधो जडोऽपि [.....] विषयप्रकाशनाय समर्थः। – *ibid*
66. आत्मसंविदः पुंबोधस्य (प्रकाशस्य) [.....] प्रतिबिम्बाधार इत्यर्थः। – *ibid.*
67. बोधः शब्दादेर्विषयस्य अध्यवसायः। – *ibid,* p. 1823
68. vide अन्तःकरणेन सङ्कल्पनाभिमनननिश्चयनपर्यन्ततां नीताः। – *IPVV,* III, p.304; अन्तःकरणेन सङ्कल्पिताभिमतनिश्चितरूपाः। – *IPV,* II, p. 242

that it is not *niścaya* (determination) we are used to understand in ordinary usage, but a sort of generalized, non-specific objective perception.[69] This is what Abhinavagupta wants to say when he defines Buddhi as "of the nature of ascertainment-in-general"[70] which is grasping the object as non-specific "this"[71] and not such and such.

In its aspect as a cause *(karaṇaskandhatayā)* Buddhi gives rise to Ahaṁkāra (ego-sense) as *abhimāna* that is attributing the functions of Buddhi etc. to oneself i.e., the individuated self. Both the aspects of Buddhi which is the focal point of the manifestation of the light of the individuated self and whose characteristic function of receiving reflection of the object are always grasped as belonging to 'I' taking the form 'I do',[72] 'I know'. The agency that is responsible for the imposition of the self or subject on the functions of Buddhi is said to be *Ahaṁkāra*.[73]

The extra-ordinary function of *ahaṁkāra* is called *saṁrambha* vṛtti which consists in controlling and prompting five vital airs and thereby the principle of life itself.[74]

The notion of Ahaṁkāra carries added significance in Kashmir Śaivism. The nature of supreme self, as it is "self", is defined in terms of "I-ness" or "selfhood" (*ahaṁtā* or *ahaṁbhāva*) which is further figuratively paraphrased as 'resting of the self within the self.' Now Ahaṁkāra as a *karaṇa* and immediate evolute of *Buddhi* is different from *ahaṁbhāva*. *Ahaṁ* denotes freedom of pure consciousness whereas *Ahaṁkāra* is *saṁraṁbha-vṛtti* i.e., attribution of ego-feeling where it does

69. ''यह अध्यवसाय लोकसिद्ध 'निश्चय' मात्र नहीं है। [.....] वैषयिक क्रिया इन्द्रियवाहित होकर जहाँ ज्ञानरूप से प्रकाशित होती है वह बुद्धि है, (आन्तर विषय मन द्वारा वाहित होकर बुद्धि में प्रकाशित होते हैं)। यह 'विषय-प्रकाशन' निर्विशेष विषयप्रकाश है।'' – *STK,* p. 175
70. बुद्धिरध्यवसायसामान्यमात्ररूपा। – *IPV,* II, p. 241
71. अध्यवसाय: आभिमुख्येन ''इदम्'' इति ज्ञानम्। – *Bhās.,* II, p. 241
72. ....धीतोऽप्यहंकृतम्। – *MVT 1/30*
73. बुद्धेरहंकृत् तादृक्षे प्रतिबिम्बितपुंस्कृते:।
प्रकाशे वेद्यकलुषे यदहंमननात्मता।। – *TA* 9/230
74. एवमहंकृत: संरम्भात्मिकया वृत्त्या प्राणादीनां प्रेरणम् अप्रेरणं च कार्यं, येन सर्वेषां जीवनं मरणं वा स्यात्। – *TAV,* IV, p. 1819; also cp.
तया पञ्चविधश्चैष वायु:संरम्भरूपया।
प्रेरितो जीवनाय स्यादन्यथा मरणं भवेत्।। – *TA* 9/231

not belong and is enshrined in the inert *Buddhi* which is of the nature of not-self.[75] Former is therefore hailed as spontaneous, whereas the latter is artificial.[76] The latter operates in the world of shared realities divided into subject and object etc. and superimposes I-hood on both, whereas in the case of former it is beyond the realm of *Buddhi* and has no counterpositive to be contradistinguised from.[77]

We have considered *Ahaṁkāra's* role as an instrument (*karaṇa*) but its role as cause (*kāraṇaskandha*) or source of sense-organs renders it all the more important, more so because it impacts and accounts for the kind of instrumentality they tend to exhibit in relation to the objectivity they come in contact with. *Ahaṁkāra's* causality is threefold rooted in the constituent three Guṇas – *sattva, rajas* and *tamas.*[78] In the model scheme of Sāṁkhya *Manas, Jñānendriyas* and *Karmendriyas* evolve from the *sāttvika ahaṁkāra*, whereas *rājasa* helps promote evolution of both of them. In the ancient literature these three are more commonly known as *vaikṛta, taijasa* and *bhūtādi* respectively. In the *Tantrāloka,* however, Abhinavagupta takes a different line. His first choice seems to trace origin/emergence of Manas and sense faculties to the sattva-dominated ahaṁkāra.[79] However, later he shows his allegiance[80] to the *Mālinī-vijaya*

---

75. अस्याः अहंकृतेः शुद्धस्वात्ममयात् स्वात्मविश्रान्तिसतत्त्वात्, स्वरसोदिताद् अहंभावादियान् विशेषो यदियं जडायाम् अनात्मरूपायां बुद्धौ अभिनिविष्टा। – *TAV,* IV, p. 1809

76. अतएव विशुद्धात्मस्वातन्त्र्याहंस्वभावतः।
अकृत्रिमादिदं त्वन्यदित्युक्तं कृतिशब्दतः।। – *TA* 9/232

77. Commenting on Abhinavagupta's ग्राह्यग्राहकाभिमानरूपोऽहंकारः (IPV, II, p.241) Bhāskara observes : ग्राह्यग्राहकाभिमानः "इदं मम ग्राह्यम्", "अहमत्र ग्राहकः" इत्येवंरूपः अभिमानः न तु बुद्धौ उदिता प्रतियोगिरहिता अहन्ता। – Bhās, II, p. 241

78. त्रिधास्य प्रकृतिस्कन्धः सात्त्वराजसतामसः।। – *TA* 9/233
Sāṁkhya view is represented by Abhinavagupta in the *Tantrāloka* as under :
मनोबुद्ध्यक्षकर्माक्षवर्गस्तन्मात्रवर्गकः।।
इत्यत्र राजसांहकृद्योगः संश्लेषको द्वये। – TA 9/272-273

79. सत्त्वप्रधानाहंकाराद्भोक्त्रंशस्पर्शिनः स्फुटम्।
मनोबुद्ध्यक्षषट्कं तु जातं..............।। – *TA* 9/234

80. श्रीपूर्वशास्त्रे तु मनो राजसात् सात्त्विकात् पुनः।।
इन्द्रियाणि समस्तानि युक्तं चैतद्विभाति नः। – *TA* 9/276-77

tantra[81] according to which *sāttvika*, i.e. *vaikārika* in the traditional terminology, gives rise to all the external senses (i.e. sensory and motor). Likewise, *rājasa ahaṁkāra*, called *taijasa*, is source of Manas while *tāmasa* gives rise to Tanmātrās. But this stand of the *Mālinīvijayottara-tantra*, which was held in great esteem by Trika philosophers as the *Śrīpurvaśāstra*, was vulnerable to several interpretations. Abhinavagupta refers to two differing interpretations. The view mentioned above represented one line of interpretation.[82] The other line of interpretation came by transposing the meaning of the two terms. *Taijasa*, on this interpretation, stood for *sāttvika* and *vaikārika* for *rājasa*.[83] On this view Manas originated from *sāttvika*, and *Jñānendriyas* and *Karmendriyas* from *rājasa*. In both the views *tanmātrās* proceeded form *tāmasa*, by implication. The great Śaiva Siddhāntin, Saddyojyoti, put up another interpretation and traced Karmendriyas to *rājasa, Jñānendriyas* and *Manas* to sāttvika and *tanmātrās* and mahabhutas to tāmasa.[84] Abhinava finally gets out of this ambivalence by upholding *taijasa* as *rājasa* and *vaikārika* as *sāttvika* and thereby holding that Manas was the product of *rājasa ahaṁkāra* whereas all the senses, irrespective of their division into sensory and motor, emanated from *sāttvika*.[85] But ambivalence does not seem coming to an end. What is intriguing that he adopts a different tune

---

81. तत्त्रिधा तैजसात् तस्मान्मनोऽक्षेशमजायत्।
वैकारिकात् ततोऽक्षाणि तन्मात्राणि तृतीयकात्।। – *MVT* 1/31

82. अन्ये त्वाहुर्मनो जातं राजसाहंकृतेर्यतः।। – *TA 9/273*
This view accords with the second alternavtive interpretation in the *TS*, p. 78. This was perhaps also the line Kumāradeva, another great Śaiva Siddhāntin, took in his *Tattvaprakāśa*.

83. अन्ये तु सात्त्विकात् स्वान्तं बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि तु।।
राजसाद्ग्राहकग्राह्यभागस्पर्शीनि मन्वते। – *TA 9/274-75*
This view accords with the third view in the *TS*, p. 78 : अन्ये तु सात्त्विकात् मनो राजसाच्च इन्द्रियाणि इति।

84. खेटपालास्तु मन्यन्ते कर्मेन्द्रियगणः स्फुटम्।।
राजसाहंकृतेर्जातो रजसः कर्मता यतः। ibid. 275-276
Also cp. *TSam.*, verse 7 and Aghoraśivācārya's commentary on it (vide *AP*, p.118).

85. श्रीपूर्वशास्त्रे तु मनो राजसात् सात्त्विकात्पुनः।।
इन्द्रियाणि समस्तानि युक्तं चैतद्विभाति नः।। – *TA 9/276-277*

in the *Tantrasāra*.[86] Accordingly Manas and *Jñānendriyas* have their source in *sāttvika ahaṁkāra*. However, in the case of Manas, *sāttvika ahaṁkāra* is qualified by *tāmasa ahaṁkāra*. *Karmendriyas* too evolve from the same source except that in this case, *sāttvika ahaṁkāra* is qualified by the upsurge of the *tanmātrā* element. As to the Abhinavagupta's definite view, one may have to explore further since the two *Vimarśinīs* are also of no help.

One way of steering clear through the two discordant stands taken by Abhinavagupta himself seems to restrict his interpretation of the *Mālinīvijayottara Tantra* to the *Mālinīvijayottara* itself and take it as his final position in the scriptural exegesis, but go by the stand he took earlier in the *Tantrāloka* (TA 9/234)[87] propounding rise of *Manas* and Jñānendriyas from *sāttvika ahaṁkāra* as a representative position of the system. This accords with the stand taken by him in the *Tantrasāra*. But the only difficulty is that in the *Tantrāloka* at this juncture he does not disclose his view about the source of *Karmendriyas*. Another difficulty is that it would be very daring on the part of Abhinavagupta to deviate from the position, which the source text *Mālinīvijayottara* is said to have had on the strength of his own interpretation. For the time being we proceed with the view that appears to be the general approach of the system and where the two texts – *Tantrāloka and Tantrasāra* – conform to one another: i.e. Manas and all the senses have their source in *sāttvika ahaṁkāra*.

Coming to Manas we have already seen that it is a product of Ahaṁkāra where the *sattva* predominates. Reading Abhinavagupta together with Maheśvarānanda we had occasion to note that Manas happens to be instrumental to *saṁkalpana* and *vikalpana*.[88] Yogarāja adds *manana*, "reflection", to this list of functions.[89] What is the exact meaning

86. प्रकृतिस्कन्धस्तु तस्यैव त्रिविधः सत्त्वादिभेदात्। यत्र सात्त्विको यस्मात् मनश्च बुद्धीन्द्रियपञ्चकं च, तत्र मनसि जन्ये सर्वतन्मात्रजननसामर्थ्ययुक्तः स जनकः। [.....] उद्रिक्ततन्मात्रभागविशिष्टात् तु सात्त्विकादेव अहंकारात् कर्मेन्द्रियपञ्चकम्। – *TS,* p. 77

87. सत्त्वप्रधानाहंकाराद्भोक्त्रंशस्पर्शिनः स्फुटम्।
मनोबुद्ध्यक्षषट्कं तु जातं भेदस्तु कथ्यते।।

88. सङ्कल्पादिकारणं मनः। – *IPV, II,* p. 241

89. संकल्पनं मननम्। – Yogarāja on *PS* 19, p. 51. A modern commentator of the PS, DN Shastri explains *manana* thus : विविधानां नामरूपाणां मननाद् संकल्पनसामर्थ्याद्वा मन इत्युच्यते। – *PS,* Jammu edition, pp. 35-36

of the word is not clear except that it must express a meaning which ought to be cognate with *saṁkalpa*. In this context we find two terms used by Abhinavagupta, namely, *anuvyavasāya*[90] "reformulating/retrospecting," and *antaryojana* "internal organizing or synthesizing" which seem to be quite close to *manana* or *saṁkalpana-vikalpana*. We propose to discuss these notions a little later. In the Sāṁkhya texts, *saṁkalpana* is depicted as "proper construing" that is "determinate anlysis of the qualifying attributes and the qualified."[91] By contrasting it with the generalized non-specific ascertainment (*adhyavasāyasāmānya*) one may get a clearer idea of the function of Manas.

Kashmir Śaiva philosophers intend to hammer out two important implications when they state that Manas and five sense-faculties are the products of *sattva*-dominated *ahaṁkāra*. First, *sattva* because of its inherent capacity to receive the subjective reflection, in a sense, imbibes subjective ambience (*bhoktraṁśasparśin*).[92] Being an off-shoot of the *sattva*-dominated *ahaṁkāra, Manas* and *Jñānendriyas* too inherit affinity with the subject. Second, the word 'dominated' (in *sattva-dominated*) implies subdued presence of *rajas* and *tamas* marking cooperative functioning of *Manas* and *Jñānendriyas*.[93]

A question arises, when Manas is at par with five *Jñānendriyas* because of its common origin from *sāttvika ahaṁkāra*, why is it that Manas grasps all objects (*sarvaviṣaya*), whereas other Jñānendriyas grasp their earmarked respective objects (*niyataviṣaya*) alone? This question has been raised in Sāṁkhya also. It is why Vyasa, in his *Yoga-bhāṣya* describes manas as '*sarvārtha*' i.e., which has objects of all the senses for its objects.[94] We are not aware of the explanation offered by Sāṁkhya, but Abhinavagupta does try to find an answer. This he sees happening because of their having common origin. Owing to their mutually

90. मन एव हि [.....] अर्थमनुव्यवस्यन् [.....] । – *TAV, IV,* p. 1859

91. 'इदमेवम्, नैवम्' इति सम्यक्कल्पयति विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयति। – *STK,* p. 195

92. सत्त्वप्रधानाहंकाराद्भोक्त्रंशस्पर्शिनः स्फुटम्। – *TA* 9/234

Cf. Jayarathā : स्फुटं भोक्त्रंशस्पर्शिन इति साक्षात् तत्स्वरूपप्रत्यवमर्शात्मकत्वादहंप्रत्ययस्य। – *TAV, IV,* p. 1821

93. प्रधानेत्यनेन एषामन्योन्यमिथुनवृत्तित्वात् गुणभूतयोः रजस्तमसोरपि सद्भावो दर्शितः। – *ibid*

94. [.....] एकादशं मनः सर्वार्थम्। – *Yoga-bhāṣya* on YS 2/19, *Pātañjālayogadarśanam (PYD),* Hariharānanda Āraṇya, ed. R. S. Bhattacharya, Delhi, 1987, p. 203

interdependent functioning, *Ahaṁkāra* and *Manas* reach out to all objects. Besides, *sāttvika ahaṁkāra*, qualified by *tamas* and *rajas*, causes Manas take on some element of subjectivity thereby becoming knower or grasper (*grāhaka/bhoktā*) in respect of all objects. In the same manner *tāmasa ahaṁkāra*, qualified by *sattva* and *rajas*, is the genesis of all *tanmātrās* constituting objects of knowing (*grāhya*). Since both the subject and object (*grāhaka and grāhya*) have common source (internally differentiated only on the basis of *guṇa*-predominance), Manas is capable of covering all objects.[95] Jayaratha, drawing support from an unidentified source,[96] arrives at two logical deductions: (a) All these are functionally interdependent, work in cohesion and have ubiquitous reach, and (2) As all *tanmātrās* originate from *Ahaṁkāra*, Manas is led to assume the mantle of the subject, and the sounds etc. that of the object.[97] In case of Jñānendriyas Abhinavagupta again goes back to their origin. According to him as against the "property of being the producer of all objects-in-general" (*tanmātrakartṛtvavaiśiṣṭya*) which is the driver of *Manas*, the *Jñānendriyas* are driven by the "property of being the producer of a specific object-in-general" or, in other words, the "property of functioning in a specific objective mode" *(tattadvṛttivaiśiṣṭya)* of Ahaṁkāra is what that drives the particular cognitive sense. In both situations it is the specialized modality of the production from *Ahaṁkāra* which spells their definite respective character.[98]

According to Abhinavagupta the definitive function of Manas may be precisely conceptualized as "inner synthecizing" or "internal organizing" (*antaryojana*).[99] As against all the external senses, whether sensory or motor, whose function is essentially external and consists of their capacity to have sensation or indeterminate apprehension, the exclusive function of Manas remains internal. This perhaps explains why

---

95. मनो यत्सर्वविषयं तेनात्र प्रविवक्षितम्।
सर्वतन्मात्रकर्तृत्वं विशेषणमहंकृतेः।। – *TA* 9/235

96. अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः। – quoted, *TAV, IV*, p. 1822

97. एवं यस्मात् मनसः सर्वविषयत्वम्, अत इदं ज्ञायते यदहंकृतः सर्वतन्मात्रकारणत्वं, येन मनसः शब्दादीनां च ग्राह्यग्राहकभावो भवेत्। – *ibid*

98. Cf. यत्र सात्त्विको यस्मात् मनश्च बुद्धीन्द्रियपञ्चकं च, तत्र मनसि जन्ये सर्वतन्मात्रजननसामर्थ्ययुक्तः स जनकः। श्रोत्रे तु शब्दजननसामर्थ्यविशिष्ट इति, यावद् घ्राणे गन्धजननयोग्यतायुक्तः। – *TS*, p. 77

99. [.....] शक्तिरन्तर्योजने मनसः पुनः। – *TA* 9/278

Manas is reckoned to be part of the internal instrument. This inner functioning is formulated in terms of "configuring, organizing (*antaryojana*)" which is grounded on duality-unity relationship.[100] Jayaratha has this illustration. Suppose somebody speaks a word in the wake of sensation or indeterminate perception by *Jñānendriyas*, this synthesizing construction that "I speak" or "I am speaking" is an activity which relates to two discrete moments which, in themselves, are indeterminate. But the moment the two are related through the unifying subjective substratum identified with the level of *Buddhi*, etc. the statements such as 'I speak' represent the first determinate action after the indeterminate sensory grasp.[101] 'Thus I who first had immediate experience of sound, am speaking (a word, sentence)', is indicative of mental or inner synthesis. This is what one understands by *antaryojana*. Even an analysis of the statement i.e., 'I speak' (*ahaṁ vacmi*) conveys that the "word" which is the object of "I speak" first descends from I, the doer, to the sphere of the object "word" being connected by the activity "speak" distinguishing the speaker from the dumb. The element of determinacy in the speech-act is a sort of mental function of the empirical or mayic subject owing to its determinacy.

Abhinavagupta's formulation is inspired by his grand teacher Utpala Deva who maintains that "Manas, reacting (on what has been received through external senses) produces the mental constructs such as action which rest on unity and multiplicity and are primarily due to the activity of the subject".[102] This also follows that the determinate process begins with the selection by *Manas* of some parts out of the mass reflected on *Buddhi*.[103] Thus all dependent categories such as action, relation etc

---

100. इयांन्स्तु विशेष: यत् बुद्धीन्द्रियेषु आलोचनानुपाती वचनादिरूप: क्रियांश: परिस्फुरति स सर्व एव बुद्ध्यादिप्रमातृविश्रान्तिसतत्त्वो भेदाभेदमयसंबंधमूलोऽन्तर्योजनात्मा मनसो व्यापार:। – *TAV, IV*, p. 1858

101. तेन 'वच्म्यहं' इत्यादौ संभवत: प्रमातु: प्रथमविकल्पतया वचनादिविषयस्य शब्दादे: कर्त्रंशस्पर्शावरोहेण कार्यांशस्पर्शोद्रेकादीषत्परिस्फुरणं नाम कर्मेन्द्रियाणां मुख्या वृत्ति:, येनाऽस्य मूकादिवैलक्षण्यं स्यात्; वचनादिक्रिया तु वैकल्पिकतया मायाप्रमातु: मानस एव व्यापार:। – *ibid*

102. तदद्वयालम्बना एता मनोऽनुव्यवसायि सत्।
करोति मातृव्यापारमयी: कर्मादिकल्पना:।। – *IPK* 2/2/3 (tr. Pandey's)

103. तस्मात् प्रमातुर्यो व्यापार: एकानेकत्वयोजनात्मा स एव प्रकृतो। यत्र तादृशी: क्रियादिकल्पना एकानेकवस्तुविषया [.....] मन एव करोति। – *IPV, II*, pp. 40-41; See *Abhinavagupta : An Historical Study* (Abhi.), KC Pandey, Varanasi, 1963, p. 408

are based on one-many phenomenon and in that sense they are all mental (*mānasī*).

As we are going to see, the distinctive function of Jñānendriyas is said to be *ālocana*, "indeterminate perceiving". Why then, a question naturally arises, a jar is selected to the exclusion of the rest of the presentation. The answer Kashmir Śaivist proffers is that it is because on that part alone of the whole presentation that the mind has acted.[104] This acting of Manas is named as *anuvyavasāya* which is identical with the notion of *antaryojana* and is used in a sense different from the Naiyāyika's. This involves the residual traces of the previous indeterminate experience which becomes part of the personality of the subject of the determinate experience and as such is carried through the process till the determinate knowledge has reached its conclusion. The three stages are thus *vyavasāya* (i.e., *ālocana*) by the senses, *anuvyavasāya* by Manas and *niścaya* by Buddhi.[105] The precise function of Manas is to evaluate and sort out the inputs from the senses and forward them duly evaluated to Buddhi for final conclusion. This is what constitutes the emperical subjectivity.

A question of enormous importance haunts us at this juncture: Is the relationship that Manas has with both classes of the senses – i.e., cognitive and motor – the same or different? Although the question has not been framed in this form in the Pratyabhijñā circles, they seem to be aware of the problem. What precise answer they would have, is a matter to be worked out. But it may be said that in the case of Jñānendriyas Manas interacts with the indeterminate mass of sensations, whereas in the case of Karmendriyas it interacts with the first determinate activity, because motor activity invariably arises in the wake of indeterminate apprehension,[106] though being determinate it is always mental.[107]

---

104. *Ibid.*

105. मन एव हि कल्पनानन्तरं चक्षुरादिव्यवसितमपि अर्थमनुव्यवस्यन् निश्चयदशामधिशाययत् तदेकानेकरूपं द्वयमवलम्बमाना एताः क्रियादिकल्पनाः कुर्यात् एतावत्येव च मायाप्रमातुः प्रमातृत्वम्। – *TAV, IV,* p. 1859. Also see *IPV,* II, pp. 40-41, 57-58.

106. यत् बुद्धीन्द्रियेषु आलोचनानुपाती वचनादिरूपः क्रियांशः परिस्फुरति.....। वचनादिक्रिया तु वैकल्पिकतया मायाप्रमातुः मानस एव व्यापारः। – *TAV, IV,* p. 1857-58

107. Here it will be only proper to go back to the Sāṁkhya concept of *saṁkalpana*. Hariharānanda Āraṇya says in his *Jyotiṣmatī* commentary on *Y.Bh.* : "मनः

The external sense organs, specially the sensory ones, are the most important visible components of the microcosmic instrumentality represented by a human being. In the empirical world of shared realities perceptibility of an object by the external sense distinguishes individual subjects and at the same time ensures common meeting ground of all the percipients.[108] Because of the full participation by the external senses the perception of the individual subject does not encounter any impediment, there is clarity and continuity and hence it is common to all subjects.[109] No doubt there is a psychological inner world of every human being and also a metempirical order of the pure subjects but their visibility is obscured as if accessible only to the inner organs and thereby lacking fitness for the worldly transactions.[110] Likewise the privation of knowledge concomitant with misapprehension, lack of apprehension or epistemic error or even common optical illusions all are offshoots of the non-participation or incomplete participation of the external senses.

Kashmir Śaivism incorporates several general premises of Sāṁkhya, of course with different systemic implications, in this regard. These are not mere physical faculties, they are much more, having not only psychological but even spiritual dimensions. They are conceived as powers of the individual. Both these features apply to motor faculties as well. Coming closer to own turf, the sense- faculties of cognition are manifestation of *Aśuddha Vidyā* (the subjective power of knowledge), and

---

संकल्पकमिन्द्रियम्'' (सां०का० २७) अर्थात् मन विषय का संकल्पकारी है। सम्यक्कल्पन अर्थात् ग्रहण, चेष्टा तथा धारण संकल्प है। इच्छापूर्वक ज्ञेयादि विषयों का व्यवहार ही संकल्प है।'' PYD, p. 209; similarly R. S. Bhattacharya's explanation comes quite close to the Śaiva position despite fundamental differences : ''विशेष्यविशेषणभाव (= धर्मधर्मिभाव) से कल्पना करना संकल्प है यह वाचस्पति कहते हैं। हमारी दृष्टि में संकल्प का यह एक स्थूल रूप है। [.....] स्मृति की सहायता से अतीतज्ञान के साथ वर्तमान ज्ञान का संयोजन करना मुख्य संकल्प है।'' – STK, p. 199

108. प्रमात्रन्तरसाधारणत्वाकांक्षी बहिरिन्द्रियवेद्यत्वात्मस्वरूपान्तरापत्तिलक्षणं क्रमं यतोऽपेक्षते। – *IPVV, II,* p. 261

109. यत्र तु बाह्याक्षविषयं सर्वप्रमातृसाधारणत्वं च निश्चयानुवृत्त्या [.....] परमार्थत्वेन चकास्ति। – *IPVV, II,* p. 268

110. अस्मदाद्यन्तःकरणवेद्यभावराशिसदृशं ध्यामलप्रायम् [.....] । – *IPVV, III,* p. 264; न तु बहिः स्फुरन्तोऽत एव असाधारणतया प्रत्येकं निजनिजया संविदा वेद्यास्तत एव च साधारण्याभावेन अव्यवहार्यतया ध्यामलत्वेन [.....] । – *ibid.,* p. 267

the motor faculties that of *Kalā* (the subjective power of agency) both belonging to the individualized self. These will be discussed on the appropriate occasion.

Kashmir Śaivism shows more liking for the term *buddhīndriya vis-a-vis jñanendriya*.[111] the apparent reason appears to be that jñana is far more extensive term and goes much beyond Buddhi, in the categorial hierarchy envisaged in the system. In the *Vivṛti*, as quoted by Abhinavagupta, Utpaladeva restricts the instrumental role of the cognitive sense-organs to *buddhibodha*, that is, knowledge as caused by *Buddhi* (i.e., *buddhigatabodha*).[112] Abhinavagupta defines *buddhīndriya* as one which is useful (*upayogi*) in the knowledge of object-specific (such as sound) determination.[113] What does this word *upayogi* ("useful") denote, is nowhere explained. By appropriating the terse Sāṁkhya terminology in the *Īśvarapratyabhijñā-Vivṛti-Vimarśinī*, as far as understood by us, Abhinavagupta seems to take it as being useful (i.e. instrumental) to the knowing object such as smell etc., which are transformations of Buddhi.[114] As *karaṇa* the only function that has been attributed to the senses of cognition is *ālocana* (sensation/indeterminate perception).[115] Since no other *upayoga* is in sight, we take it as being useful in *ālocana* (perception characterised by immediacy). Adding a bit of metaphorical flavour Maheśvarānanda likens these sense organs with lamps because of their profuse illuminating power. Illumination lies in being instrumental to grasping of the specific objects such as sound, touch, colour, taste and smell respectively.[116]

---

111. The use of jñānendriyas is not completely ruled out. They have been so termed because of the predominance of jñāna. See *MMP*.62, Nonetheless a marked preference for *buddhīndriya* is there.

112. ''बुद्धिबोधोपयोगितया''। – *I.P.Vivṛti* quoted in *IPVV, III,* p. 300

113. बुद्धौ शब्दाध्यवसायरूपायाम् उपयोगीनि बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च। – *IPV, II,* p. 241

114. 'करणत्वेन च' इति करणत्वयोगिवेद्यत्वेन। 'बुद्धिपरिणामादि' इति बुद्धेर्गन्धादिरूपपरिणामोपयोगीनि बुद्धीन्द्रियाणि [.....]। – *IPVV, II,* p. 295
We have no clue as to whether this is a statement of the Śaiva because Utpala's original *Vivṛti,* on which it is commentary by Abhinavagupta, is now practically lost.

115. बुद्धीन्द्रियैरालोचिताः। – *IPV, II,* p. 242; *IPVV,* III, p. 304; बुद्धीन्द्रियाणाम् आलोचनं वृत्तिरित्युक्तम्। – *TAV,* IV, p. 1857

116. ज्ञानप्रधानानाम् इन्द्रियाणां प्रकाशकत्वप्रकर्षेण प्रदीपप्रायाणां [.....]। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां ग्राह्याणां क्रमेण ग्रहणोपकरणत्वमेषां लक्षणम्। – *MMP,* p. 62

The term *ālocana* in the context is a legacy from Sāṁkhya. While quoting *Sāṁkhya-Kārikā 27*[117] which according to Vācaspati discusses the exclusive function (*asādhāraṇī vṛtti*) of the cognitive sense organs, Abhinavagupta gets a chance to examine the very basis of naming them as *buddhīndriya*. Asks he, why these be not called *ālocanendriya* instead of *buddhīndriya* or *jñanendriya*[118] and replies that they are so called because they happen to be conducive to the occasioning of knowledge by *buddhi*. He goes on to explain: because the objective knowledge is effected by virtue of the senses having determinate knowledge for their essence, they are named *buddhīndriya*.[119] Even if this argument be conceded, the senses are totally beyond cognitive reach for the three reasons, namely that (i) they have unique identity constituted by their exclusive functionality in the first place, (ii) they are the products of *ahaṁkāra* in the second place, and (iii) they are the powers of the inner self in the third place. How could then we conclude that determinate knowledge constitutes their essence.[120] Kashmir Śaivism too does not subscribe to their *adhyavsāya*-character in or because of these forms. Instead, they acquire the *adhyavasāya*-character because of their modification into or assumption of the forms of their specific objects. Having transformed themselves into objective form, they enter *buddhi* and deposit objective form in *buddhi*, thereby they become instrumental to and identical with the determinate perception.[121] It is *bodha* (determinate knowledge) that vouches for their utility in our daily transactions and not *ālocana*.[122] Though *ālocana* still remains seminal to the completion of *bodha*, it is not the ground enough to designate it as *ālocanendriya* in preference to *buddhīndriya*. Echoing Utpaladeva, Abhinavagupta firmly believes that *ālocana* extends upto determinate knowledge defining *buddhi* but not upto culmination into subject

117. रूपादिषु पञ्चानाम् (आलोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः)।
118. इति आलोचनेन्द्रियता उचिता, न बुद्धीन्द्रियता [.....]। – *IPVV*, III, p. 62
119. 'बुद्धिबोधोपयोगितया' [.....] इन्द्रियाणामध्यवसायात्मतया यतो विषयबोधो निष्पद्यते, ततो बुद्धीन्द्रियता। – *ibid.*
120. ननु तानि स्वालक्षण्येन आहङ्कारिकत्वसामान्येन प्रत्यगात्मनः शक्तिरूपत्वेन चेति सर्वात्मना परोक्षाणि, तत् कथम् अध्यवसायात्मकता एषाम्। सत्यम् अमीभिः प्रकारैरेवमेव। – *ibid*
121. किन्तु स्वविषयाकारैः परिणतानि सन्ति बुद्ध्यामनुप्रविष्टानि तदाकारतां बुद्धावर्पयन्ति, तेन विषयाकारतापरिणामेन अध्यवसायमयानि भवन्ति, न तु स्वालक्षण्यादिरूपत्रयेण। – *ibid.*
122. स एव च एषां लोकयात्रोपयोगी, न तु तत्। – *ibid.*

(*pramātṛviśrānti*).[123] It may be noted that the percept "I have known the object" occurs only after it comes to rest in the subject. Thus, for Abhinavagupta *adhyavasāya* constitutes the outmost fringe of objective ascertainment.[124] Hence, concludes Abhinavagupta, designating sense-organs as *buddhīndriya* agrees with both, determinate knowledge (*addhyavasaya* = *svarūpa* = essential nature) and *ālocana* (*darśana* = viewing = exclusive function of the sense organ).[125]

A word of caution will be in place here. The assumption of specific objective forms by the senses (*svaviṣayākārapariṇāma*) is what is understood by the word *ālocana* and what constitutes the sole mode in which the distinctive sensory function is presented. This is occasioned by the inherent power of the external senses. This is precisely the point where Kashmir Śaivist departs from Sāṁkhya. In Sāṁkhya it is psychosis, *buddhivṛtti* – modal transformation of intellect, here it is the functioning mode of the senses i.e., *akṣavṛtti*, that grasps the object.[126] The empirical knowledge or perception (*jñana*) is defined as that light of consciousness when it is limited by senses which perceive only what is clear, and by clearly figuring external object.[127] Apart from environmental factors this clarity in large part stems from the structural affinity between a particular sense and its object. The idea of *ālocana* comes under special focus from another angle also. Abhinavagupta distinguishes between the powers of individual subject such as *kalā*, *kāla* etc., and the powers called "senses". Both "touch" the object, former universally and the latter particularly as specific object of knowledge.[128] Here "touch" is obviously not a tactile

---

123. ननु च आलोचनमेव इयति मूलमिति कस्मात् न व्यपदेशः। अत्र आह ''आलोचनमात्रेण'' इति बुद्ध्यवसायपर्यन्ततामागच्छता। तेन बुद्धो मम अयमर्थः इति न प्रमातृविश्रान्तिः तस्यां तु सत्यां सा भवतीति। – *ibid,* cp. बुद्धीन्द्रियैरालोचिताः, अन्तःकरणेन संकल्पनाभिमननिश्चयनपर्यन्ततां नीताः। – *ibid,* p. 304
124. बुद्ध्या विषयेण च विषयत्वपर्यन्तभाजा (नियन्त्रितं संवित्तत्वं) अध्यवसायो निश्चयः। – *IPV*, I, p.282; Bhāskara is very emphatic : विषयत्वस्य भावगतस्य विषयभावस्य यः पर्यन्तस्तं भजतीति तादृशो ततः परं हि भावस्य विषयीभावो नास्तीति भावः। – *Bhās,* I, p. 282
125. एतत्स्वरूप–दर्शनयोरपि संमतम्। – *IPVV,* III, p. 300
126. तथा हि बाह्यवृत्तीनाम् अक्षाणां वृत्तिभासने आलोचने शक्तिः। – *TAV,* IV, p. 1857
127. यद् इन्द्रियेण स्फुटग्राहिणा बाह्येन विषयेण च नियन्त्रितं संवित्तत्त्वं तत् ज्ञानम्। – *IPV,* I, p. 282. My interpretation is influenced by Pandey's. Cf. *IPV,* III, p. 80.
128. यद्यपि कालादिशक्तयोऽपि ग्राह्यं स्पृशन्ति, तथापि सामान्यत एव न विशेषतः। बुद्धिकर्मेन्द्रियशक्तयस्तु ज्ञेयतया कार्यतया च विशेषत एव ग्राह्यं स्पृशन्ति, इति शब्दादिपदस्य आशयः। – *IPVV,* III, p. 271

proposition. Then what it is, let us explore. Perhaps that will make the idea of *indriyavṛtti*, "sensory function," clearer.

ālocana, prakāśana and *avabhāsana* – these are cognate words, not only semantically, but etymologically and conceptually as well. The primary function of the sense organ is to receive reflections of the external objects, that is the reflecting constitutes *vṛtti* of the senses. Reflecting is essentially an act of manifesting or illuminating the object. As an end-product, manifesting depends upon the inner organs which "grace" the sense and sense which in turn "graces" the object and, as a process, it is the other way round where the object is graced by the sense and which, likewise, is graced by the inner organs.[129] Simply put, immediacy or indeterminacy of perception (*ālocana*) is nothing but the reflection of the object received by the sense. In this respect, not only optical sense organ but, for that matter, all the cognitive sense organs receive the reflections of their specific external objects.[130]

Kashmir Śaivism clearly maintains distinction between the physical and the psychological. As such the optical sense is different from eye-balls. The reflective process consists of three tiers relating, as it does, (as for example in the case of visual perception) to retina, sense of vision and intellect. All the three receive reflection of the object. However the image on retina is different from the image on the optical sense. Similarly, the latter i.e., the image on the optical sense (for that matter any sense organ) is different from the one on Buddhi. While former is the cause, latter is the effect, one is physical and the other is psychological.[131] Therefore any statement about the illumination of an object is an assertion of its image on the sense.

---

129. इह अवभासनमात्रसारमेव प्रतिबिम्बसतत्त्वमित्युक्तं बहुशः। अवभासनञ्च तत्तद्विषयग्राहकेन्द्रियानुग्राहकान्तःकरणायत्तम्। – *TAV,* II, pp.47-48; In *IPVV,1,* p. 168. Abhinava makes it still clearer by identifying inner sense as *adhiṣṭhāna* (locus) : ०अनुग्राहकान्तःकरणाधिष्ठानायत्तम्।

130. [.....] प्रतिबिम्बनमर्हति।
शब्दो नभसि सानन्दे स्पर्शधामनि सुन्दरः।।
स्पर्शोऽन्योऽपि दृढाघातशूलकुन्तादिकोद्भवः।
परस्थः प्रतिबिम्बत्वात् स्वदेहोद्धूलनाकरः।।
एवं घ्राणान्तरे गन्धो रसो दन्तोदके स्फुटः। – *TA* 3/35-36

131. Vide *Abhi.*, p. 404

When a perception occurs, the process that takes place is somewhat like this. First a person confronts an object. The internal organ is the promoter or driver that sets the appropriate sense to work.[132] The sense, then, comes in touch with its object which is nothing but the reflection of the external object on the sense-organ and receives its reflection.[133] This physical image is then illumined by the light of consciousness and casts its reflection through that light on Buddhi. This illumination by the subjective light is termed as the reflection of the individual knowing self.[134] Now we are in a purely psychological realm. This results into indeterminate knowledge i.e., the consciousness of the light of knowledge having been affected. It is called indeterminate knowledge, because it is not possible to say at this stage as to what exactly is the cause of the affection of the pure light of knowledge."[135]

Thus it will be a misnomer to treat these senses as physical. Abhinavagupta enters into long polemic with the Naiyāyikas[136] and cites five reasons to counter and reject the physicality of the sense organs.[137] Since this discussion is not germane to our present treatment we leave it here. As pointed out earlier the exclusivity and determination of the

---

132. अतोऽन्तिकस्थस्वतादृगिन्द्रियप्रयोजनान्तःकरणैर्यदा कृता।
तदा तदात्तं प्रतिबिम्बमिन्द्रिये स्वकां सूयत एव तादृशीम्।। – *TA 3/41*

133. यथा च रूपं प्रतिबिम्बितं दृशोर्न चक्षुषाऽन्येन विना हि लक्ष्यते।
तथा रसस्पर्शनसौरभादिकं न लक्ष्यतेऽक्षेण विना स्थितं त्वपि। – *ibid.*3/39

Jayaratha adds : ततश्च दृशोः दृगिन्द्रियाधिष्ठयोर्गोलकयोः प्रतिसंक्रान्तं रूपम्, अन्येन अन्यसंबंधिना चक्षुरिन्द्रियेण बिना नाभिलक्ष्यते, चक्षुरिन्द्रियान्तरव्यापारमन्तरेण न निर्भासत इत्यर्थः। – TAV, II, p. 400

134. At this point it might be worthwhile to look into an important observation by Abhinavagupta. The objects are primary driver or prompters of the sense-functioning (external as well as internal) which is impossible to achieve without the active involvement of the appropriate subject. The six sheaths *(kañcukas)* that include *kalā* and *vidyā* turn out to be the instrument for channelizing the subjective involvement :

शब्दादय एव स्थूलत्वेन प्रमेयीभूताः स्वोपलब्धिकरणसंपादकबुद्धिकर्मेन्द्रियतत्संकल्पादिसिद्धौ प्रयोजकीभवन्ति। तदुपलम्भादेव च एतदुचितप्रमातृलाभे तत्प्रमात्रुपकरणकञ्चुकषट्कादिसिद्धिरिति ते एव सर्वत्र प्राणाः। – ई.प्र.वि.वि., २, पृ. १४८

135. *Abhi.,* p. 405

136. एषां विषयेषु नियमात् यद् भौतिकत्वमपि अन्यैरुक्तं तदलमस्तु। – *TAV,* IV, p. 1828

137. Vide *ibid,* p. 1828-29

objective field of each sense is accounted for in terms of its rise from the ego-sense as qualified by the respective functional modalities.[138] In stead of *bhautika* they could best be described as *āhaṁkārika*.[139] It is why, as noted by Maheśvarānanda, even when there is no bodily effort these

138. तत्तद्वृत्तिविशिष्टाहंकारजन्यतयैव विषयनियमस्य सिद्धत्वात् हेतोः। – *ibid.*
Like their counterparts in the other philosophical traditions, Kashmir Śaivists also talk of *indriya-niyama* and *viṣaya-niyama*. Though essentially serving the identical purpose, the former pertains to the object-specific functional modality of the senses and the latter to the specificity of resulting sensory perceptions or sensations. We may also alternatively say that the first relates to the definitive nature of the respective senses, whereas the second to the determination of the objective content of the cognition. The rule that governs this order or classification could be understood in one of the three ways - e.g. (i) in terms of causation or cosmological causation, (ii) in terms of fitness, or (iii) in terms of definitional limit or extent. The first alternative draws out notice to the fact that every sense has a definite element (*mahābhūta*) as its material cause. The essential property of this material cause(element) would form the object of this sense. This alternative has variant also which consists in progressively incremental objective field occasioned by the gradual addition of the essential property of the successive element (स्थूलं कार्यं पृथिवी, आपः तेजो, वायुः, नभः इति पञ्चभूतानि। सूक्ष्ममेषामेव रूपं गन्धो, रसो, रूपं, स्पर्शः, शब्दः इति। तत्रैकैकगुणम् आकाशादि, एकैकवृद्धगुणं वा इति दर्शनभेदः। – ई.प्र.वि., २, पृ. २४२) In this case the stock example is that of colour forming the specific object of the visual or optical perception. This is thoroughly causal in the sense that the colour element is the material cause of the sense of vision and sense of vision is the cause of visual perception. The second alternative emphasizes the fitness component of a sense. An eye is fit to generate knowledge of colour or form alone and none else. The third alternative, similarly, defines or sets limit or extent to the precise reach of a sense in respect of its object. Had it not been so, each sense could reach out to any or every object destroying the very basis of fivefold functional division of sense-faculties and thereby the fivefold division of ensuing cognitions : [.....] इति इन्द्रियनियमो हीयेत। स हि त्रिविधः प्रसिद्धः। इन्द्रियबलात् ज्ञानस्य कार्यस्य नियमः चक्षुर्जनितं हि ज्ञानं रूपस्य एव प्रकाश इति। इन्द्रियस्य च नियमो योग्यतात्मा येन नयनं रूपज्ञानमेव जनयति न अन्यदिति। इन्द्रियाणां च नियम इयत्ता षडिन्द्रियाणि इत्यादि [.....] । इन्द्रियाणां स्वभावे नियमाभावात् तज्ज्ञानानां च विषयनियमाभावात् चक्षुर्ज्ञानस्य सर्वविषयाभासनसामर्थ्यादनेकेन्द्रियकल्पना व्यर्था। – *IPVV*, I, p. 230. The obvious casuality of the absence of *indriya-niyama* would be that there would be no blind or deaf on earth : इन्द्रियनियमाभावे च अन्धाद्यभावप्रसङ्गः, एकदा च अवलोकितविषयस्य तद्विषयतदनुभवनाशेऽपि तत्स्फुटीभावप्रसङ्गः इति न किंचित् कस्यचित् नष्टं स्यादिति। – *ibid*, p.231. In Kashmir Śaivism *viṣaya-niyama* means that the sensory objective field is not conceived purely as physical but as a product of ego-sense characterised by the specific sensorial modality.

139. भौतिकमपि न युक्तम् 'अहं श्रृणोमि' इत्यनुगमाच्च स्फुटम् आहंकारिकत्वम्। – *TS*, p. 77

sense organs are capable of grasping their objects.[140] Identifying particular organs with particular senses and designating them accordingly is simply to recognize their marked congeniality and proneness towards respective objects.[141]

In Kashmir Śaivism a lot of attention has been paid to the several ancillary issues which have some bearing on *Jñānendriyas*. We propose to have a brief overview and make certain passing references. Both internal and external instruments as well as their objects are part of categorial hierarchy comprising thirtysix categories from Śiva to Earth in descending order. Although this category-world represents two parallel lines of creation of subjective and objective, intrinsically it is objective in character by definition, by virtue of its being a category. These categories fall under three groups i.e., pure, pure-impure and impure, belonging as they do to the corresponding orders of creation. Closely running parallel to them are three groups of their subjects. A tabular view may be presented as under:

Subjects		**Categories**	
From *Śāmbhava* to *Mantra*	Pure 5 Subjects	*Śiva* to *Śuddhāvidyā*	Pure order 5 Categories
Vijñānākala/ Vidyeśvara	Pure-impure 1 subject	*Māyā* *Kalā* to *Niyati* five subjective powers	pure-impure 6 categories
Pralayākala *Sakala*	Impure 2 subjects	*Puruṣa* to *Pṛthvī*	Impure order 25 categories

According to Kashmir Śaivism the gross *karaṇas* (three internal organs, five sense organs and five motor organs) and *kāryas* (five existential essences i.e. Tanmātrās and five Mahābhūtas) they all belong to Sakala Pramātṛs alone. It is they who constitute the transmigratory[142]

140. तत्र ज्ञानप्रधानं सच्चक्षुराद्युपपादितम् ।
कायप्रवृत्त्यभावेऽपि विषयग्रहणक्षमम्।। – *MMP*, p. 63

141. [.....] ये निजनिजास्तत्तदसाधारणगोला: श्रवणशष्कुल्यादय:, तदग्रेषु बहिर्विषयौन्मुख्यानुगुणेषु प्रदेशेषु [.....] स्फुरत्तयाऽवस्थानमिति। – *ibid*, p. 62

142. इह विद्येश्वरविज्ञानाकलास्तावन्न भविनो मायान्ताध्वातिक्रमणात्; प्रलयाकला अपि केचित्कालम-विद्यमानभवा:। ये त्वेते मायातत्त्वान्तरालपरिवर्तिनो [.....] सर्वे भविन: संसारिण: [.....]।

phenomenal world. This is mayic or empirical world. Kashmir Śaivism agrees with the Sāṁkhya dictum that *ālocana* is the gateway (*dvāra*) through which we get access to *antaḥkaraṇa* (*dvārin*) and confines them to the realm of *Māyā* i.e., the realm of empirical beings.[143] In this māyic world they are also known as *deha-pramātā*. *Prāṇa-pramātā*, *buddhi-pramātā* and *śūnya-pramātā* are the sub-types of *pralayākalā*. From pralayākala onwards there is no gross body or sense. *Buddhipramātā* and *prāṇapramātā* mark the initial stages of *sūnyapramātā*, boasting generalized sensation in which *Jñānendriyas* have no role, though Buddhi continues to persist as inner organ.[144]

There are two aspects of the senses: (i) internal and (ii) external. The driving power of the vital airs is the internal *vṛtti* common to both, sense organs and motor organs. The external *vṛtti* of Jñānendriyas is *ālocana*. The former is also called *jīvana* i.e., life. When *ahaṁtā* concentrates on *prāṇa* it constitutes *puryaṣṭaka*, "the subtle body". There are two views about the intrinsic constitution of *puryaṣṭaka*. Accordingly, the respective components may be either

(i) 5 vital airs + group of 5 sense-organs + group of 5 motor organs + Buddhi, or

(ii) 5 Tanmātrās + Manas + Buddhi + Ahaṁkāra

The first variety belongs to the Pratyabhijñā school. The second variety is related to the Spanda system. However it is the first type where the Jñānendriyas have a role to play, howsoever insignificant. Buddhi too is operative, but Manas and Ahaṁkāra are totally out of the picture. This represents the consensual view of Kashmir Śaivism.

A discussion about the subjects naturally invites a reference to the experiential states. Out of the five (Kashmir Śaivism admits a state beyond *turya*, the fourth, also corresponding to the absolutic state of Parama Śiva) states, Jñānendriyas are fully operative only in the wakeful state. As against deep sleep (*suṣupta*), which is devoid of the patent objectivity, the

---

तनुकरणविषयसंबंध एव च वर्तमानो भविष्यंश्च, इत्यनवरतं प्रबन्धतो वर्तमानः संसरणमुच्यते। – *IPV*, II, pp. 254-255

143. स्थूलदेहेन्द्रियात्मकार्यकरणवियोगरूपत्वं तु प्रलयाकललक्षणं सर्वेषां तुल्यम्। – *IPV*, II, pp. 253

144. अन्ये तु बुध्यादिनिष्ठाः सुखदुःखावशेषसामान्यात्मकभिन्नवेद्यसंवेदनयोगिनः सवेद्यसौषुप्तपदभाजः। – *IPV*, II, p. 252

gross objectivity is fully manifest in the wakeful and sleeping states.[145] However, in sleep or dream state the physical role of sense-organs is virtually nil. The external senses remain shut or inactive in the sleeping person eliminating physical activity. Hence Manas alone grasps the objects as vividly as if they were the objects of the external senses.[146] Because of the non-participation of the external senses, the dream world represents extraordinary mental creation and its perception remains closed to other percipients.[147] This restricts the role of ego-sense and intellect also. So determinate perception (*niścaya*) is there, but not its continuity (*niścayānuvṛtti*) and conformation to the external objects.

But the wakeful state which is a full-blooded state of empirical existence is not only replete with objective vividity in perception, it also boasts of shared and common reality, an open participatory world for all the percipients.[148] This is because of the uncontradicted, unsublated operation of the external senses with full cooperation of the internal organs. There is clarity, continuity of determinate perception and hence it is common to all subjects.[149] Such a view also prompts Kashmir Śaivist to treat wakeful state as a symbol of relative continuity of perception. The wakeful state lasts only so long as there is continuity of certainty in regard to reality of existence of external objects. When the continuity of consciousness of certainty is broken it becomes a dream state.[150]

The unique strength of Kashmir Śaivism lies in its valuation as a great esoteric discipline, a deep aesthetic spirituality, besides having a life-affirming philosophical world view. There are broadly three contexts of the system – ontological, cosmological and personal.[151] *Ontologically*

145. नन्वेवं स्फुटवेद्यपदविनिर्मुक्ता सुषुप्तावस्थास्तु, स्वप्नजाग्रद्दशयोस्तु स्फुटवेद्यावभासयोगिन्यो: को भेद:। – *IPV*, II, p. 265
146. मनोमात्रपथेऽप्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात्।
स्पष्टावभासा भावानां सृष्टि: स्वप्नपदं मतम्।। – *IPK* 3/2/16
147. एवमिन्द्रियाविषयत्वेनैवासाधारणत्वमाक्षिप्तम्। – *IPV*, II, p. 267
148. सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतया स्थिरा।
सृष्टि: साधारणी सर्वप्रमातृणां स जागर:।। – *IPK* 3/2/17
149. यत्र तु बाह्याक्षविषयं सर्वप्रमातृसाधारणत्वं च निश्चयानुवृत्त्या बाधारहितया परमार्थत्वेन चकास्ति, तत एव स्थैर्यं विषयस्य सा सृष्टि: पशो: जागर: तद्विषयं प्रमातृत्वं जागरावस्था। – *IPK*, II, p. 267
150. यावच्चानुवृत्तिस्थैर्यं निश्चयस्य चकास्ति तावज्जागर:। – *ibid.*
151. Also see *Body and Cosmology in Kashmir Śaivism*, Gavin D. Flood, USA, 1993, p. 19

reality, that is, Parama Śiva is an integral harmony of self-luminosity and self-referring consciousness, technically known as *prakāśa* and *vimarśa*. *Cosmologically* the two streams of creation – represented by Cosmic Time and Space or Word and Meaning (*deśādhvan/kālādhvan* or *śabdādhvan/arthādhvan*) parallel one another vertically and horizontally – of which categorial ecclecticism is a vital component informed by Śiva and Śakti in a descending order of dispensing divinity or in an ascending order of actualizing the same. *Personally* the polarity between the individual body and the world of other bodies is replicated in I-this, subject-object configuration. All the three contexts are fused in the notion of human body endorsing and enforcing the homology between the microcosm (mind-body complex) and macrocosm. In this context Kashmir Śaivism envisages an extremely meaningful role for the senses, specially on the soteriological and epistemological considerations.

As we noted earlier that the senses have two forms – subtle and gross (*sūkṣma and sthūla*). In the subtle aspect they are the sense-powers (*indriyaśaktis*), that is, they are powers of Śiva , the Godhead, because He is the essence of the empirical subject. In gross aspect they are the powers of the individual subject.[152] Hence they are the particularized articulations of the power of I-conciousness (*ahaṁvimarśa*) and they constitutively belong to the realm of *Vimarśa*.[153] It is this latter aspect that has epistemological bearing and which is our main concern for the present.

---

152. अहं शब्दं जानामि करोमीति हि श्रोत्रवाक्शक्त्योस्तत्त्वम्। – *IPVV*, III, p. 271

153. अतएव आह ''विमर्शजातीय'' इति अहमिति विमर्शस्य विशेषरूपा एता: विमर्शस्य भगवत एव शक्तिरिति ''विमर्श एव देवस्य'' ...। – *ibid.*

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. *Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study,* **K.C.Pandey,** Chowkhamba Sanskrit Series, second revised edition, 1963

२. *Abhinavagupta's Philosophy of Revelation, Mālinīślokavārttika 1, 1-399,* **J. Hanneder,** Egbert Forsten, Groningen, 1998

३. *Abhinavā : Perspectives on Abhinavagupta, Essays in Memory of K.C.Pandey,* Ed. **Navjivan Rastogi** (forthcoming)

४. अभिनवगुप्त का तंत्रागमीय दर्शन, **नवजीवन रस्तोगी,** विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, २०१२

५. "अभिनवगुप्त का वाक्-तत्त्व विचार", **मीरा रस्तोगी,** अभिनवा में संगृहीत

६. "आगम-विमर्शः", म.म. **रामेश्वर झा,** हिन्दी अनु. **कमलेशदत्त त्रिपाठी,** *सन्मार्ग,* आगम विशेषांक, वाराणसी, १९८०

७. "Arguing from Sythesis to the Self : Utpala and Abhinavagupta Respond to Buddhist No-Self-ism", **अरिंदम चक्रवर्ती** (इलेक्ट्रॉनिक प्रति लेखक के सौजन्य से)।

८. *Argument and The Recognition of Śiva : The Philosophical Theology of Utpaladeva and Abhinavagupta,* **David Peter Lawrence,** Ph.D. dissertation, University of Chicago, 1992.

९. "Inherited Cognitions; *prasiddhi, āgama, pratibhā, śabdana* (Bhartṛhari, Utpaladeva, Abhinavagupta, Kumārila and Dharmakīrti in dialogue)", **Raffale Torella.** (इलेक्ट्रॉनिक प्रति लेखक के सौजन्य से)

१०. ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, उत्पल, अभिनवगुप्तकृत *विमर्शिनी* के साथ, सं. **मधुसूदन कौल,** २ भाग, का.सं.ग्र., श्रीनगर, १९१८-१९२१

११. ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका, उत्पल, अभिनवगुप्त कृत विमर्शिनी के साथ, भास्करकण्ठ कृत भास्करी से संवलित, सं.को.अ. **सुब्रह्मण्य अय्यर** एवं **कांतिचंद्र पाण्डेय,** (तृतीय खंड : अनुवाद, **कांतिचन्द्र** पांडेय), तीन खण्ड, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८६

१२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, अभिनवगुप्त, सं. **मधुसूदन कौल,** तीन भाग, का.सं.ग्र., श्रीनगर, १९३८-१९४१-१९४३

१३. *The Īśvarapratyabhijñākārikā of Utpaladeva with The Author's Vṛtti,* ed./tr. **Raffaele Torella,** Roma, 1994 (Delhi, 2002)

१४. "Utpalaeva's Īśvarapratyabhijñā-vivṛti, pt.V : self-awareness and yogic perception", **Raffaele Torella** (इलेक्ट्रॉनिक प्रति लेखक के सौजन्य से)।

१५. "On Bhartṛhari's Linguistic Insight", **B. K. Matilal,** *Sanskrit and Related Studies,* ed. **Bimal Krishan Matilal** and **Purusottma Bilimoria,** Sri Satguru Publication, Delhi, 1990

१६. काश्मीर की शैव संस्कृति में कुल और क्रम-मत, **नवजीवन रस्तोगी,** डी.के. प्रिंटवर्ल्ड, नई दिल्ली, २०११

१७. काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ, **नवजीवन रस्तोगी,** मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, २००२

१८. काश्मीर शैवदर्शन बृहत्कोष, व्या. **बलजिन्नाथ पंडित,** २ खंड, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, जम्मू, २००१-२००५

१९. *Kashmir Shaivism,* ***Kamalakar Mishra,*** Rudra Press, Cambridge-Massachusetts, 1993

२०. *Krama Monism of Kashmir : An Analytical Study,* Vol II, **Navjivan Rastogi,** being the second Part of the Ph.D. thesis submitted to Lucknow University, 1967 (अप्रकाशित)

२१. गीतार्थसंग्रह, श्रीमद्भगवद्गीता अभिनवगुप्तकृत गीतार्थसंग्रह सहित, सटिप्पणी सं. **लक्ष्मण रैना,** श्रीनगर, काश्मीर, १९३३

२२. चित्तानुबोधशास्त्र, भास्करकण्ठ, सं. **सुषमा पांडेय,** तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, १९९०

२३. *Die Gleichheit in der Uterschiedenheit* (सोमानंद की शिवदृष्टि के पंचम आह्निक का जर्मन भाषा में आलोचनात्मक अनुवाद, संपादन), **Birgit Mayer-König,** Peter Lang, Frankfurt, 1996

२४. तंत्रालोक, अभिनवगुप्त, जयरथकृत विवेक के साथ, सं. **आर. सी. द्विवेदी** एवं **नवजीवन रस्तोगी,** ८ खंड (प्रथम खंड : भूमिका, **नवजीवन रस्तोगी**), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८७

२५. दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, शंकर, स्वयंप्रकाश कृत तत्त्वसुधा एवं सुरेश्वराचार्य कृत मानसोल्लास के साथ, सं. **एन. एस. वेंकटनाथाचार्य,** ओरएंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर, १९७२

२६. *Dharmakirti's Theory of Inference,* **Rajendra Prasad,** Oxford University Press, New Delhi, 2002

२७. *Dharmakīrti's Pramāṇaviniścaya* chapter - 1 and 2, critical ed. **Ernst Steinkellner,** China Tibetology Publishing House, Austrain Academy of Sciences Press, Beijing-Vienna, 2007

२८. धर्मोत्तरप्रदीप, **पण्डित दुर्वेक मिश्र,** *न्यायबिन्दु और न्यायबिन्दुटीका* से समन्वित, सं. **दलसुखभाई मालवणिया,** काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९५५

२९. नाट्यशास्त्र ऑफ़ भरत मुनि, अभिनवगुप्त कृत अभिनवभारती के साथ, सं. **एम. रामकृष्ण कवि,** संशो. **के. रामास्वामी शास्त्री,** ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बडौदा, प्रथम भाग, द्वि.सं., १९५६

३०. *न्याय-बिन्दुटीका,* धर्मोत्तर, धर्मकीर्ति कृत न्यायबिन्दु के साथ, अनु./व्या. **श्रीनिवास शास्त्री,** साहित्य भंडार, मेरठ, १९७५

३१. न्यायवार्तिक, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र कृत न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका के साथ, सं. **राजेश्वरशास्त्री द्रविड,** चौखम्बा, वाराणसी, १९२५

३२. *पातंजल योगदर्शन* (पतंजलि का योगसूत्र), व्यास-भाष्य और **हरिहरानन्द आरण्य** कृत भाष्य के साथ, सं. **रामशंकर भट्टाचार्य,** मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८५

३३. प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमीमांसा, **गीता रस्तोगी,** लखनऊ विश्वविद्यालय में पीएच.डी. के लिए शोध प्रबन्ध, १९७७ (अप्रकाशित)

३४. प्रमाणकारिका, **हर्षनारायण,** अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद, लखनऊ, १९९५

३५. "प्रमाणमीमांसा : दार्शनिक चिन्तन का आरम्भबिन्दु", **सच्चिदानंद मिश्र,** उन्मीलन, वर्ष २३, अंक १, जनवरी-२००९

३६. प्रमाणवार्त्तिक, मनोरथनन्दी कृत वृत्ति के साथ, सं. **द्वारिकादास शास्त्री,** बौद्धभारती, वाराणसी, १९६८

३७. "The Plurality and Contingency of Knowledge and its Rectification According to Pratyabhijñā", **David P. Lawrence,** *अभिनवा* में संगृहीत

३८. *Buddhist Logic,* ***Th. Stcherbatsky,*** Dover, New York, two volumes, 1962

३९. *Buddhist Philosophy of Universal Flux,* ***Satkari Mookerjee,*** Motilal Banarsidass, Delhi, 1975

४०. *बौद्ध प्रमाण दर्शन,* **अम्बिकादत्त शर्मा,** विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, २००७

४१. *Bhartṛhari, **K.A.S. Iyer,** Poona,* 1969

४२. "भारतीय दर्शन के विकास में प्रस्तावित विभिन्न योजनाबद्धताओं की रूपरेखा", अवतारवादावलि, द्वितीय भाग, की भूमिका, सं. **गोस्वामी श्याम मनोहर,** श्रीवल्लभविद्यापीठ, कोल्हापुर, २००४

४३. "भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों का प्रस्थानमूलक वैशिष्ट्य", **अम्बिकादत्त शर्मा, नवजीवन रस्तोगी** कृत अभिनवगुप्त का तंत्रागमीय दर्शन की भूमिका, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, २०१२

४४. महर्षिकुलवैभवम्, **मधुसूदन ओझा**, राजस्थान, संवत् २०१३

४५. महानयप्रकाश, अज्ञात (संभवतः शिवानन्द द्वितीय कृत), सं. **के. साम्बशिव शास्त्री**, अनन्तशयनसंस्कृत ग्रन्थावलि, त्रिवेन्द्रम्, १९३७

४६. *महार्थमञ्जरी*, स्वोपज्ञ परिमल टीका के साथ, महेश्वरानन्द, सं. **व्रजवल्लभ द्विवेदी**, वाराणसी, १९९२

४७. *मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक*, **लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य**, राजकीय शाखा मुद्रायन्त्रालय, मैसूर, संवत् १९२५

४८. *मालिनीविजयवार्त्तिक*, अभिनवगुप्त, सं. **मधुसूदन कौल**, का.सं.ग्र., श्रीनगर-काश्मीर, १९२१

४९. *"The Mythico-ritual syntax of Omnipotence"*, **David P. Lawrence**, *Linguistic Traditions of Kashmir*, सं. मृणाल कौल और अशोक अक्लूजकर, डी.के.प्रिंट वर्ल्ड, दिल्ली, २००८

५०. मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, **शिवशंकर अवस्थी**, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६६

५१. "Recognition in Pratyabhinñā School : A Study in Epistemology", **Navjivan Rastogi**, ABORI (Diamond Jubilee Volume), Poona, 1977-78, pp 841-861

५२. *The Vākyapadīya of Bhartṛhari with the Vṛtti*, Chapter 1, Eng. tr. **K A Subramania Iyer**, Deccan College, Poona, 1965

५३. *The Vākyapadīya of Bhartṛhari*, Kāṇḍa II, with the commentary of Puṇyarāja and the ancient *Vṛtti*, **K. A. Subramania Iyer**, Motilal Banarsidass, Delhi, 1983

५४. वाक्यपदीयम्, भर्तृहरिः, स्वोपज्ञ वृत्ति व हरिवृषभ कृत पद्धति के साथ, सं. **को. अ. सुब्रह्मण्य अय्यर**, प्रथम भाग, डेक्कन कॉलेज, पूना, १९६५

५५. वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन, **श्रीनिवास शास्त्री**, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, १९६८

५६. विज्ञान-भैरव, भट्ट आनन्द कृत विज्ञान-कौमुदी सहित, सं. **मुकुन्दराम शास्त्री**, काश्मीर संस्कृतग्रन्थावलि, काश्मीर-श्रीनगर, १९९८ (विवृति और विज्ञानकौमुदी दोनों टीकाएं एक जिल्द में)

५७. शिवदृष्टि, सोमानंद, उत्पलकृत वृत्ति (पदसंगति) के साथ, सं. **मधुसूदन कौल**, का.सं.ग्र., श्रीनगर, १९३४

५८. सर्वदर्शनसंग्रह, सायण माधव, सं./व्या. **वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्कर**, भाण्डारकर प्राच्य–विद्या–संशोधन मंदिर, पूना, १९५१

५९. सिद्धित्रयी (अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, संबंधसिद्धि), उत्पलदेव कृत, सं. **मधुसूदन कौल,** का.सं.ग्र., श्रीनगर, १९२१

६०. स्तवचिन्तामणि, भट्टनारायण, क्षेमराज कृत विवृति के साथ, सं. **मुकुन्दराम शास्त्री**, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर–काश्मीर, १९१८

६१. स्पन्दकारिका, कल्लट और रामकण्ठ की विवृति के साथ, सं. **जे. सी. चटर्जी**, का.सं.ग्र., श्रीनगर, १९१३

६२. स्पन्दनिर्णय, क्षेमराज कृत स्पन्दकारिका की व्याख्या, सं. **मधुसूदन कौल**, का.सं.ग्र., १९२५

शब्दानुक्रमणिका

इ

शुद्धिपत्र

क्रम सं.	पृ. सं.	नीचे से पंक्ति संख्या	मुद्रित पाठ	शुद्ध पाठ
१	७ (आमुख)	२	special	Special
२	३	६	तं.चि.	त.चि.
३	३५	३	संवादित	संवादिता
४	४४	१६	प्रमाफल	प्रमाणफल
५	६२	४	०व्यागमिश्रणा	०व्यामिश्रणा
६	६५	७	क्रियाकारकसंबंध०	क्रियासंबंध०
७	८०	३१	अनुमिति	अनुमान
८	६१	६	–तदेव	–ई.प्र.वि.वि.
९	११७	६	०योजनामेव	०योजनमेव
१०	११७	८	२, पृ.२०१	३, पृ.२०६
११	१५२	३	तांल्लोक०	ताँल्लोक०
१२	१८१	२८	०नियन्त्रिता	०नियन्त्रितता
१३	१६०	२२	अवितत प्रमाताओं	अवितत अन्य प्रमाताओं
१४	२१२	३०	karaṇa०	kāraṇa०
१५	२१३	१६	ahaṁkāra	Ahaṁkāra
१६	२१४	३०	*Śrīpurva०*	*Śrīpūrva०*
१७	२१४	२१	mahabhutas	mahābhūtas
१८	२१६	३०	anlysis	analysis
१९	२१६	५	Jayarathā	Jayaratha
२०	२१६	२	*Pātañjāla०*	*Pātañjala०*
२१	२१८	२६	*Buddhi*, etc.	*Buddhi* etc.,
२२	२१८	२३	from I, the	from "I", the
२३	२१८	३	प्रकृतो। यत्र	प्रकृतो यत्र
२४	२१८	२	*IPV*, II, pp. 40-41	*IPV*, II, p. 45
२५	२१८	१	*Historical Study*	*Historical and Philosophical Study*
२६	२१६	५	pp. 40-41, 57-58	pp. 43, 45-46
२७	२२१	३४	the apparent	The apparent
२८	२२१	८	II, p. 295	III, p.295
२९	२२१	२४-२३	to the knowing object	to the knowing of an object
३०	२२१	२०-१६	(perception characterized by immediacy)	(sensation)
३१	२२५	११	driver	drivers
३२	२२८	३२	beings.[143]	beings.
३३	२२८	३०	*pralayākalā*	*pralayākala*
३४	२२८	२६	sense.	sense.[143]
३५	२३२	२६	"Utpalaeva's	"Utpaladeva's
३६	२४०	१६	वाक	वाक्
३७	२५६	८	योगिसंवित	योगिसंवित्

अतिरिक्त शुद्धिपत्र

क्रम सं.	पृ. सं.	नीचे से पंक्ति संख्या	मुद्रित पाठ	शुद्ध पाठ
१	३ (मंगलश्लोक)	५	संस्तुमः	स्तुमः
२	५४	१३	स्वलक्षण को	सामान्यलक्षण को
३	१०८	१	तदेव	ई.प्र.वि., १,

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर
अहमदाबाद